हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

डॉ० ओमप्रकाश

का

आलोचनात्मक साहित्य

१ आलोचना की ओर ३)

२ भावना और समीक्षा ४)

३ हिन्दी-अलंकार-साहित्य ६)

४ हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य ८)

हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य

लेखक

ओमप्रकाश

एम ए पी एच डी

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग

हंसराज कॉलेज, दिल्ली

१९५७

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा, दिल्ली

सहधर्मिणी
कैलाश
को

भूमिका

कलागत सौन्दर्य का विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में 'सौन्दर्य' शब्द के माध्यम से नहीं हुआ। काव्य-रस या रमणीयार्थ बोध का उल्लेख करते हुए काव्य-सौन्दर्य और उसके उपकरणों की आनुषंगिक चर्चा अवश्य मिलती है किन्तु वह समस्त चर्चा सौन्दर्य शब्द की अर्वाचीन व्याख्या से बहुत कुछ भिन्न है। आधुनिक युग के काव्यालोचन में सौन्दर्य को काव्य का जीवित मानकर उसका वैज्ञानिक पद्धति से गम्भीर विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ हो गया है। इस विवेचन का आधार अधिकांश में पाश्चात्य काव्यालोचन के सिद्धान्त हैं जो अफलातूं और अरस्तू से लेकर क्रोचे तक विविध रूपों में विकसित होते रहे हैं। अफलातूं ने 'दि ट्रू, दि गुड एंड दि ब्यूटिफुल' के रूप में जिस 'ब्यूटिफुल' का संकेत किया था वह सुन्दर की भूमिका में सामने आया और उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप का आख्यान प्रारम्भ हुआ। ईसा की उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' के रूप में जो सिद्धान्त-वाक्य बंगला भाषा से हिन्दी में आया वह भी कदाचित् पाश्चात्य मीमांसकों की विचारधारा से ही नहीं वरन् शब्दावली से भी प्रभावित था। फलतः सौन्दर्य के स्वरूप-चिन्तन के साथ समीक्षा का क्षेत्र भी उसी धारणा के आलोक में विकसित होना प्रारम्भ हो गया।

संस्कृत काव्यशास्त्र में वक्रोक्तिकार कुन्तक और पंडितराज जगन्नाथ ने अपने काव्य-लक्षणों में रमणीय तत्त्व का समावेश करके सौन्दर्य के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है। कुन्तक ने 'वक्रसौन्दर्यसमग्रता' कहकर वाक्यविन्यास में ही सौन्दर्य स्वीकार कर उसे काव्य संज्ञा देने का साहस किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' शब्द को काव्य सिद्ध करते हुए सौन्दर्य को रमणीय के भीतर समाविष्ट करने का चातुर्य प्रदर्शित किया है। किन्तु ये दोनों शब्द 'सौन्दर्य' की अर्वाचीन व्याख्या के न तो समकक्ष हैं और न सर्वथा उस व्यापक परिधि को घेरकर सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। कुन्तक ने 'वक्र सौन्दर्य समग्रता' के अन्तरंग और बहिरंग नामक दो भेद करके उसे व्यापक अवश्य बनाया है। अन्तरंग धर्म में सौभाग्य और बहिरंग में लावण्य धर्म की प्रतिष्ठा सौन्दर्य की ओर ही इंगित करनेवाली है किन्तु लावण्य का विवरण आधुनिक सौन्दर्य शब्द को सर्वतोभावेन समाविष्ट नहीं करता।

काव्य-सौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में रस या रमणीयार्थ की चिन्ता ही भारतीय साहित्य-साधना का प्रमुख आधार रहा है। अन्तर्मुखी चेतना के कारण भारतीय मनीषा में आभ्यन्तर रस-प्रतीति को ही प्रमुख स्थान प्राप्त होता रहा, सौन्दर्य को अलंकरण का बाह्य उपकरण मानकर काव्य-सर्वस्व के रूप में उसका वैसा वर्णन नहीं हुआ जैसा बहिर्मुखी चेतनाप्रधान पाश्चात्य देशों में हुआ। हमारे यहाँ काव्य के प्राण, रस या ध्वनि की व्याख्या पर ही विशेष ध्यान रहा, उसी में चिरन्तन सौन्दर्य की चिन्ता की गई

और उसी के विस्तार में अनुषंग रूप से बाह्य सौन्दर्य के उपकरणों का उल्लेख होता रहा।

सौन्दर्य शब्द का जैसा व्यापक प्रयोग आधुनिक युग में साहित्यशास्त्र में दृष्टिगत हो रहा है उसकी सीमाएँ निर्धारण करना कठिन है। सुन्दर वस्तुओं के साक्षात्कार से हृदय में जिस आह्लाद की अनुपम सृष्टि होती है वह शब्दों के माध्यम से व्यक्त होकर ही काव्य अभिधान प्राप्त करता है। इसी सौन्दर्यानुभूति से उत्पन्न आनन्द को काव्य में रस कहा जाता है। सुन्दर भाव या वस्तु आनन्दप्रद होने के कारण हमारी चेतन सत्ता का अंश बनकर हमारी कल्पना को उर्वर और स्मृति को उल्लसित करने में सहायक होते हैं। जब हम शब्दों द्वारा सौन्दर्यानुभूति का अंकन करने लगते हैं तभी अभिव्यंजनात्मक सौन्दर्य का एक रूप हमारे सामने आ जाता है। जर्मन दार्शनिक हीगेल ने शब्द को हमारी आत्मा के सबसे निकट ठहराया है। शब्द ही साहित्य है यह कहना भी एक सीमा तक अनुचित नहीं है, यह कथन अति व्याप्त हो सकता है, किन्तु अव्याप्त कथन इसे नहीं माना जा सकता। अतः साहित्यिक सौन्दर्य के पारखी को शब्द से ही अपनी जिज्ञासा प्रारम्भ करनी होती है।

सौन्दर्य के वस्तुगत या व्यक्तिगत होने की बात भी सौन्दर्य-विश्लेषण के प्रसंग में प्रायः उठती है किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में मैं उस प्रश्न के विवाद में नहीं जाना चाहता। जिस ग्रन्थ के सम्बन्ध में मुझे अपने विचार व्यक्त करने हैं उसका साक्षात् सम्बन्ध काव्य-सौन्दर्य की चरम सत्ता है, उसके स्वरूप की मीमांसा करना न तो ग्रन्थकार का उद्देश्य है और न उनकी सीमा मर्यादा ही में वह आता है। हमारी सौन्दर्यानुभूति, काव्य के प्रसंग में, किसी पार्थिव पदार्थ तक सीमित नहीं रहती, वह शब्दार्थ के माध्यम से भाव-जगत् की निधि बनकर हमें सौन्दर्य के पूर्ण विकसित रूप का दर्शन कराना चाहती है। अतः सौन्दर्य के प्रस्तुत प्रसंग में हम काव्य-सौष्ठव के विधायक अप्रस्तुत तत्त्वों पर ही विचार करना समीचीन समझते हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि काव्य में सौन्दर्य विधायक तत्त्वों की छानबीन करते हुए प्राचीनों ने रस और रमणीयत्व के बाद जिस उपकरण को सर्वाधिक उपादेयता स्थापित की वह अप्रस्तुत योजना या अलंकार है। 'हिन्दी काव्य और उनका सौन्दर्य' ग्रन्थ में इसी अप्रस्तुत काव्य-सौन्दर्य का गवेषणात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। लेखक के मत में काव्य की आत्मा तो उसकी भाववस्तु ही है किन्तु काव्य-परिच्छेद का भी अपना स्थान है और जब तक उसका यथावत् मूल्याङ्कन न किया जाय, काव्य-सौन्दर्य को ठीक-ठीक हृदयंगम करना सम्भव नहीं। अतः काव्य-सौन्दर्य का विश्लेषण करते समय उसके बाह्यरूप की किसी भी तरह उपेक्षा सम्भव नहीं है।

काव्य में सौन्दर्य का संधान करते समय जब केवल अप्रस्तुत योजना पर ही ध्यान दिया जाता है तब वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली दोनों के पार्थक्य की बात स्वतः सामने उपस्थित होती है। वर्णन-शैली और वर्णन-सामग्री को केशव ने क्रमशः विशिष्टालंकार और सामान्यालंकार नाम से व्यवहृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने वर्णन-सामग्री तक ही अपने अध्ययन को सीमित करके अभिव्यंजना शैली के सिद्धान्त

पक्ष को छोड़ दिया है। वर्णन-शैली और वर्णन-सामग्री में सापेक्षिक महत्त्व की स्वीकृति निश्चित रूप से स्थिर नहीं की जा सकती किन्तु इन दोनों का व्यतिरेक्य ही इस बात का निदर्शन है कि काव्य-मीमांसा में दोनों का अपना विशिष्ट स्थान है और इनमें से किसी भी एक का अध्ययन काव्य सौन्दर्य को उद्घाटित करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक ने वर्णन-सामग्री का अध्ययन करने में एक तर्क दिया है, उनका मत है कि "वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वैचित्र्यपूर्ण और सूचनात्मक होगा उतना वर्णन शैली का नहीं, क्योंकि वह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त है।" लेखक के तर्क में शक्ति है क्योंकि वह मूर्त्त ज्ञान का पोषक है किन्तु यह तर्क शैली के चमत्कार-जन्य मोहक आकर्षण को प्रच्छन्न नहीं कर सकता। शैली में भी वैविध्य और वैचित्र्य के लिए पूरा अवकाश रहता है अतः वैचित्र्याभाव के आरोप से उसे दबाया नहीं जा सकता। वर्णन-सामग्री में मांसल पक्ष की प्रधानता तथा देश-काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अध्ययन में सहायक होने के कारण उसका अनुशीलन अधिक व्यापक फलक पर सम्भव होता है। लेखक ने काव्य-सौन्दर्य के वर्णन-सामग्री पक्ष को चयन करते समय कदाचित् इसी आशय को अपने सामने रखा है। प्रस्तुत अध्ययन में वीरगाथाकाल से रीतिकालीन काव्य परम्परा तक की काव्य-सौन्दर्य विधायक वर्णन-सामग्री का पर्यालोचन किया गया है। प्रत्येक काल की परिस्थितियों का चित्रण करने के बाद, काल विशेष की सामूहिक चेतना के प्रेरक तत्त्वों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक काल के प्रतिनिधि कवियों की भावधारा का अवगाहन वर्णन-सामग्री के आधार पर सर्वथा नूतन शैली में हुआ है। केवल नूतन होने से ही कोई वस्तु ग्राह्य नहीं होती, उसकी गुणवत्ता का मापदंड मौलिकता के साथ उपयोगिता भी है। कहना न होगा कि इस कसौटी पर यह प्रबंध पूर्णरूपेण खरा उतरता है। अपने कथन की पुष्टि में प्रबंध से कतिपय प्रासंगिक अवतरणों को उदाहृत करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

"हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य" ग्रन्थ में लेखक ने वीरगाथाकाल से रीतिकाल तक के काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया है। वीरगाथाकालीन काव्य में नारी का चित्रण जिस रूप में हुआ है उसका वर्णन करते हुए लेखक ने उसके दो रूप स्थिर किए हैं, एक वीर माता का और दूसरी वीर पत्नी का। इन दोनों रूपों का बोध वर्णन-सामग्री के आधार पर किस प्रकार सम्भव है और वर्णन-सामग्री के अन्तराल में ये रूप कहाँ छिपे हुए हैं यही इस अध्ययन की विशेषता और मौलिकता है। इसी प्रकार वीर-काव्य-परम्परा पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव दिखाते हुए लेखक ने वर्णन-सामग्री द्वारा उस प्रभाव को स्थिर करने में अपने अनुशीलन की सार्थकता व्यक्त की है। अप्रस्तुत योजना में अलंकार-प्रयोग पर गहरे उतरकर विचार करने की शैली भी लेखक की प्रतिभा का अच्छा परिचय देती है। सूफी काव्य पर विचार करने समय कथा-परम्परा का प्रारम्भ और उस पर विदेशी प्रभाव की छानबीन वर्णन-सामग्री को ध्यान में रखकर की गई है। सूफी कवियों की वर्णन-सामग्री का आधार विशुद्ध भारतीय न होते हुए भी अलंकार चयन में भारतीयता का

पुट द्रष्टव्य है। लेखक ने इस प्रसंग में वर्णन-शैली पर भी यथास्थान दृष्टिपात किया है। सूफी कवियों में हेतूत्प्रेक्षा और प्रत्यनीक के प्रयोग का चमत्कार स्पष्ट करते हुए उसके आधार पर सूफी कवियों की मनोवृत्ति आँकने का प्रयत्न सर्वथा मौलिक एवं नवीन है।

निर्गुण काव्य की पृष्ठभूमि लेखक ने बड़ी भावुकतापूर्ण शैली से अंकित की है। निर्गुण भक्त कवियों की अप्रस्तुत योजना पर विचार करते हुए जिन उपकरणों का अन्वेषण किया है उनमें से अनेक गहरी सूझ-बूझ के द्योतक हैं। कबीर की वर्णन-सामग्री के आधार पर उनकी मनःस्थिति का अध्ययन कदाचित् पहली बार सामने आया है। नारी की निन्दा करनेवाले कबीर का मन घरेलू जीवन में कितना अनुरक्त था और चक्की-चूल्हे की दुनियाँ उन्हें कितनी भाती थी, यह उनकी वर्णन-सामग्री से भली भाँति आँका जा सकता है। उनकी वर्णन-सामग्री का समस्त सौन्दर्य इस दृश्यमान् जगत् से जुटाई हुई सामग्री में ही दृष्टिगत होता है। उनकी अप्रस्तुत योजना का आधार कल्पना या कवि-परिपाटी न होकर स्थूल जागतिक पदार्थ हैं। "कहीं अनाज फटकने का सूप है तो कहीं सायंकाल को खाने का चबैना है, कहीं वर्षा में न जलने वाली गीली लकड़ी है तो कहीं चींटी चावल ले जा रही है, कहीं गली-गली में गोरस मारा-मारा फिर रहा है तो कहीं मदिरा बड़े ठाठ से दुकान पर बिक रही है, कहीं तेल की बूँद पानी में फैली हुई है तो कहीं कुएँ में ही भाँग पड़ी है।" कहने का तात्पर्य यह कि कबीर आदि निर्गुण भक्तों की काव्य-सामग्री के आधार पर उनकी अन्तर्वृत्तियों का और उनके परिवेश का बहुत अच्छा अध्ययन सम्भव है। यदि इस प्रकार के अध्ययन को आधार बनाकर सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन किया जाय तो ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्वों का चयन सम्भव हो सकता है।

कृष्ण काव्य की वर्णन-सामग्री का अध्ययन लेखक ने विद्यापति से रसखान तक किया है। कृष्ण काव्य की सामग्री विलक्षण है। भक्त होने पर भी जीवन के भोगपक्ष का जैसा व्यापक वर्णन इन कवियों के काव्य में मिलता है उतना कदाचित् रीतिकालीन काव्य में भी उपलब्ध नहीं है। कारण स्पष्ट है; शृंगार के उन्नयन की दिशा में प्रवृत्त कृष्ण भक्त कवियों ने लौकिक-काम और भोग का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया वरन् लौकिक शृंगारिक चित्रों को ही उपासना मार्ग में स्वीकार कर अपने इष्टदेव को सब प्रकार की साज-सज्जा से सजाकर भक्तों के मनन-चिन्तन या भजन-पूजन के लिए अंकित किया था। फलतः उनकी वर्णन-सामग्री भक्ति और शृंगार दोनों कोटि के उपकरणों से उपेत होने के कारण अधिक समृद्ध बन गई। माधुर्य और प्रेम का वर्णन भी उनकी सामग्री को प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। वैयक्तिक जीवन में भक्त होने पर भी वे अपने इष्टदेव को सब प्रकार के भोग-विलास, वैभव और ऐश्वर्य से मंडित देखने के अभ्यासी थे। कृष्ण-भक्ति में निर्वेद या वैराग्य भावना का अभाव है फलतः उनकी वर्णन-सामग्री में इस प्रकार के तत्वों का समावेश नहीं हुआ। सूर और मीरा, रसखान और घनानन्द सभी आनन्द और उल्लास की अप्रस्तुत योजना करते हैं। उनके

उपमान, उनकी उत्प्रेक्षाएँ, उनके रूपक सभी जीवन के दृश्यपक्ष के साथ संयुक्त होकर जगत् का मांसल चित्र प्रस्तुत करने वाले हैं। कृष्ण-भक्ति-काव्य का सौन्दर्य व्रज के भक्ति सम्प्रदायों के कवियों में जितनी पूर्णता के साथ दृष्टिगत होता है उतना अन्य कवियों में नहीं है। गोस्वामी हितहरिवंश, व्यास, ध्रुवदास, श्रीभट्ट, स्वामी हरिदास, भगवत रसिक, सहचरि सुख, बहुरिव्यासदेव आदि कवियों की वर्णन-सामग्री इतनी समृद्ध है कि उसका अध्ययन भक्ति काव्य के अध्ययन में बड़ा सहायक सिद्ध होगा। लेखक ने प्रसिद्ध कवियों तक अपना अध्ययन सीमित रखा है अतः उपर्युक्त कवियों के काव्य-सौन्दर्य का पर्यवेक्षण नहीं हो सका।

राम काव्य के अध्ययन में तुलसी और केशव को प्रतिनिधि कवि के रूप में स्थान दिया गया है। तुलसी के विशाल साहित्य से विपुल वर्णन-सामग्री एकत्र कर उसका सौन्दर्य सामने लाया गया है। लेखक ने तुलसी के वैविध्य को ध्यान में रखकर सौन्दर्य के जो चित्र चयन किये हैं उनमें मानस और विनयपत्रिका का ही प्राधान्य है। केशवदास के अध्ययन में लेखक ने संस्कृत ग्रन्थों की छाया का आतिशय्य प्रदर्शित करके केशव के चमत्कार को एक तरह से समाप्त सा कर दिया है। केशव की प्रायः सभी सुन्दर सूक्तियों के पीछे संस्कृत-छाया का संधान जहाँ एक ओर लेखक के अध्ययन का द्योतक है वहाँ दूसरी ओर केशव की पाण्डित्यपूर्ण अपहरण प्रवृत्ति का भी परिचय देता है। केशव की वर्णन-सामग्री में सामाजिक जीवन की गहरी छाप है। उनकी वर्णन-सामग्री उनके अपने चारों ओर के वातावरण से एकत्र की हुई भोग्य-सामग्री है।

रीतिकालीन काव्य को लेखक ने 'शृंगार काव्य' का अभिधान देकर उसके स्वरूप का आख्यान शृंगार की निम्न भावना के आधार पर किया है। इस काल के समस्त काव्य को निर्जीव कह देना भी लेखक की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं है। उनके मत में इस काव्य में शृंगार न होकर शृंगार-रसाभास मात्र है। 'प्रेम, प्रीति या स्नेह के नाम पर मात्र कामाचार की लहरें ही इस काव्य का प्राण हैं। कामुकता का यह काव्य क्षणिक जीवन को सुख सदन में बहलाने का जब बार-बार प्रयास करता है तब उस मद्यप का सहसा स्मरण हो आता है जो अपने हताश एवं परवश अस्तित्व को रंगीनी से चमकाकर वास्तविकता को भूलने में प्रयत्नशील हो। × × इस विलासी काव्य में जीवन को आद्यन्त प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी इसलिए इसका प्रणयन बिखरे बिखरे बुद्बुदों के रूप में ही हुआ।" लेखक ने इस युग के काव्य को प्रमादपूर्ण विलास का जर्जर काव्य मानकर ही उसका मूल्यांकन किया है। लेखक की नैतिक भावना इतनी प्रबुद्ध प्रतीत होती है कि वह काव्य-सौन्दर्य विधायक-कला का मूल्यांकन भी नैतिकता के मापदण्ड से ही करना उचित समझता है। तटस्थ कला-समीक्षक के लिए नैतिकता का यह आरोप कला-समीक्षा में कहाँ तक समीचीन है इसका विश्लेषण न करते हुए मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लेखक की भावना कुछ भी हो किन्तु उन्होंने अपने पृष्ठों में जिस समृद्ध वर्णन-सामग्री का चयन किया है वह काव्य-सौन्दर्य और कला-समीक्षा दोनों दृष्टियों से अनुपम है। बिहारी की समृद्ध-वर्णन-सामग्री को पढ़कर पाठक विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। नागर और ग्राम्य चित्रों का जो

चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है वह सर्वथा नूतन है। घनानन्द की वर्णन-सामग्री में भी काव्य-सौन्दर्य और चमत्कार की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है।

संक्षेप में, "हिन्दी काव्य और उसका सौन्दर्य" ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का परिचय देने के बाद मैं इस अध्ययन की उपादेयता के सम्बन्ध में दो शब्द कहकर इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। इस ग्रन्थ के निर्माण से विगत छह सौ वर्ष की हिन्दी काव्यधारा के उस पक्ष का बोध होता है जो अप्रस्तुत योजना अथवा वर्णन-सामग्री द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्त हुई है। लेखक ने यद्यपि प्रबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखकर केवल प्रतिनिधि कवियों के काव्य-सौन्दर्य पर ही विचार किया है किन्तु इस कारण काव्य-सौन्दर्य की समग्रता में कोई न्यूनता नहीं आई। इसी प्रणाली पर यदि अप्रस्तुत-योजना के पूरक पक्ष—वर्णन-शैली—का भी अध्ययन किया जाय तो हिन्दी काव्य का समस्त सौन्दर्य (कलापक्ष) उद्घाटित हो सकेगा। इस ग्रन्थ को पढ़कर मेरी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई है कि हिन्दी काव्य की वर्णन-सामग्री के आधार पर काव्य-सौन्दर्य का ही बोध नहीं होता वरन् हिन्दी-भाषी प्रदेश की तत्कालीन विविध परिस्थितियों का भी चित्र आकार ग्रहण करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने जिस सामग्री का गवेषणात्मक अनुशीलन किया है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म विचार से लेकर स्थूलतम दैनिक जीवन की मोटी-मोटी घटनाओं और वस्तुओं को मूर्तमन्त करने में समर्थ है। सौन्दर्य का एकपक्ष (वर्णन-सामग्री) जब इतना समृद्ध और परिपुष्ट है तब उसके सभी पक्षों का उद्घाटन तो निश्चय ही सौन्दर्य की निरतिशय वैभव सामग्री सामने लाने में समर्थ होगा।

डा० ओम्प्रकाश ने अलंकारशास्त्र का विवेचनात्मक इतिहास और हिन्दी-*काव्य के सौन्दर्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर हिन्दी साहित्य-जगत् में अपना* विशिष्ट स्थान बना लिया है। वे स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में साहित्यिक जगत् में प्रवेश कर रहे हैं। उनकी प्रतिभा में नवोन्मेष की मौलिकता के साथ स्वमत को व्यक्त करने की निर्भीकता है, उनकी शैली में कृतित्व की निपुणता के साथ अध्ययन की गम्भीरता है। हिन्दी-जगत् के समक्ष इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करते समय मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वत्समाज में इस ग्रन्थ को सम्मान प्राप्त होगा और भविष्य में डा० ओम्प्रकाशजी की लेखनी से और भी ग्रन्थरत्न हिन्दी जगत् को उपलब्ध होंगे।

२१-९-५७

—विजयेन्द्र स्नातक

रीडर, हिन्दी-विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

अपनी ओर से

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' की भूमिका में मैं लिख चुका हूँ कि 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ़ अलंकार्स इन हिन्दी' विषय पर लिखा हुआ मेरा थीसिस आगरा विश्व-विद्यालय में 'हिन्दी-साहित्य में अलंकार' नाम से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ, थीसिस के दो भाग थे जिनको ५-६ वर्ष बाद परिवर्द्धन-परिशोधन के अनन्तर 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' और 'हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य' नाम से अधिकारी विद्वानों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ।

'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' वैज्ञानिक अध्ययन था, इसलिए पर्याप्त परिवर्तन हो जाने पर भी उसकी टाइप की हुई प्रति में प्रकाशित रूप का पूर्वाभास सहज ही मिल जाता था, परन्तु प्रस्तुत प्रयत्न साहित्यिक अनुशीलन है, अत लेखक के व्यक्तित्व के साथ-साथ इसके नवीन रूप में समुचित परिवर्त्तन आ गया है। साहित्य वस्तुपरक उतना नहीं जितना कि व्यक्तिपरक, इसलिए साहित्यिक-कृति लेखक के व्यक्तित्व से अनिवार्यतः अंकित होती रहती है।

मूल कृति में रासो-काव्यों से वर्त्तमान काव्य तक की आलंकारिक सामग्री का अध्ययन था, इसलिए सन् १९५१ तक इसको 'हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' नाम से प्रकाशित करने का मेरा विचार था। (जिसका संकेत 'आलोचना की ओर', प्रथम संस्करण, पृष्ठ १५, फुटनोट में दिया गया था)। पीछे यह सोचकर कि 'आलंकारिक सामग्री' और 'आलंकारिक प्रवृत्तियाँ' पदों से अधिकतर पाठक 'अलंकार-शैली' का अर्थ लेकर यह समझ बैठते हैं कि इस कृति में भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा प्रयुक्त अलंकार छाँटे गये होंगे, मैंने प्रकाशन से कुछ दिन पूर्व इस पुस्तक को नया नाम दे दिया है। प्रस्तुत रूप में इसका क्षेत्र 'वीर-काव्य' से 'शृंगार-काव्य' तक ही है, आधुनिक काव्य पर किसी विश्वविद्यालय में स्वतन्त्र अनुसन्धान हो रहा है उसके स्वीकृत और प्रकाशित होने पर प्रस्तुत प्रयत्न आद्यन्त पूर्ण हो जायगा।

यह स्वीकार करते हुए कि साहित्य कवि और समाज के समानान्तर रूप का प्रतिबिम्बक है, इस ग्रन्थ में मेरा प्रयत्न कवियों के व्यक्तित्व के सूक्ष्म अनुशीलन का रहा है, और मैंने स्पष्टतर स्थूल प्रस्तुत सूत्रों का अनुगमन न करके कवि के व्यक्तित्व को समझने के लिए सूक्ष्म एवं धूमिल अप्रस्तुत योजना का सहारा लिया है। कवि के अनन्त अवचेतन में परिस्थिति की प्रतिच्छाया बनकर जो नीहार-राशि व्याप्त रहती है वह अलोकसामान्य होने के कारण चर्म-चक्षुओं से ग्राह्य न हो सके, परन्तु सहृदयों की भावन-प्रक्रिया के लिए वह अस्पृश्य नहीं है। निर्भय होकर राज-पथ पर कवि के साथ विचरण करने के कारण समाज में ख्याति प्राप्त करनेवाले

विचार-वृन्द ही कवि के परिजन नहीं है, प्रत्युत अन्त स्थल में निगूढ होने पर भी समस्त क्रिया-कलाप को प्रभावित करने वाले आच्छन्न भाव बन्धु भी कवि के उतने ही या उनसे भी अधिक निकट सहचर हैं। अत जब मेरे मन में कवि के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई तो मैं अवचेतन-प्रासाद के उन आच्छन्न अतिथियो के पास गया और उनको ख्यात परिजनो से मने अधिक प्रामाणिक माना, कहीं-कहीं ख्यात परिजनो से भी मैंने बातचीत की और अपने मन की तुष्टि के अनुकूल दोनो के कथनो में से सार चुन लिया। मुझे अपने उद्देश्य में कितनी सफलता मिल सकी है, यह स्वय मैं भी नहीं जानता। परन्तु मुझे सन्तोष इस बात का है कि जो भावना मेरे मन मे चिरकाल से बैठी हुई थी उसको आज कार्यपरा देख रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस कार्य को मैंने आज उठाया है वह भविष्य में अधिकाधिक मनीषियो को आकृष्ट करेगा और साहित्य में आलोचना को एक नवीन गति प्रदान करेगा।

बन्धुवर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, एम० ए०, पी-एच० डी०, ने अपने व्यक्तिगत कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी इस पुस्तक को आद्यन्त पढकर इस पर भूमिका लिखना स्वीकार किया, यह उनके स्नेह का द्योतक है। पुस्तक के पुनर्लेखन, शुद्धीकरण, प्रतिलिपि आदि में अग्रज डॉ० जयदेव, एम० ए०, पी-एच० डी० तथा चि० प्रवीण कुमार नागर बी० ए० (आनर्स) ने अनेकश हाथ बँटाया है। मैं इन स्नेहियो का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

३१-५-५७ ओमप्रकाश

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१ विषय-प्रवेश — १–१०
शब्दोत्पत्ति, काव्य का जन्म,
काव्य का परिच्छद, काव्य का अप्रस्तुत पक्ष,
प्रस्तुत अध्ययन
२. वीर-गाथा काव्य — ११–३७
पृष्ठभूमि, राजनीतिक परिस्थिति,
सामाजिक जीवन, काव्य-परम्परा,
अप्रस्तुत योजना
पृथ्वीराज रासो — २५–३१
परमाल रासो — ३१–३४
बीसलदेव रासो — ३४–३७
३. सूफी काव्य — ३८–८१
पृष्ठभूमि, सूफी कवि, कथा की परम्परा,
विदेशी प्रभाव
पद्मावत — ५२–६३
काव्य-सौन्दर्य — ६३–८१
सौन्दर्य-योजना पर विदेशी प्रभाव
पद्मावत तथा चित्रावली — ७५–८०
इन्द्रावत तथा अनुराग बाँसुरी — ८०–८१
शेष रचनाएँ
४. निर्गुण काव्य — ८२–१०६
पृष्ठभूमि, सामान्य विशेषताएँ,
निर्गुनिए या सन्त
निर्गुणी का व्यक्तित्व
महात्मा कबीर — ९१–१०७
कबीर की साखियाँ
कबीर के गीत
अन्य निर्गुणी कवि

५ कृष्ण काव्य	११०–१६४
जयदेव	१११
विद्यापति	११२–१२४
सूरदास	१२४–१५७
श्री भागवत प्रसग	
सूर की राधा	
मीराबाई	१५७–१६१
रसखान	१६१–१६४
राम काव्य	१६५–२१६
तुलसीदास	१६७–२०२
रामचरितमानस	१८४
विनय पत्रिका	१६४
केशवदास	२०२–२१६
रामचन्द्रिका	२०३–२१६
७ शृगार-काव्य	२१७–२६१
बिहारीलाल	२२०–२४५
घनानन्द	२४५–२६१
८ परिशिष्ट—सहायक पुस्तकों की सूची	२६३–२६८
(क) सस्कृत	२६५–२६६
(ख) हिन्दी	२६६–२६७
(ग) अंग्रेजी	२६७
(घ) बगाली	२६८
(ङ) अन्य	२६८

विषय-प्रवेश

शब्दोत्पत्ति

पत्थर के एक टुकड़े को हाथ में लेकर जब मैं लकड़ी के तख्ते पर फेंकता हूँ तो मेरी शक्ति पत्थर के माध्यम से लकड़ी को व्यस्त करती हुई ध्वनि का रूप धारण कर लेती है, यदि पत्थर के इस टुकड़े को लोहे के खंड पर फेंका जाय तो लोहे को व्यस्त करती हुई मेरी शक्ति सम्भवतः ध्वनि तथा अग्नि दो रूपों में प्रकट हो, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं को व्यस्त करके मेरी शक्ति ध्वनि, अग्नि, प्रकाश, विद्युत् तथा चुम्बक इन पांच रूपों में से एक या अधिक रूपों में व्यक्त होगी। शक्ति के इन पांच रूपों में से 'ध्वनि' सर्वाधिक ग्राह्य है, और माध्यम तथा वस्तु की व्यक्तिगत विशेषताएं शक्ति के इस रूप को जितना प्रभावित करती हैं उतना दूसरों को नहीं। सत्य तो यह है कि शक्ति का यह ध्वनि-रूप सघर्षित वस्तुओं (माध्यम तथा प्रताडित वस्तु) के आकार, रूप, आयु तथा दशा के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यही कारण है कि अपने कमरे की किवाड़ों और साँकल की ध्वनि सब पहिचान लेते हैं, सड़क के एक किनारे पर खड़े होकर सुननेवाले अभ्यस्त लोग यह जान जाते हैं कि दूसरे कोने से आने वाली 'बस' किस मॉडल की है और कितनी पुरानी है, बाइसिकिल की घंटी और मोटर का हॉर्न यह बतला देते हैं कि आगन्तुक परिचित है या अपरिचित, और यदि परिचित है तो राम है या श्याम।

अचेतन वस्तु में ध्वन्युत्पत्ति बाह्य शक्ति-संयोग से ही सम्भव है, परन्तु चेतन में इसकी अपेक्षा नहीं, वातावरण-विशेष की परिस्थिति भी पशुओं तथा पक्षियों के हृदय में अभिव्यक्ति की आकुलता उत्पन्न कर देती है, और 'ध्वनि' के स्थान पर 'शब्द' को जन्म देती है। मानवेतर जीव आत्माभिव्यक्ति में जिस 'शब्द' का प्रयोग करते हैं, यह उनके 'भाव' का वाहक है, 'विचार' का नहीं, क्योंकि मानवेतर जीवों का व्यक्तित्व रागात्मक तत्वों से निर्मित है, बुद्धि-विकास का परिणाम नहीं, यह अभिव्यक्ति वैचित्र्य में सीमित परन्तु बल में असीम है। जीवों की यह शब्दात्मक अभिव्यक्ति जीवन में नित्यशः दृष्टिगत होती है। ऊषा की सूचना से ही ताम्रचूड़ प्रसन्न होकर तारस्वर में बोलने लगता है, सन्ध्या की लालिमा को देखकर ही पक्षीवर्ग चहचहाता हुआ अपने नीड़ों को चल देता है, ऋतुओं और कालों का आभास पक्षियों को मनुष्य से पूर्व ही मिल जाया करता है। राम के वन-गमन पर राजप्रासाद के अश्वों की करुण ह्रेषा का वर्णन तुलसी ने तथा कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गो-कुल की हृदय-वेधक हूक का वर्णन सूर ने किया है, युद्धस्थल में स्थित अश्व तथा हस्ती के गर्जन से उनके स्वामी की दशा का ज्ञान दूरस्थित स्वजनों को हो जाया करता है। शक्ति का जो रूप जड़ में 'ध्वनि' कहलाता है वही चेतन में 'शब्द', ध्वनि बाह्य-शक्ति-जन्य है और शब्द आत्माभिव्यक्ति-रूप।

ऊपर हमने शब्द को आत्माभिव्यक्ति का रूप बतलाया है, ध्वनि को नहीं, परन्तु यह कथन निर्विशेष रूप से सत्य नहीं है। यद्यपि जड पदार्थ आत्माभिव्यक्ति में समर्थ नहीं, परन्तु चेतन तो जड के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति मे तत्पर रहते हैं, सगीत की सारी सज्जा आत्माभिव्यक्ति ही तो है—सगीत में तो अभिव्यक्ति से अधिक, कभी-कभी उसके अभाव में भी, मोहिनी शक्ति कार्य करती है, यथा कुरग को फँसाने के लिए वीणा-वादन कदाचित् वादक के आन्तरिक उल्लास को व्यक्त नहीं करता प्रत्युत मुग्ध हरिणों पर मोहिनी डालने का साधन-भर है। जब एक वादक वाद्य यन्त्रों को ध्वनित करता है तो उस जड-चेतन-सयोग में जड के माध्यम से चेतन की शक्ति अभिव्यक्ति के निमित्त ध्वनि का जो सार्थक रूप ग्रहण करती है उसे 'नाद' कहते हैं। 'नाद' अभिव्यक्ति, अत सृष्टि का प्रथम निदर्शन है, इसीलिए कुछ सम्प्रदाय 'नाद' को सृष्टि की आदि अभिव्यक्ति मानकर उसको 'वेद' का अग्रज घोषित करते हैं। व्याकरण शास्त्र के मूलाधार माहेश्वर[1] सूत्र भी नाद के ही रूप माने जाते हैं, मन्त्र तथा तन्त्र में नाद की शक्ति ही काम करती है। सामाजिक स्तर पर नाद का क्षेत्र सगीत है और शब्द का साहित्य, यद्यपि परस्पर साहाय्य तो सर्वत्र वाञ्छित है ही।

काव्य का जन्म

शब्द चेतन हृदय की अभिव्यक्ति है, इसके दो रूप हैं, स्वानुभूति तथा सामान्यानुभूति, स्वानुभूति अन्तानुभूति होने के कारण सत्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुणों की उपाधि से लाञ्छित हो सकती है, परन्तु सामान्यानुभूति अखड होने के कारण सर्वदा सात्त्विक है, पहिली पशु, पक्षी तथा मानव सबके द्वारा समान रूप से सम्भव है परन्तु पिछली केवल मानव का एकाधिकार है। मानव पशु है इसलिए वह अपने सुख से सुखी तथा अपने दुःख से दुःखी होता है, परन्तु वह पशु से कुछ अधिक भी है इसलिए वह दूसरे के सुख-दुःख का अनुभव कल्पना द्वारा कर लिया करता है, क्रौञ्च-मिथुन में से एक के निधन पर दूसरे की करुणा का अनुभव करते हुए महर्षि वाल्मीकि की वाणी आदिकाव्य का पूर्वाभास बन गई थी। पशु की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष एव तात्कालिक अनुभूति से उद्भूत होती है, रोदन, क्रन्दन, हास्य, आक्रोश आदि उसके उदाहरण हैं, परन्तु काव्यात्मक अनुभूति या तो परानुभूति की अभिव्यक्ति है या स्वानुभूति की आवृत्ति[2]। कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनके व्यक्तित्व में हृदय-तत्त्व नष्टप्राय है, साहित्यिक दृष्टि से वे जड या अचेतन हैं, दूसरे ऐसे हैं जो केवल अपनी ही अनुभूतियों का भार वहन कर सकते हैं, वे पशु है, उनका व्यक्तित्व अल्प एव सकुचित है, परन्तु थोडे से ऐसे भावयोगी हैं जो प्राणीमात्र की अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेते हैं। स्वानुभूति और काव्यानुभूति

---

१ नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्तुकाम सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

२ अग्रेजी कवि वर्ड् सवर्थ ने कविता का लक्षण यह बतलाया है—
पोइट्री इज दी स्पोनटेनियस ओवरफ्लो ऑफ पॉवरफुल फीलिंग्स। इट टेक्स इट्स ओरिजन फ्रॉम इमोशन रिकलेक्टिड इन ट्रॅनक्विलिटी।

में जन्यजात भेद चाहे न हो परन्तु उनकी अभिव्यक्तियाँ भिन्न प्रकार की होती हैं। काव्यानुभूति वैयक्तिक न होकर सामान्य है इसलिए इसमें हृदय-पक्ष के साथ-साथ बुद्धि-पक्ष का भी तुल्ययोग होता है और यही बुद्धिपक्ष इन दो प्रकार की अनुभूतियों का व्यावर्त्तक धर्म है, इसीलिए काव्य के तीन तत्त्वों[1] (बुद्धि, भावना तथा कल्पना) में से पाश्चात्य आलोचक बुद्धि-तत्व को प्रथम तथा भाव-तत्व को द्वितीय स्थान देते हैं।

यदि अनुभूति काव्यानुभूति बनकर तदनुरूप अभिव्यक्ति चाहती है तो उसे शब्द के साथ-साथ अर्थ का भी रूप स्वीकार करना होगा, शब्दाभिव्यक्ति स्वानुभूति का सहज माध्यम है परन्तु शब्दार्थाभिव्यक्ति काव्यानुभूति का ही प्रकटीकरण। इसीलिए संस्कृत के पुराने आचार्यों ने काव्य का लक्षण शब्दार्थाभिव्यक्ति[2] मात्र ही स्वीकार किया था, काव्य की जो भी लक्षणमूल या वर्णनरूप विशेषताएँ हैं वे शब्द और अर्थ के इसी अपूर्व योग को आधार मानकर चलती हैं और संगीत से साहित्य का पृथक्त्व भी अर्थात्मकता पर ही निर्भर है।

अस्तु, शक्ति के तीन ध्वनि, नाद तथा शब्द स्वरूपों में पारिवारिक एकता होते हुए भी व्यावसायिक भेद है, ध्वनि निर्विशेष है, नाद वाद्ययन्त्राश्रित और शब्द संगीत तथा साहित्य दोनों में समादर का भाजन होते हुए भी एकाकीपन में संगीत का आश्रय-दाता है और अर्थ-संयोग में साहित्य का प्राण। काव्य या साहित्य शक्ति के स्वयंभू शब्द-रूप पर आश्रित होकर अर्थ के वैशिष्ट्य से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये हुए है, इसी वैशिष्ट्य के कारण यह संगीत की अपेक्षा अधिक आयुष्मान् तथा सचरणशील है।

काव्य का परिच्छेद

शब्दार्थप्राण काव्य सामान्यानुभूति की अभिव्यक्ति होने के कारण एक ओर अन्तर्जगत् से अनुप्रेरित है तो दूसरी ओर बाह्य-जगत् से अनुशासित। काव्य के दो पक्ष होते हैं, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत, और दोनों पर ही देश-काल की परिस्थितियों का अमित प्रभाव पाया जाता है। युग-विशेष के प्रमुख काव्यों को पढ़कर हम यह जान लेते हैं कि उस युग के मानव का जीवन कैसा था, उसकी क्या समस्याएँ थीं, उसकी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दशा कैसी थी और बुरा-भला, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पाप-पुण्य आदि के विषय में उसकी क्या धारणाएँ थीं। कवि कथानक के संघटन एवं पात्रों के निर्माण में जिन सिद्धान्तों को स्वीकार करता है वे उसके आदर्श माने जा सकते हैं, स्थान-स्थान पर संवाद, उपदेश आदि के व्याज से अपने विचारों की अभिव्यक्ति वह करता ही जाता है। काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही कवि के उस व्यक्तित्व का द्योतक है जिसका निर्माण उस कवि की परिस्थितियों ने किया था और इसी व्यक्तित्व का अध्ययन काव्य के अध्ययन का विचारात्मक फल है।

कवि ने जो कुछ सिद्धान्त-रूप से, कथानक के निर्माण द्वारा, अथवा पात्र-सृष्टि में अभिव्यक्त कर दिया वह उसका प्रस्तुत पक्ष है, उसका अध्ययन आवश्यक है। परन्तु

---

१ हडसन एन इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृ० १४।
२ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। (भामह काव्यालंकार)
तददोषौ शब्दार्थौ · · । (मम्मट काव्यप्रकाश)

इस अध्ययन से भी अधिक आवश्यक है कवि और काव्य का अप्रस्तुत पक्ष, जो अनायास ही अनावृत हो गया है, कवि ने निस्संकोच भाव से घोषणापूर्वक जो कुछ कह दिया केवल वही उसके विषय में प्रमाण नहीं, प्रत्युत जिसे कहते कहते वह रुक गया वह भी उतना ही या उससे भी अधिक मूल्यवान् है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो कवि की आज्ञा से पाठक के सम्मुख आने वाले भाव और विचार कवि के विषय में उसको उतना नहीं बता सकते जितना कि कवि से आँख छिपाकर चुपचाप झाँकने वाले और बाहर आने के लिए व्याकुल संयम के सीकचों पर सिर पटक पटक कर मूच्छित हो जाने वाले भाव और विचार, उप-चेतन के ये ही अतिथि कवि के विषय में निष्पक्ष साक्षी हैं, कवि की वाणी संयम के अवगुंठन से जनपथ पर विचरण करती हुई जो हाव-भाव और संकेतों द्वारा कह गई वही उसके घर का रहस्य है, कवि ने शब्दों को जो कुछ कहने की आज्ञा दी उससे अधिक यदि प्रमादवश भी वे हमको बता जायें तो हम अपनी सफलता पर धन्य हो जायेंगे। अस्तु, काव्य का प्रस्तुत पक्ष निश्चय ही महत्त्व-पूर्ण अध्ययन का विषय है परन्तु उसका अप्रस्तुत पक्ष महत्त्व के साथ-साथ प्रमाण-रूप से अधिक विश्वसनीय भी है।

जीवन की सरसता-नीरसता, सुख-दुःख, उत्साह-वैराग्य आदि के साथ-साथ काव्य का परिच्छेद भी परिवर्तित होता रहता है, बाहरी सज-धज और तड़क-भड़क जीवन में प्रधान रति की द्योतक है, एवं वस्त्र-भूषण के प्रति उदासीनता जीवन से वैराग्य बत-लाती है, जीवन-मरण से मुक्ति चाहने वाले साधु और भिक्षु सदैव एक गैरिक वस्त्र धारण करते रहे हैं परन्तु ऐहिक सुखों के उपासक विलासी राजा एवं श्रेष्ठी जनों से कला को आश्रय तथा आदर मिला है। काव्यशास्त्र में कविता को कामिनी माना गया है जो स्वयं इस ओर संकेत करता है कि कविता में सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस काल में भौतिक सुखों की पूर्णता होती है उसकी कविता और कामिनी चिन्ता-मुक्त होकर कलामय जीवन भोगती हैं। जनता का कविता और कामिनी के प्रति दृष्टिकोण भी समानान्तर होता है, बौद्धों और सन्तों ने कामिनी की छाया से भी घृणा की तो उनकी कविता रूप-रंग-हीन एक भिक्षुणी बन गई, संस्कृत साहित्य के आर्ष-युग में जीवन शान्त एवं सरल था, फलतः काव्य भी उदार, गम्भीर तथा सरल लिखा गया; महाकाव्यों के युग में वेदाभ्यासियों को जड़[1] कहा जाने लगा तो कविता भी रूप और सौन्दर्य में खिल उठी; कवि जितनी रुचि नायिका के शृंगार में रखता है उतनी ही कविता की सजावट में भी।

सौन्दर्य का जीवन में इतना महत्त्व होते हुए भी कुछ आलोचक उसको आदर की दृष्टि से नहीं देखते, उनके मत में कविता को आँखें नीची करके श्वेत परिधान में

---

१ वेदाभ्यासजडः कथं नु विषय-व्यावृत्तकौतूहलो।
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१०॥

(विक्रमोर्वशीयं, प्रथमोऽङ्कः)

रंगमंच पर आकर बिना हिले-डुले अपना सन्देश कह जाना चाहिए। इस अतिशयम के दो कारण हैं। प्रारंभिक दिनों में कवि औचित्य का सदा ध्यान रखते थे, वे यह जानते थे कि किस मात्रा में और किस संख्या में परिच्छद कविता-कामिनी के कलेवर को विभूषित[1] करेगा और कब वह सुरुचिहीन भार बन जावेगा, परन्तु पीछे कविता-कामिनी की क्षमता का विचार न रहा और स्वकीय वैभव के प्रदर्शनार्थ कवि ने कविता को आज्ञा दी कि पूर्ण रूप से सजे बिना वह बाहर झाँकने का प्रयत्न न करे। जो सुकुमारी शोभा के भार से ही डगमग चाल चलती है वह आभूषणों का बोझ कैसे सँभाल[2] सकेगी, यह विचार विलासी कवियों के ध्यान में ही न आया, वस्तुत वे उस कविता-कामिनी को क्रीतदासी तथा अपने विलास का साधन मात्र समझते थे। सौन्दर्य की अवहेलना का दूसरा कारण आलोचकों का व्यक्तित्व है। काव्य एक ओर कवि के व्यक्तित्व का परिचायक है तो दूसरी ओर पाठक की रुचि का परीक्षक भी। कवि ने तो अपने युग में रहकर अपनी परिस्थितियों में विकसित होकर अपने अध्ययन-मनन के फलस्वरूप एक काव्य का निर्माण कर दिया, अब उसका स्वागत कैसा होता है यह आलोचक के व्यक्तित्व पर निर्भर है, इसी कारण देश, काल तथा पात्र के भेद से आलोचना में सदा भेद पाया जाता है; राजगुरु बनकर संस्कृत के दरबारी साहित्य का रसास्वादन करनेवाले केशवदास ने जो काव्य लिखा उसको राजाश्रय से निराश, जीवन की गुत्थियों में उलझा हुआ, संस्कृत-साहित्य की परम्परा से अपरिचित आज का मजदूर या कूटनीतिजीवी आलोचक कैसे पसन्द कर सकता है? काव्य सुन्दर हो, इस विषय में मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु प्रसाधन की मात्रा तथा परिच्छद के प्रकार पर पाठक और आलोचक एकमत नहीं हैं। कामिनी के समान कविता अपनी नग्नता[3] में आकर्षक नहीं लगती, उसे वस्त्राभूषण की अपेक्षा है; यह वस्त्राभूषण एक श्वेत[4] वस्त्र मात्र हो या अमूल्य रत्नाभरण।

यह एक विचारणीय विषय है कि प्रसाधन जीवन का मापक है या नहीं, विशेषत कविता के क्षेत्र में प्रसाधन के आधार पर ही यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि

---

१. "हाउएवर दि अर्ली राइटर्स एम्पलोइड मैनी फिगर्स इन दिअर कम्पोजीशन्स, एण्ड यट वर मोर नेचुरल दैन दोज हू अवोयड दैम ऑलटुगैदर, वीकॉज दे इन्ट्रोड्यूस्ड दैम इन एन आर्टिस्टिक वे।" (अरिस्टोटल, पोइटिक्स, पृ० २१७)

२. भूषन भारु सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधे पाँइ न धर परैं, सोभा ही के भार॥ (बिहारी)

३ "व्हाट इज क्लीअर एण्ड एवीडेंट इज एप्ट टु एक्साइट कॉन्टेम्प्ट, जस्ट लायक मैन हू हैव स्ट्रिप्ड दैमसेल्व्ज नेकिड।" (अरिस्टोटल पोइटिक्स, पृ० २२४)

४ सेत सारी ही सों सब सौतें रँगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सों रँगे स्याम लाल रँग में। (मतिराम)

अमुक काव्य जीवन से ओत-प्रोत है अमुक नहीं। केशव जैसे चमत्कारी कवियों में प्रसाधन का वैभव पाठक को खिन्न कर देता है, परन्तु सूक्तिकारों के कोरे उपदेश जीवन का सार दिखाई पड़ते हैं, खड़ी बोली में नरेन्द्र शर्मा का गीत "आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे" अधिक लोकप्रिय है परन्तु महादेवी वर्मा का "धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्तरजनी" उतना नहीं है। तब तो ऐसा लगता है कि कविता-वनिता विच्छित्ति-हाव में ही हृदय पर अधिकार करती है। विपरीत उदाहरणों की भी कमी नहीं, 'विनयपत्रिका' तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है तथा साग रूपकों का विशाल चमत्कार भी उसी में सर्वाधिक है, 'साकेत' का नवम सर्ग आलोचना तथा वैभव दोनों ही कसौटियों पर सर्वोत्तम है, बिहारीलाल हिन्दी के उत्तम कवियों में हैं और अलंकार का जितना चमत्कार उनमें है उतना अलंकृत काल के भी अन्य कवियों में नहीं। तब क्या काव्य-सौष्ठव और सौन्दर्य-सम्पत्ति एक ही गुण के दो अलग-अलग नाम हैं ?

वस्तुतः काव्य का मूल्य उसके भाव-विचार-कोष पर निर्भर है, केवल वेष-भूषा पर नहीं, निश्चय ही परिच्छद धारणकर्ता के विषय में किसी अनुमान को जन्म देते हैं परन्तु तभी तक जब तक कि कोई अन्य ठोस आधार प्राप्त न हो, राजकीय वस्त्र धारण करने वाले को राजपुरुष समझा जायगा, परन्तु यदि यह प्रवाद भी फैल गया कि यह राजपुरुष नहीं चोर है (चुराकर राजकीय वस्त्र धारण कर रहा है) तो फिर कोई भी अनुमान निश्चयात्मक नहीं हो सकता, कण्व के आश्रम में मृगयाविहारी राजा जब अपनी वास्तविकता को छिपाकर शकुन्तला आदि के समक्ष पहुँचा तो उन्होंने उसको सामान्य राजपुरुष समझा, जब उसने दुष्यन्त-नामांकित मुद्रिका शकुन्तला को सिंचन से मुक्त करने के लिए दी तो सखियों को तत्काल सन्देह हुआ, परन्तु समाधान होने पर वे फिर उसे सामान्य राजपुरुष ही समझने लगीं। अस्तु, काव्य का मूल्य उसके वस्त्राभरण से नहीं प्रत्युत उसके विचार और भाव से निर्धारित किया जाता है। परन्तु वस्त्राभूषण व्यर्थ नहीं हैं, वे विचारों के मूल्य पर तो अनुशासन नहीं रखते किन्तु भाव की प्रतिशयता के मापक हैं। विचार की अभिव्यक्ति सरल तथा सहज ढंग से भी हो सकती है और भावना की मोहिनी में लपेटकर भी, जब विचार सरल एवं सौम्य रूप से पाठक के सम्मुख आवेगा तब उसकी स्वीकृति गाम्भीर्य में निहित रहेगी, परन्तु जब वह चमचमाता हुआ मन पर अधिकार कर लेगा तो उसकी अस्वीकृति असम्भव है। जब विचार भावुकता से भर जाते हैं तो भाषा वास्तविक विचारों को व्यक्त नहीं करती, विचारों के प्रति रचयिता की भावुकता को व्यक्त करती है[1]। इस प्रकार की अभिव्यक्ति समभावक को अत्यधिक प्रभावित करेगी, सामान्य पाठक या साहित्यिक समालोचक

---

[1] "दि मोर इमोशन्स ग्रो ग्रपोन ए मैन, दि मोर हिज़ स्पीच एबाउण्ड्स इन फ़िगर्स · फ़ौलिंग स्वाम्प आइडियाज़ एण्ड लैंग्वेज इज़ यूज्ड टु एक्सप्रैस नौट दि रियलिटी ऑफ थिंग्स बट दि स्टेट ऑफ वन्स इमोशन्स"।

(राघवन : स्टडीज़ ग्रॉन सम कन्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र)

को नहीं। इसीलिए कवि को यह ध्यान रखना चाहिए कि आलंकारिक सौन्दर्य प्रमुख न बन जाय, उसका औचित्य उसकी स्वाभाविकता[1] में है, अलंकारों की अति रचयिता की शैली में अपरिपाक की द्योतक है, इससे अव्यवस्था तथा सुरुचिहीनता का अनुमान कर लिया जाता है।[2]

काव्य का अप्रस्तुत पक्ष

यह निश्चय कर चुकने के अनन्तर कि काव्य में प्रस्तुत पक्ष से अधिक महत्व अप्रस्तुत पक्ष या परिच्छद का है, और परिच्छद का वैभव कवि के व्यक्तित्व का विशेष परिचय देता है, हमको यह देखना होगा कि परिच्छद अथवा अप्रस्तुत पक्ष का वास्तविक एवं निश्चित अर्थ हम क्या ले रहे हैं। काव्यशास्त्र के पुराने आचार्यों ने काव्य के अप्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार' नाम दिया था, और सौन्दर्य की समस्त योजना को वे अलंकार ही कहते थे, परन्तु इस शब्द से छन्दोयोजना, भाषा-व्यवहार आदि का कभी बोध नहीं हुआ। यदि काव्य के प्रस्तुत पक्ष को 'वर्ण्य' कहा जाय तो अप्रस्तुत पक्ष का नाम 'वर्णन' है, यदि प्रस्तुत पक्ष को 'अलंकार्य' कहे तो अप्रस्तुत पक्ष 'अलंकार' है। भामह ने 'भूषा', 'अलंकृति', 'सन्निवेश',[3] शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया है, दण्डी में भी 'अलंकार' शब्द का व्यापक अर्थ है, 'अलंकृति' तथा 'अलंकार' शब्दों को पुराने आचार्य समानार्थी ही समझते थे। वामन ने 'अलंकार' शब्द का प्रयोग संकीर्ण तथा व्यापक दोनों अर्थों में कर दिया, वे सौन्दर्य-मात्र को भी अलंकार कहने लगे और सौन्दर्य के अतिशयता धर्म को भी। हिन्दी में आचार्य केशव ने 'अलंकार' शब्द का व्यापक अर्थ लिया है, उनका अनुकरण गुरदीन पाण्डेय, बेनी प्रवीन, तथा पदुमनदास[4] ने किया। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने काव्य-योजना के दो भेद किये हैं—'वर्ण्य वस्तु' तथा 'वर्णन-प्रणाली'[5], और 'वर्णन-प्रणाली' को उन्होंने 'अलंकार' का पर्याय[6] माना है। यदि केशव को आधार मानकर चलें तो अप्रस्तुत पक्ष या 'वर्णन-पथ' का नाम अलंकार है, इसके दो भेद हैं, साधारण या सामान्य तथा विशिष्ट। 'सामान्यालंकार' का अर्थ वर्णन-सामग्री और 'विशिष्टालंकार' का अर्थ वर्णन-शैली है, इसीलिए विशिष्टालंकार को ही भाषा[7] का भूषण माना गया है।

वस्तुतः अप्रस्तुत पक्ष के दो भेद मानने ही होंगे, एक सामग्री-गत दूसरा शैली-गत। कवि प्रस्तुत के प्रति अपने भाव को व्यक्त करने के लिए जिस सामग्री का उपयोग करता

---

१ "ए फिगर सुवस बेस्ट व्हेन इट एस्केप्स दि नोटिस दैट इट इज ए फिगर"। (लौनजाइनस ऑन दि सब्लाइम)

२ "दि फिगर्स युइड शुड नोट बी न्यूमरस। दिस शोज लैक ऑफ टेस्ट एण्ड एन अनईविननेस ऑफ स्टाइल।" (२१७) (अरिस्टोटल पोइटिक्स)

३ दे० 'हिन्दी अलंकार-साहित्य', परिशिष्ट, पृ० २५४।

४ दे० 'आलोचना की ओर' (परिवर्द्धित संस्करण), पृ० १८२।

५ दे० 'कविता क्या है' (चिन्तामणि I, पृष्ठ १८३)

६. दे० 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' (वही II, पृ० ५)

७ भाषा इतने भूषणनि, भूषित कीजै मित्र। (कविप्रिया, ६,७)

है वह सामग्री स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है और जिस प्रकार से उस सामग्री का उपयोग हुआ है वह अलग शैली-गत अध्ययन का विषय। रमणी के मुख का वर्णन करते हुए एक कवि ने कहा 'मुख मानो चन्द्र है', दूसरे ने कहा 'मुख कमल है', प्रथम वाक्य में वर्णन-सामग्री 'चन्द्र' है और वर्णन-शैली 'उत्प्रेक्षा', दूसरे वाक्य में वर्णन-सामग्री 'कमल' है और वर्णन-शैली 'रूपक', वर्णन-सामग्री की तुलना से हम यह बतला सकते हैं कि दोनों कवियों के मुख-विषयक दृष्टिकोण में क्या भेद है, और वर्णन शैली की तुलना से दोनों कवियों की मुख विषयक हृदयस्थ भावना का हमको ज्ञान हो सकता है। शुक्ल जी ने कवि-कर्म-विधान में विभाव-पक्ष के अन्तर्गत दो रूपों में लाई गई वस्तुएँ मानी हैं—वस्तु-रूप (प्रस्तुत रूप) में तथा अलंकार-रूप (अप्रस्तुत रूप) में[1], और अलंकार-रूप में लाई गई वस्तु से उनका तात्पर्य 'सामान्यालंकार' अथवा 'वर्णन सामग्री' से ही है। यह आश्चर्य की बात है कि केशव का विरोध करते हुए भी आलोचक केशव के 'सामान्यालंकार' को आज भी विवेच्य समझते हैं और वर्णन-सामग्री को अलंकार नाम से ही अभिहित किया जाता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि अप्रस्तुत के वर्णन-सामग्री (सामान्यालंकार) तथा वर्णन-शैली (विशिष्टालंकार) पक्षों में से आलोचक की दृष्टि में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है। इसका उत्तर यही होगा कि यद्यपि ये दोनों परस्पर में नितान्त स्वतन्त्र नहीं हैं, फिर भी वर्णन सामग्री कवि की रुचि का द्योतन करती है, और वर्णन-शैली कवि की भावना का—वर्णन-शैली तो वर्णन-सामग्री के आधार पर ही उसके प्रति कवि के अनुराग की मापक है, मुख को चन्द्र कहनेवाला उसके नयनानन्द-कारक अमृतमय रूप का प्रशंसक है, यदि इस प्रशंसा में उसने उपमा अलंकार का आश्रय लिया तो उसकी भावना हलकी मानी जायगी, उत्प्रेक्षा में कुछ बलवती और रूपक में नितान्त बलवती, क्योंकि उस दशा में मुख तथा चन्द्र में अभेद ही हो गया। वर्णन शैली सूक्ष्म भावना का माप-यन्त्र है परन्तु वर्णन-सामग्री की छाँट अखिल विश्व में से केवल वस्तु-विशेष पर केन्द्रित होने के कारण मन के झुकाव अथवा रुचि का प्रमाण है। वर्णन-सामग्री का अध्ययन जितना वैचित्र्यपूर्ण तथा सूचनात्मक होगा उतना वर्णन-शैली का नहीं, क्योंकि वह सैद्धान्तिक तथा अमूर्त है।

रुचि-वैचित्र्य से वर्ण्य-विषय की समानता में भी वर्णन-सामग्री में वैचित्र्य होगा, यह तो सिद्ध है, परन्तु कभी-कभी कवियों की रुचि वर्ण्य-विषय के वैचित्र्य में वर्णन-सामग्री की समान योजना कर देती है, वस्तुत प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक में साम्य और दूसरे में वैषम्य रुचि-भेद पर आश्रित रहता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत-वैषम्य में अप्रस्तुत-साम्य के दो छन्द देखिए—

(क) बागों ना जा रे, तेरे काया में गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ कै, रहनी कर रखवार।
दुरमति-काग उड़ाइ के, देखै अजब बहार।

---

१. दे० 'महाकवि सूरदास जी' (भ्रमर-गीत-सार, पृ० ४-५)।

मन माली परबोधिए, करि सजम की वार।
दया-पौद सूखे नहीं, छमा सींच जल ढार।
गुल श्रौ' चमन के बीच में फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमाल की पहिरू गूँथि गलहार॥ (कबीर)

(ख) बागन काहे को जाश्रो पिया, घर बैठे ही बाग लगाय दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मौर रही, बहियाँ दोउ चपे सी डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुश्रा, श्रद घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रस के चसके रति फूलनि को रसखानि लुटाऊँ॥ (रसखान)

कबीर श्रौर रसखान दोनों ने ही शरीर को वाटिका बनाया है, परन्तु एक के लिए निर्गुण प्रणाली पर पुरुष का शरीर वाटिका है और दूसरे के लिए विलास-धारा से सिञ्चित युवती का कलेवर वाटिका है, एक से शान्त रस की उपलब्धि होती है दूसरे से शृंगार रस की। अप्रस्तुत का यह वैषम्य दोनों कवियों की रुचि पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

प्रस्तुत अध्ययन

यह कहा जा चुका है कि काव्य-गत सौन्दर्य का अध्ययन करते हुए काव्य के प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दो पक्ष माने जा सकते हैं, श्रौर क्योंकि इस अध्ययन का उद्देश्य कवि के व्यक्तित्व का यथासंभव परिचय प्राप्त करना है इसलिए प्रस्तुत पक्ष में आने वाली सामग्री की अपेक्षा अप्रस्तुत पक्ष की सामग्री अधिक प्रामाणिक अतः लाभदायक है—उस पर कवि का ज्ञात संयम नहीं होता अतः वह उसके अन्तस्तल के अनेक रहस्यों की सूचना दे सकती है। अप्रस्तुत पक्ष के दो रूप हैं वर्णन-सामग्री तथा वर्णन-शैली. हमने अपना अध्ययन वर्णन-सामग्री तक सीमित रखा है, वर्णन-शैली की तो यत्र-तत्र सहायता ही ली है। यदि केशवदास की शब्दावली का प्रयोग करें तो हमारा यह अध्ययन सामान्यालंकार तक सीमित है, श्रौर सामान्यालंकार की सामग्री की परीक्षा करके ही हमने कवि एवं काव्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सामान्य निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयत्न किया है।

यह कहना अनावश्यक है कि हिन्दी में यह अध्ययन अपने रूप तथा गुण में सर्वांशतः मौलिक है। अब तक कवियों श्रौर काव्यों के जितने अध्ययन हुए हैं उनमें उनका परिचय, उनका दर्शन, उनकी काव्य-कला तथा उनका महत्त्व श्रौर योगदान ही विवेचन श्रौर परीक्षण के विषय बने हैं। व्यक्तित्व के अध्ययन के प्रयत्न हुए ही नहीं, श्रौर यदि किसी ने संकेत किया है तो केवल प्रस्तुत एवं प्रतिपाद्य सामग्री को दृष्टि में रखकर ही, अप्रस्तुत सामग्री के संकेतों से लाभ उठाकर नहीं। अप्रस्तुत सामग्री का इतना अधिक उपयोग किसी अन्य आलोचक ने नहीं किया, श्रौर अप्रस्तुत सामग्री की 'सामान्यालंकार' के अर्थ में स्वीकृति भी पहिले नहीं हुई।

अप्रस्तुत सामग्री से हमने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे कितने निर्विवाद श्रौर किस मात्रा में पूर्ण हैं? यह प्रश्न आद्यन्त हमारे मस्तिष्क में रहा है श्रौर यह स्वीकार करने में हमारे कोई संकोच नहीं कि अनेक बार हमारे निष्कर्ष निर्वैयक्तिक नहीं रहे।

अप्रस्तुत सामग्री पाठक के सम्मुख केवल संकेत ही रख सकती है प्रकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकती, क्योंकि पक्षियों के समान मानो अग्नि के शाप से उसको अस्फुटालापता का बन्धन मानना पड़ता है, फिर संकेत-ग्रहण व्यक्तित्व निरपेक्ष हो भी नहीं सकता। इसलिए यदि मेरे आलोचक-बन्धु "किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयसे" का आरोप लगाते हुए मुझ से असहमत हों तो मुझे आश्चर्य न होगा। अप्रस्तुत सामग्री से जो संकेत मुझे मिले उनको मैंने ग्रहण कर लिया, यदि अन्य लोग दूसरे संकेत ले सकें तो वह भी अध्ययन और मनन का ही परिणाम होगा, इसलिए हम दोनों के निष्कर्ष सम्पूर्ति-विधायक भी हो सकते हैं, कम से कम अप्रस्तुत सामग्री से संकेत ग्रहण करके व्यक्तित्व का अध्ययन तो किया गया।

अध्ययन के इस क्रम में हमने देखा है कि व्यक्तित्व के विकास में कतिपय परिस्थितियों का निश्चित योग होता है। इन परिस्थितियों को व्यापकता से संकीर्णता की ओर लाते हुए उनके नाम राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ होंगे। राजनीतिक परिस्थिति तो व्याख्यापेक्षणीय नहीं, धार्मिक परिस्थिति में मत-सम्प्रदाय आदि, सामाजिक में जीवनयापन व्यवसाय आदि, साहित्यिक में शिक्षा आदि, तथा वैयक्तिक परिस्थिति में जन्म-जाति, माता-पिता आदि को सन्निहित माना जा सकता है। किस परिस्थिति का किस व्यक्ति पर कितना प्रभाव पड़ेगा—इसका कोई नियम नहीं, समस्त आचार-विचार का खंडन करनेवाले कबीरदास ने बादशाही अत्याचार के विरुद्ध एक शब्द भी न कहा, यह आश्चर्य का ही विषय है, सांसारिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम का मार्ग निकालने वाले सूफियों ने राधा का नाम न सुना हो, यह विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्रत्येक युग का अपना एक रंग है जो उस युग के सभी कवियों में पाया जाता है, भक्तिकाल में नारी से दूर भागने की प्रवृत्ति का इतना जोर था कि नारी के उपासक लोक-कहानी-कार भी उसको कोस-कोस कर ही उस पर प्राण देते थे, इसके विपरीत रीतिकाल में नारी जब अशरण-शरण बन गई तो हिन्दुओं के देवता भी उसके पैर पलोटने में अपने को कृतकृत्य समझने लगे। वस्तुतः युग और सम्प्रदाय की द्विमुखी छाप तो प्रत्येक कवि पर पाई जाती है, शेष तीन के चिह्न भेद के आधार हैं, फलतः हिन्दी-साहित्य की काव्यधाराओं का अध्ययन करने के लिए प्रत्येक धारा के शिरोमणि कवि का अध्ययन ही पर्याप्त है, न जाने क्यों एक आकाश में एक ही चन्द्र उदित होता है; केवल रामभक्तिधारा ही ऐसी अनोखी है जिस पर तुलसी और केशव दो महान् तीर्थ हैं। अस्तु, प्रस्तुत अध्ययन की विन्ध्याटवी में हम केवल शाल्मली तरुओं पर ही टिक सके हैं, और हमारी दृष्टि फल-पत्र-राशि के स्थान पर कोटरस्थ पक्षी-वर्ग पर जम गई है।

: २ :

वीर-गाथा काव्य

पृष्ठभूमि

ब्राह्मण धर्म की विकारग्रस्त वर्णाश्रम प्रथा से बिलबिलाकर जब पददलित जनता ने महात्मा बुद्ध के नेतृत्व में विद्रोह का स्वर उठाया तो देश में आमूल परिवर्तन प्रारम्भ हो गया, पुराने विचार, पुरानी भाषा, पुराना साहित्य, पुराने प्रमाण (धार्मिक ग्रन्थ आदि) सभी को त्याज्य समझा गया, और बुद्ध के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण इस विद्रोह ने थोड़े ही समय में अद्भुत परिवर्तन दिखा दिया, ऐसा जान पड़ने लगा मानो इसमे पूर्व या तो कुछ था ही नही और यदि था भी तो अधिकतर सारहीन ही था। परन्तु वृक्ष के साथ उसकी छाया भी विलीन हो गई और उसकी पत्तियाँ खड़खड़ का सूखा शब्द करती हुई अपने निर्जीव अस्तित्व का ही प्रतीक बन बैठी। एक ओर बौद्धों में विकार पर विकार आने लग गये, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म ने भी सचेत होकर करवट बदली। अत शंकराचार्य की एक ललकार ने अवैदिक मतो के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म फिर सिंहासनासीन हुआ। पतित जनता में स्वतन्त्र चिन्तन का चिरलोप हो चुका था अत समाज के अधिकारियो ने अवैदिक मतावलम्बियों के अनाचार को लक्ष्य बनाकर जनता को उनसे विमुख कर दिया और ब्राह्मण धर्म की एक बार फिर प्रतिष्ठा की।

विद्रोह तो शान्त हो गया परन्तु उसके कुछ चिन्ह न मिट सके, जिनमें से मुख्य भाषाविषयक था, ब्राह्मण धर्म वाले भी यह समझ गये कि अब देववाणी मानव-जगत् के लिए व्यवहार्य नही रही। अवैदिक अनात्मवाद चिन्तन के क्षेत्र में मायावाद बनकर आया, और सामाजिक जीवन में वह भाग्यवाद[१], आत्म-त्याग तथा स्वामि-सेवा में बदल गया। नारी भोग तथा अविश्वास की भी पात्र[२] समझी जाने लगी। विद्रोह की प्रतिक्रिया भी जमकर हुई और वेदशास्त्र एव वेदोक्त गुणो के प्रति भरसक श्रद्धा दिखलाई गई, जनता की भाषा को साहित्य में स्थान देकर उसको सस्कृत भाषा से सजाना प्रारम्भ ही गया। विक्रम को एक सहस्र[३] वर्ष बीत रहे थे कि भाषा में

१ श्री राहुल साकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामत-युग' के 'निराशावाद' (भाग्यवाद) का कारण सामन्तो की युद्ध-क्षेत्र में असफलता को माना है, परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद एक उदास भावना की उपज है जिसमें अवसाद की अपेक्षा उल्लास अधिक है, आगे चलकर भक्ति काव्य में अवश्य पराजय का प्रभाव माना जा सकता है।

(देखिए 'हिन्दी काव्य-धारा', 'अवतरणिका')

२ विमन इज एम्पिल एवीडेन्स टु शो दैट वीमन वर एसाइन्ड एन इनफीरियर पोजीशन इन दी सोशल स्केल। (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २२१)

३ सन् ई० की १०वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था ……। (६०) (मध्यकालीन धर्मसाधना)

-

एक नया साहित्य पनप उठा, जिसका उत्तर भारत के राजपूत राजाओं से निकट सम्बन्ध है, और जिसमें ब्राह्मण[1] धर्म की फिर से स्थापना है।

हिन्दी भाषा का जन्म तो बहुत पहिले ही माना जा सकता है परन्तु हिन्दी-साहित्य का प्रारंभ इस पुनरुत्थान काल से ही मानना पड़ेगा[2], उस दिन से आज तक साहित्य में वही अविच्छिन्न विचारधारा दिखलाई पड़ती है, समय-समय पर अन्य प्रकार के विचार भी मिलते हैं, जैसा कि स्वाभाविक है, परन्तु उनका परिपाक भी ब्राह्मण धर्म की पुष्टि में ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म की अनेक कुरीतियों को दूर करके उसे हिन्दी-साहित्य को स्थायी स्रोत के रूप में दिया, परन्तु कला के लिए हमारा साहित्य बौद्धों की अपेक्षा जैनों का अधिक ऋणी है। हिन्दी साहित्य को जैनकाव्य की, अपभ्रंश-साहित्य में सुरक्षित, निधि परंपरा से मिली, छंद, अलंकार तथा वर्णन सब में उसका प्रभाव शताब्दियों तक मिलता है।[3] जैनों तथा बौद्धों का दोहा छन्द तो हिन्दी का अमर छन्द बन गया है, अपभ्रंश की वर्णन-शैली भी जायसी तक खूब मिलती है। वीरकाव्य का सौन्दर्यपक्ष मुख्यतः इसी अपभ्रंश लोक-परम्परा का विकसित रूप है। वीरकाव्य को जो परंपरा मिली थी उसका जनता के जीवन से निकट सम्बन्ध था, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता का ही प्रधान आकर्षण है।

राजनीतिक परिस्थिति

वैदिक संस्कृति अहिंसा को परम धर्म न मानकर व्यापक धर्म का एक अंग विशेष मानती है, इसलिए इस पुनरुत्थान का नेतृत्व "एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध"[4] भिक्षुओं को न मिलकर शस्त्रजीवी क्षत्रियों को मिला, जिनको इतिहास में 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूत राजाओं में एकछत्र शासन की प्रथा न थी, एक नरेश दूसरे राजा पर आक्रमण अवश्य करता था परन्तु न तो उसके राज्य को अपने

---

१ इण्डिया इन दि इलैविन्थ सेन्चुरी एज़ अलबेरूनी सा इट वाज़ क्वाइट डिफ़ेंट। बुद्धिज़्म, और ए मिक्सचर ऑफ बुद्धिज़्म एण्ड शाक्तिज़्म, और तान्त्रिज़्म वाज़ कनफाइन्ड टु धन कॉरनर ऑफ दि कन्ट्री, नेमली बंगाल, जैनिज़्म मेन्टेन्ड इट्स एग्ज़िस्टेन्स इन दि एक्सट्रीम वेस्ट, गुजरात एण्ड राजपूताना; बट दि डोमिनेटिंग क्रीड ऑफ इण्डिया वाज़ हिन्दुइज़्म। (इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर पृ० १११)

२ हरनलि साहेबेर मते ८०० खृ० हइते १२०० खृ० अब्देर मध्ये प्राकृतेर युग लुप्त ओ गौडीय भाषासमूहेर युग उद्भूत हइयाछिल। बौद्ध-शक्तिर पराभवे, हिन्दु-धर्मेर पुनरुत्थाने, हिन्दु-जातिर नव चेष्टार स्फुरणे ओ संस्कृतेर नवविकाशे, सेइ परिवर्तन एत द्रुत हइल '' ''''' । (१५) (बंगभाषा ओ साहित्य)

३ 'हिन्दी काव्यधारा,' 'अवतरणिका', पृ० १२-१३।

४. 'चन्द्रगुप्त मौर्य'।

राज्य में मिलाता था और न विजित प्रजा पर लूट-मार आदि अत्याचार ही करता था, चक्रवर्ती भूमिपाल "केवल यश के लिए ही विजय"[1] करते थे जिसमें न तो बौद्धों की कायरता को स्थान है और न यवनों की अमानुषिक बर्बरता का आदेश।

परमेश्वर संसार की सबसे बड़ी शक्ति है और इस संसार का परमेश्वर (या परमेश्वर का प्रतिनिधि) राजा है[2], ब्राह्मण धर्म के इस विचार की इस युग में बड़ी धूम रही, राजनीति में इसको 'दैवी अधिकार' कहते हैं। "राजाओं का एक सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कोई हाथ न था' ''' स्थायी सेना रखने की प्रथा घटती जाती थी ''"[3] परन्तु प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति राजा के लिए प्राण-त्याग करना अपना परम कर्त्तव्य[4] समझता था। राजा के सामन्त तथा दरबारी सभी कम से कम कर्म से क्षत्री होते थे जिनका यह विश्वास था कि एक न एक दिन तो मरना ही है फिर क्यों न स्वामी की सेवा में तन अर्पित करके इस लोक में यश तथा परलोक में स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाय।[5] जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भगवदिच्छा समझकर किया गया निष्काम कर्म भगवान् को समर्पित हो जाता है कर्त्ता उसके लिए उत्तरदायी नहीं समझा जाता, उसी प्रकार ऐहिक जीवन में अपना व्यक्तित्व राजा या स्वामी को अर्पित कर देना इस युग का सबसे बड़ा प्रजा-धर्म था।[6]

शासकों के स्वभाव में स्वाभिमान की मात्रा विशेषतः देखने योग्य है परन्तु वह स्वाभिमान कोरा अहंकार मात्र ही न था उसमें अपने पद तथा अपनी मर्यादा का सदा ध्यान रहता है; एक सामन्त जो कल तक एक सामान्य सैनिक था आज शासक बन गया तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने पद की मर्यादा की रक्षा अपने प्राणों से खेलकर भी करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह नीच है, कुल-कलंक है, उस पद के योग्य नहीं है। फलतः छोटी-छोटी बातों के लिए ही बहुत बड़े-बड़े युद्ध ठन जाते थे, अधिकतर युद्धों का कारण या तो अपनी मर्यादा-रक्षा है या प्रजा के किसी सामान्य कष्ट का बदला, शासक की दृष्टि से दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए

---

१. यशसे विजिगीषूणाम्—रघुवंशम्।
२. सो नृप श्रम वेदन कह्यौ, नृप परमेसर आहि।
(पृथ्वीराज रासो, पृ० २०६४)
३ "भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व।"
(द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ४५-६)
४ स्वामि सांकरें जानि कर, रहे आन घर सोय।
सो रानो फिर तौलियो, कुल रजपूत न होय॥ (परमाल रासो, २४०)
५. जे भग्गे तेऊ मरे, तिन कुल लाइए खेह।
भिरे सु नर गय जोति मिलि, बसे अमरपुर तेह॥
(पृथ्वीराज रासो, ११६८)
६ स्वामित्त तेज तिम तन तपन, दोष न लग्गे जोर जस।
(पृ० रा० १२१६)

इतना त्याग करने के कारण ही उस युग का राजा 'शासक' न कहलाकर 'प्रजापालक' कहलाता है, एक व्यापक अर्थ में उसको प्रजा का पिता ही समझना चाहिए।[1]

राजपूतों के स्वभाव में स्वाभिमान, आत्म-त्याग तथा प्रजा-पालन के अतिरिक्त दो वृत्तियाँ और भी थी, एक को भोगप्रियता तथा दूसरी को युद्धप्रियता कह सकते हैं। अवैदिक मतों ने संसार से पलायन का जो आदर्श रखा वह ब्राह्मण धर्म को ग्राह्य न था इसलिए इस युग में भोग्य वस्तुओं का निर्लिप्त भोग नेताओं का ध्येय बन गया। राजाओं के अन्त पुर में न केवल एक से एक बढ़कर रूपवती कामिनी ही दिखलाई पड़ती थी, प्रत्युत विलास के सभी साधन—कला के सभी उपकरण—अमूल्य रत्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति, अलौकिक अस्त्र-शस्त्र, देश-विदेश के अश्व आदि भी भरे रहते थे, और इसी सामग्री से उनकी महत्ता की माप होती थी, उत्सवों, त्यौहारों आदि पर इसका प्रदर्शन आवश्यक था, इसकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देना अपव्यय न समझा जाता था। ध्यान रखना होगा कि राजपूत राजा विलासान्ध न थे, अपने पराक्रम से अर्जित वस्तु का भोग वे अपना कर्तव्य समझते थे, परन्तु अनुचित-उचित का उनको सदा ध्यान रहता था। राजपूतों ने पर-नारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली, हाँ, किसी भी राजा की अविवाहिता कन्या को पराक्रम से जीतकर सहधर्मिणी बनाना उनका प्रिय विषय था। उनका विश्वास था कि पर-नारी की रक्षा से जय तथा पर-नारी पर कुदृष्टि रखने से पराजय होती है।[2]

युद्धप्रियता इन राजाओं का दूसरा गुण है, जो जितना अधिक विलासी उतना ही अपनी आन पर मर मिटनेवाला।[3] प्रेम निमन्त्रण पाकर जिस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी और अपने प्रिय सामन्तों को खो दिया उसकी पालकी राजप्रासाद तक पहुँच भी न पाई थी कि किसी शत्रु के अत्याचार का समाचार मिला, तत्काल ही आँखें लाल हो गईं, भुजदण्ड फड़कने लगे, घोड़े में एड़ लगाई और जुझारू बाजे बज उठे। वीरता का इतना सजीव रूप अन्यत्र कदाचित् ही मिले। शृंगार और वीर में कोई विरोध नहीं है, दोनों की सहप्रवृत्ति[4] जीवन की सूचक है, इन्द्रियभोगलिप्सा शृंगार नहीं है और बर्बरता को वीरता नहीं कह सकते, जिसमें जीवन

---

१ जैसा कि कालिदास ने दिलीप के विषय में कहा है—
प्रजाना विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवल जन्महेतव ॥ (रघुवंशम् १।१८)

२ परयोषिन परसे नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय तक्कत रैनदिन, ते हारे जग नीच ॥ (पृ० रासो)

३ राज्य जाय फिर होत है, सिरिय जाय फिरि आय।
वचन जाय नहिं बाहुरं, भूपति नर्क पराय ॥ (परमाल रासो, ३०८)

४. (क) वीर सिंगार सुमत, कत जनु रत्त काम। (पृ० रा०)
(ख) श्रवन सुनें घर वीर रस, सिथव राग अपार।
हरषि उठे दोउ निहिसमं, मिलन वीर शृंगार ॥ (हम्मीर रासो, १४८)

होता वह संसार में अज्ञानियों के समान लिप्त भी रहता है और ज्ञानियों के समान उसका तृणवत् त्याग भी कर सकता है। शृंगार तथा वीर की यह सहप्रवृत्ति प्रवैदिक मतों में न थी।

सामाजिक जीवन

उस युग में ईश्वर तथा भाग्य में अत्यधिक विश्वास किया जाता था, भाग्य बड़ा प्रबल है जो कुछ विधि ने लिख दिया है वह मेटा नहीं जा सकता[1], मनुष्य इसीलिए यह नहीं कह सकता कि कब क्या हो जावेगा[2], बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति हो गये हैं परन्तु विधि के सामने सबको झुकना पड़ा है। यही भाग्यवाद आगे चलकर जायसी तथा तुलसी में पग-पग पर मिलता है। परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, प्रत्युत फलाफल से निरपेक्ष होकर उत्साहपूर्वक[3] कर्त्तव्य की ओर प्रेरित करता है। इसी भाग्यवाद का फल था कि प्रत्येक राजपूत बिना आगा-पीछा सोचे ही रण-क्षेत्र में कूद पड़ता था और रक्त की नदी बहने लगती थी। प्राण-त्याग तो उस समय एक सामान्य विनोद मात्र था, जब दो व्यक्ति लड़ेंगे तो यह निश्चय है कि एक ही जीवित रहेगा[4], कोई भी जीवित रहे इसका कोई भी अन्तर नहीं। जगनिक ने क्षत्रियों की आयु १८ वर्ष ही मानी है[5], इसके उपरान्त वे वयस्क हो जाते हैं और किसी भी भिड़त में उनका शरीर खेत रह सकता है। बौद्ध लोग जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सत्य मानते थे, अपने स्वभाववश राजपूतों ने यही सत्य सिद्ध कर दिखाया। कायरता एक कुलकलंक था, जिसमें सबसे अधिक लज्जा जननी को आती थी,[6] क्यों उसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो कायर बनकर कृपण के समान अपने जीवन की रक्षा[7] करना चाहता है ? वीरों का विश्वास था कि युद्धस्थल में अपने

---

१. विधिना विचित्र निरम्यौ पटल, निमिष न इन लिख्खिव टरय। (पृ० रा०, २३७२)
   जु कछु लिखियौ लिलाट सुख्ख अरु दुःख समंतह।
   धन, विद्या, सुन्दरी, भ्रग, आधार, अनतह॥
   कलप कोटि टरि जाँहि, मिटै न, न घटै प्रमानह।
   जतन जोर जो करै, रचन न मिटै विनानह॥ (पृ० रासो)
२ जानै न लोय इह लोक में, कौन भेद कत सुज्झियं। (पृ० रासो, २४२५)
३. जब लगि पजर साँस, श्रास तब लगि ना छंडौ। (पृ० रा० २०४८)
४. यह प्रगट बत ससार महि, भिरै दोय, एकै रहै। (हम्मीर रासो, ११४,
५ बरिस अठारह छत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार। (आल्हखड)
६ (क) पुनि कह्यो कन्ह नृप अंत सौं, स्वामि रखि जिनु तनु तजै।
        तिन जननि दोस बधजन कहै, मुछ धरत मुख्ख न लजै॥ (पृ० रासो)
   (ख) ता जननिय को दोस, मरत खत्री जो सचइय। (पृ० रासो, २०३६)
७. आल्हा की माता ने कहा था—
   सदा पुत्र जीवै न कोइ, भूतल की यह रग।
   जो भूपति भय मदमति, आयसु करौ न भग॥ (परमार रा०, ४७)

कर्त्तव्य का पालन करते हुए प्राण देने से जीव की मुक्ति हो जाती है,[१] इसलिए जब तक इस शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा का निवास है तब तक इसको अपवित्र न बनने देना चाहिए—इसमें तेज[२] हो, साहस हो, अत्याचार-दमन[३] की शक्ति हो। प्राणों के निकल जाने पर फिर शरीर से कोई मोह नहीं रहता, इसलिए अपने निकटतम सम्बन्धी को वीर-गति प्राप्त करते देखकर राजपूत के मन में क्षोभ नहीं होता प्रत्युत उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है।

वीरयुग में नारी के दो रूप मिलते हैं—वीरमाता और वीरपत्नी। वीरमाता का जीवन उस समय धन्य माना जायगा जब उसका पुत्र शत्रु से युद्ध करता हुआ विजयी होकर लौटे या स्वयं वही अपना शरीर त्याग दे, रण में सोये हुए पुत्र के लिए माता शोक न करेगी प्रत्युत उसकी वीरता का कीर्तन सुनकर मन में फूली न समावेगी। वीर-पत्नी का जीवन भी पति के साथ है तथा मरण भी[४], इसलिए पति की वीरगति का समाचार पाकर वह सानन्द शृंगार करके उसके समागम[५] के लिए स्वर्ग चली जायगी। जो पत्नी ऐसा नहीं करती (कदाचित् ही कोई राजपूत-बाला ऐसी हो) उसको नरक मिलता है।[६] उस युग में स्त्रियों से दूर भागनेवाली अवैदिक वृत्ति का पूरा विरोध हुआ,[७] और ऐहिक जीवन के लिए स्त्री का संग आवश्यक समझा गया।[८] महाकवि चंद ने संयोगिता के पूर्व-जन्म का वर्णन करते हुए बतलाया है कि स्त्री ने सुर, नर, असुर सबको मोह लिया है, स्त्री के कारण देवता मानव शरीर धारण करते हैं, और स्त्री के कारण ही वीर लोग मानव शरीर को हँसते-हँसते त्याग देते हैं—

न्याय छुप्यौ मुनि रूप इन, सुरति प्रीम तिय माहि।

---

१ बहुरि न हसा पजरह, जे पजर तुटि धार। (पृ० रा०, १२१६)

२ रजवट चूरो-काच को, भग्गी फिरि न सँधाइ।
सनिया नाहीं लाख कों, कीजै आंच तपाइ॥ (पृ० रा०, २४७४)

३ जा धरती को खाइ कं, मरं न जामें कोइ।
अतकाल नर्कहि परं, जग में अपजस होय॥ (पर० रा०, ४०६)

४ हम सुहस दुहस घटन समथ्थ। हम सुरग वास छंडं न सथ्थ॥
हम भूख प्यास अगमं देव। हम सर समान पति हस सेव॥ (पृ० रा० २१४७)

५ पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र-फल खानि।
अंत होइ सहगामिनी, नेह नारि को मानि॥ (पृ० रा० २०१२)

६. निहचै वेद नरक तेहि भाखै।
पिय कौं मरत जिया तन राखै॥ (पृ० रा० २५५६)

७ ससार त्रिया बिन नाहि होत।
सजोगि सक्ति शिव माँहि जोत॥ (पृ० रा० २१४७)

८ तुलना कीजिए—
कलत्रं गृहीर मुत, कलत्रं ससार।
कलत्रं हइते हय, पुत्र परिवार॥ (१६०)(कृत्तिवास रामायण)

जा मोहे सुर नर असुर, रहे ब्रह्म सुख चाहि ॥
इनहु काज सुर धरत, सुर तन तजत ततच्छिन।(पृथ्वीराज रासो, १२४३)

इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में नारी के प्रति एक दूसरी भावना भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, वह आकर्षण का विषय न होकर घृणा का पात्र थी। नारी को बुद्धि में हीन[1], अविश्वास का पात्र[2], तथा पैर की जूती के समान[3] तुच्छ तक कह दिया गया है। एक बात अवश्य है कि नारी का जीवन अनिश्चित था, वह वीरभोग्या थी, उसको स्वयं ही ज्ञात न था कि कौन वीर उसको जीतकर उसका स्वामी बन जायगा, प्राय वह पितृकुल के शत्रु के हाथ पड़ जाती थी और तब उसको अपने पितृ-कुल का कोई मोह न रहता था। बीसलदेव रासो में विरहिणी रानी ने अपने नारी-जन्म को बार-बार धिक्कारा है[4], जिसमें पति के साथ चैन से बैठने का भी अवसर नहीं मिलता। अन्य रत्नों के समान वीरयुग की नारी स्वामी की शोभा थी, जिसका भाग्य अन्य रत्नों के समान विपण्य तो न था परन्तु जिसका अस्तित्व पति के अस्तित्व का ही एक अंग था। उस युग में सामान्य नारी के प्रति भी आदर की ही भावना[5], मिलती है, नारी विशेष अर्थात् माता[6], तथा पत्नी के प्रति तो राजपूत के मन में पूजा के ही भाव थे।

---

१. सब त्रिया बुद्धि नीची गिनत। मानें न सच्च जो फुरि भनत। (पृ० रा० २१४७)

२ साँप, सिंह, नृप, सुंदरी, जो अपने बस होइ।
तौ पन इनको अप्प मन, करो बिसास न कोइ॥ (पृ० रा० २०६४)
सीता ने अग्निपरीक्षा के समय उलाहना दिया था—
पुरिस-णिहीण होंति गुणवंतिवि।
तियहे ण पत्तिज्जति मरति वि॥ (स्वयम्भू की रामायण)

३. हूँ बराकी धणी मोकियउ रोस।
पाँव की पाणही सूं कियउ रोस॥ (बीसलदेव रासो, ३३)

४ स्त्री जनम काई दीधो हो महेस। अवर जनम थारे घणा हो नरेस॥
रानह न सिरजो हरिणली। सूरह न सिरजी धोरा गाई॥
वन-खंड काली कोइली। बइसती अंब कइ चंप की डालि॥
(बीसलदेव रासो, ६५)

५. दि राजपूत ऑनर्ड हिज विमन एण्ड दो देअर लौट वाज वन ऑफ दि "अपालिंग हार्डशिप" फ्रौम दि क्रैडल टु दि क्रैमेनेशन दे शोड वन्डरफुल करेज एण्ड डिटरमिनेशन इन टाइम्स ऑफ डिफिकल्टी एण्ड परफौर्मड डीड्स ऑफ वेलर विच आर अनपैरेलल्ड इन दि हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड।
(हिस्ट्री ऑफ मैडिवियल इण्डिया, पृ० ३७)

६ दस मास उदरि धरि, वले वरस दस, जो इहाँ परिपालै जिवड़ी।
पूत हेत पेखतां पिता प्रति, घणी विसेखै मात वडी॥ ६॥
(वेलि क्रिसन रुकमणी री)

काव्य-परंपरा

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वीरकाव्य ने संस्कृत काव्य-परम्परा को न अपनाकर 'असंस्कृत' काव्य-शैली को अपनाया। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें से मुख्य यह था कि वीरकाव्य लोककाव्य था परन्तु संस्कृत काव्य केवल विशेषज्ञों का ही विषय बन चुका था, दूसरे ब्राह्मण धर्म वालों ने भी यह जान लिया था कि यदि जनता को अपनी ओर खींचना है तो जनता के ही साहित्य को अपनाना होगा। इस युग के कवि केवल राजसभा के रत्न ही नहीं बने हुए थे प्रत्युत राज्य-व्यवस्था तथा युद्ध आदि में भी सक्रिय भाग लेते थे। इस युग का चारण राजा का मन्त्री, मित्र, पंडित एवं ज्योतिषी भी होता था तथा उसका स्वामि-भक्त सैनिक भी, एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में लेखनी लेकर वह जन-जन में जीवन का संचार करने पर तुला हुआ था। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में सबसे सजीव तथा स्वाभाविकतापूर्ण काव्य वीरकाव्य ही है, उसमें चमत्कार भी मिलेगा, परन्तु केवल उसी स्तर का जिसको कि सामान्य जनता भी समझ सके। वीरकाव्य मठों या राजसभाओं में बैठकर नहीं रचा गया, प्रत्युत उत्सव या युद्ध आदि के अवसरों पर गाया गया है इसलिए उसमें सरलता और स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। किसी भी साहित्य के प्रारंभिक काव्य जिन विशेषताओं से युक्त होते हैं, वे हमको रासो काव्य में भी पर्याप्त मिल जाती हैं।

रासो काव्यों की मुख्य विशेषता यह है कि वे किसी शास्त्रीय परंपरा के रूप मात्र नहीं हैं, वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं, काल्पनिक होते हुए भी ऐहिक हैं, ज्ञान-प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से उबले नहीं पड़ते, तथा राजा-विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग-प्रतिनिधि हैं, वे राजकवियों के द्वारा लिखे गये थे फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है। इनको 'महाकाव्य' कहकर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता, क्योंकि पंडित-समाज में महाकाव्य का जो लक्षण माना गया है वह इन पर नहीं घटता।[1] यदि तुलना करना आवश्यक ही हो तो शैली की दृष्टि से इनको रामायण, महाभारत, महापुराण आदि के समकक्ष रखा जा सकता है, क्योंकि वाल्मीकि, स्वयम्भू तथा कृत्तिवास की रामायणें तथा महाभारत एवं हिन्दुओं के पुराण तथा जैनियों के महापुराण, आदिपुराण आदि सभी काव्य लोक साहित्य के वर्ग में आते हैं, विशेषज्ञ-काव्य के वर्ग में नहीं। वाल्मीकीय रामायण में यों तो केवल सात ही काण्ड हैं, परन्तु प्रत्येक काण्ड में कई-कई पर्व हैं, और पर्वों का विभाजन सर्गों में है, प्रत्येक सर्ग को एक विशेष नाम भी दे दिया गया है जिसके समाप्त होने पर कवि ने बतला दिया है कि "इत्यार्षे रामायणे सुन्दरकाण्डे लंकापर्वणि सीताविषादो नाम षड्‌विंश सर्गः", और काण्ड के समाप्त होने पर कवि बतला देता है कि "समाप्तोऽयं सुन्दरकाण्ड"। रासो काव्यों में काण्ड तथा सर्ग नहीं हैं, केवल पर्व हैं जिनको "समय" कहा गया है[2] और

१ देखिए "रासो-काव्य-शैली"।
(आलोचना की ओर) (परिवर्द्धित संस्करण, पृ० १२-२०)

२ जैनों के चरितकाव्यों में "संधि" नाम है, तथा सूफियों के आख्यान-काव्यों में "खंड"। "संधियों" की संख्या ११२ तक मिलती है, तथा "खंडों" की ५७ तक।

जिनकी सख्या ६६ तक है। विभाजन की यह शैली रासो काव्यों की एक स्वकीय विशेषता है।

रासो काव्यों की दूसरी विशेषता वस्तु-वर्णन है, जो उनके प्रारंभिक काव्य होने का फल है। यह संभव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है उसमें कवि स्वयं सम्मिलित न हो सका हो, या जिस युद्ध का चित्र खींचा जा रहा है उसमें वह स्वयं एक दर्शक न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आँखों से देखे हैं, अत अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का ब्यौरा तथा प्रत्येक वस्तु का (भेदोपभेद सहित) यथाक्रम नाम आता चला जाता है। जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलंकारों की सहायता लिया करते हैं उसका मनोहर रूप रासो काव्यों में स्थूल सत्य तथा नाम-परिगणन[1] से ही निखर उठता है। वाल्मीकीय रामायण में भी जब कवि वर्णन करने लगता है तो नामों की एक लंबी सूची तैयार हो जाती है, हनुमान् जब अशोकवाटिका में पहुँचे तो उन्होंने कौन-कौन से तरुवर देखे इसका चित्र वहाँ देखने योग्य है, इसी प्रकार जब हनुमान् सीता की खोज करके लौटे तब वानरों ने किस प्रकार हर्ष मनाया—कुछ खाने लगे, कुछ हँसने लगे, कुछ गरजने लगे, कुछ गाने लगे, कुछ दौड़ने लगे आदि आदि—यह भी अनेक क्रियाओं की लंबी सूची है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण में मनोमोदक भोज का जो वर्णन[2] किया है, या कृत्तिवास ने बँगला रामायण में दशरथ की बरात के बाजों[3] के नाम तथा गिनती[4] बताई है उसको पढ़कर एक ओर तो रासो काव्यों की परंपरा का ध्यान आ जाता है दूसरी ओर जायसी की फिर पढ़ने की इच्छा होती है। पृथ्वीराज रासो के ६३वें 'समय' में (पृ० १६६० से २००० तक) "पकवान और मिठाई

---

1. क्लासिकल संस्कृत साहित्य में वर्ण्य-विषय तो केवल "उज्जयिनी नाम नगरी" या "अच्छोद नाम सर" (कादम्बरी) ही है परन्तु अप्रस्तुत सामग्री की कोई सीमा नहीं; रासो काव्यों में प्रस्तुत सामग्री ही इतनी समावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती।

२ बहुविह मोयण मोयण—सज्जइ। सक्कर—खंडेहि पायस—पसमेहि।
लड्डुव—लावण—गुल—दुक्कहरमेहि। अन्नाय—सियनी—सिरिया—मज्जहि॥
केउर—एरोवर—उक्केहि।......

३. पाखोयाज पञ्चाश सहस्र परिमाण।
तिन कोटि सिंगा बाजे अति खरमान।
बाजे शतकोटि शंख यो धंडाजाल।
मोरंग सहस्रकोटि शुनिते रसाल॥ (३३)

४. यदि कवि विरत होता है तो अपनी असमर्थता से या पुस्तक के आकार पर दया करके ही—
प्रत्येक कहिते नाम तिलान्त प्रमाद। (४१)
प्रत्येक कहिते हय पुस्तक विस्तर॥ (४६) (कृत्तिवास)

वर्णन", "अचार वर्णन", "तरकारियाँ और गोरस वर्णन" तथा "दाल भाजी खटाई" आदि का इसी प्रकार का भाडार है।

रासो काव्यों में केवल वस्तुओं के नाम गिनाये गये हो, ऐसा ही नहीं, वहाँ पर सक्रिय चित्र भी वर्णन को मनोहर बना देते हैं; इस प्रकार के चित्र भोज या उत्सव आदि की अपेक्षा रणक्षेत्र में अधिक मिलते हैं, कही तलवारो की खटाखट है तो कहीं हाथियों की चिघाड, कही रक्त के परनाले हैं तो कही त्रस्त सेना की भगदड। जिस प्रकार वस्तुओं के परिगणन को अत्युक्ति अथवा उदात्त कहके टाला नही जा सकता, उसी प्रकार इन सजीव एव सक्रिय चित्रो को स्वभावोक्ति अलकार के अन्तर्गत नहीं रख सकते। यह शैली वीरकाव्यो की परम्परा में पीछे तक चलती रही[1] और आठ सौ वर्ष उपरान्त 'सुजानचरित' लिखने वाले मथुरा-निवासी कवि सूदन की लेखनी से दिल्ली की लूट का प्रभावशाली चित्र इसी शैली के कारण चमक उठा—

करि-करि ललकारे गली-गलयारे, तोरि किवारे पुरवारे।
गहि करनि पनारे, लहि उपरारे, उच्च अटारे पग धारे।
बज्जत कुठारे, लत्त लठारे, पौरि दुवारे भुव पारे।
ऊँचे घरवारे खडे पुकारे, हुवा कहा रे करतारे।
रव हाहाकारे घोर महा रे, बूढे-बारे चिक्कारे।
चिक्कारन् पारे धावत तारे, आरे जारे ले जारे।
लंके तरवारे देत घवारे, दिल्लीवारे बेजारे॥

इस स्थूल वर्णन का मुख्य कारण यह जान पडता है कि रासो काव्यों के विषय तथा पाठक दोनों ही कवि के सामने रहते थे—समकालीन राजा का तो वह वर्णन करता था और वह वर्णन होता था सामन्तो तथा प्रजाजनो के लिए। इसलिए ईश्वर, देवता, अवतार या महापुरुषों के वर्णन की अपेक्षा इसमें सजीवता अधिक मिलती है। इस वर्णन में पाण्डित्य का स्तर कुछ नीचा है, कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसके पाठक (अथवा, श्रोता) कुछ विशिष्ट सभासद नही थे प्रत्युत सामान्य सैनिक तथा समस्त प्रजावर्ग था।

अप्रस्तुत योजना

वीरकाव्यो के सौन्दर्य-पक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखलाई पडती हैं—एक का उद्गम संस्कृत-साहित्य से है और दूसरी का लोक-साहित्य से, संस्कृत का प्रभाव शृंगार आदि कोमल रसो में अधिक मिलता है क्योंकि इनकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी, अन्यत्र 'प्राकृत' प्रभाव है क्योंकि वह जनसामान्य की वस्तु थी। संस्कृत में पडित-परम्परा से सौन्दर्य-सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिनका पालन कवियों का कर्तव्य हो जाता था, उदाहरण के लिए किस अग के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उपयोग होना चाहिए, यह निश्चित था। रासो

---

१ तुलसी ने 'कवितावली' में लका-दहन का सजीव चित्र इसी शैली पर तैयार किया है।

काव्यों ने इस प्रवृत्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार को अधिक अपनाया है और जैसा कि स्वाभाविक है शरीरांगों के वर्णन में सम्भावना का आधार वस्तूत्प्रेक्षा ही है। महाकवि चन्द ने पद्मावती के रूप का वर्णन इसी शैली पर किया है और गजनी की सुन्दरियों के चित्र भी इसी प्रकार के हैं—

तम्बोर बोर रत्तियं। दसन्न ते सुमत्तियं॥
मनो कि डार पक्खियं। अनार ते दरक्खियं॥
हर्ल अलक्क लक्खियं। उरोज सो विलक्खियं॥
मनो कि ते उरग्गियं। कली कुसुद्ध लग्गियं॥ (६७वाँ समय)

यहाँ पर दाँत, केश, उरोज आदि के लिए जिन अप्रस्तुतों का उपयोग हुआ है वे संस्कृत साहित्य में परम्परा[1] से प्रसिद्ध थे। यह परम्परा सादृश्यमूलक दूसरे अलंकारों विशेषतः प्रतीप के साथ भी दिखलाई पड़ती है। परन्तु एक विशेष बात यह है कि शृंगार आदि रसों में भी अधिक चमत्कार वाले अलंकार परिसंख्या, विरोध, विषम, विशेषोक्ति, अपह्नुति आदि नहीं मिलते, कारण इन काव्यों का लोकस्तर ही है।

दूसरी प्रवृत्ति का आनात नाम गिनाने वाली शैली में ऊपर मिल चुका है। सौन्दर्य-वृद्धि के लिए इन काव्यों ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है, जिसके कई रूप हैं, जिनमें से मुख्य है 'सहजात्मक अत्युक्ति', जिसमें वर्णन करते हुए वर्ण्य-वस्तु की ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है। रासो काव्यों में इस अत्युक्ति का उपयोग वैभव-वर्णन, युद्ध-वर्णन तथा भोज-वर्णन तीनों ही स्थानों पर किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के ६९वें समय में "रावलजी की खातिरदारी" में कितना धनादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है[2], अन्यत्र घग्घर की लड़ाई के समय लूट में क्या-क्या और कितना-कितना मिला इसकी चर्चा[3] है, तो कवि नरपति नाल्ह यही बतलाते हैं कि राजा बीसलदेव के अभियान के समय उनके साथ कितने पैदल थे, कितनी

---

१. परमार-रासो में भी इस प्रकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—

अधरान रागु तंमोल जीभ।
जनु कमल मध्य दाड़िमय बीज।
मुसक्याय विहस मृदु मंद हास।
चवला चमकि जनु, इंदु पास।
आरुद्ध दन्त छवि परम पूर।
धनु निखिर मनहु उदवेग पूर॥ (१६२)

२ सौधी मन लं पच, साक पत्तसन तीनसम।
दही-दूध अनपाह, घृत मन अमी मनोपम।
मैदा मन पंचास, बीस मन बेसन दीनौं॥ (पृ० रा० २११८)

३. एक लख बाजित्र, सहस तीनह मद मत्तह।
तरुण एक तोखार, तेज ऐरावत तत्तह।
आराबी हथ्थिनी, सत्त सैं सत्त सु भारिय।(६५४)

पालकियाँ थीं, और कितने हाथी थे—

आठ सहस नेजा-धणी, पालकी बैठा सहस पचास।
हाथी चाल्या डोढसौ, असीय सहस चाल्या केकाण॥

यह प्रवृत्ति पाली[1] तथा अपभ्रंश के काव्यों में बहुत पहिले ही प्रचलित थी और उन्होंने भी जनता के व्यवहार से इसको अपनाया होगा। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

चउरासी लक्खइ कुंजराहं। तेत्तिय सहसइ रहवराहं।
छण्णवइ सहासइ राणियाहं। बत्तीस णिवहं सतालियहं।
सोलह सहसइ सिद्धहं सुरहं। आणायराहं पजलियराहं॥ (छत्तीसमो सन्धि)

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' में मिलता है, यहाँ न तो संख्या बतलाई जाती है और न ऊहा की सहायता लेनी पड़ती है, केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खींचकर उसकी अभिव्यंजना पर जोर दिया जाता है। हिन्दी साहित्य की यह अत्युक्ति शैली आगे चलकर बिल्कुल लुप्त हो गई, यह अत्यन्त खेद की बात है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमें इतने व्यक्ति, इतने हाथी-घोड़े मरे, और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे[2]—प्रथम को संख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक, क्योंकि इसमें पाठक के सामने एक वास्तविक रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यंजना पर पहुँचना कठिन नहीं रहता। चित्रात्मक में यदि खींचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जैसी कि फारसी के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दी साहित्य में स्थान-स्थान पर दिखलाई पड़ी।

अत्युक्ति का सहारा लेते-लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पना-लोक में जा पहुँचते हैं, उस समय उनको इस संसार की विषमताओं तथा मात्राओं का ध्यान नहीं रहता।[3] परमाल-रासो के रचयिता ने नगर का वर्णन करते हुए सभी पुरुषों को स्वेच्छानुकूल भोग भोगनेवाले देवों के अवतार, तथा सभी रमणियों को मेनका से बढ़कर रूपवती बतलाया है, आगे चलकर जायसी ने भी ऐसा ही किया। "रावल जी को

---

१ श्री ईशानचन्द्र घोष लिखते हैं—
पालिग्रन्थकारेरा बहुसंख्या द्योतनार्थ एक एकटा स्थूल संख्या निर्देशेर बड़इ पक्षपाती। जिनि धनी तिनि अशीति कोटि सुवर्णेर अधिपति बलिया वर्णित, जिनि आचार्य तिनि पञ्चशत शिष्यपरिवृत, जिनि सार्थवाह तिनि पञ्चशत शकट लइया वाणिज्य करिते जान। (उपक्रमणिका, जातक, प्रथम खण्ड)

२ लोहान तनो बज्जे लहरि, कोउ हल्ले, कोउ उत्तरै।
परनाल रुधिर चल्लै प्रबल, एक घाव एकहू मरै॥

३ सर्व भू सुर इच्छ को भोग पावैं। जबै इन्दिरापत्ति चित लगावैं॥
धरै रूप जोबान को रूप सारी। तहाँ मेनिका आदि दै अप्रधारी॥

सानिरदारी" वाले उदाहरण में कवि को यह ध्यान नहीं रहा कि जिस भोज में पांच मन आटा, पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें अस्सी मन घी नहीं लग सकता। इसी प्रकार 'आल्हखंड' में[1] आल्हा-ऊदल की खिचड़ी में जितनी हींग पड़ती बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होता ही नहीं, पढ़कर केवल हँसी आती है। परन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यों में अधिक नहीं हैं। हाँ, वैभव के वर्णन में ये कवि स्वर्ण, चन्दन, हीरा तथा पन्ना के बिना[2] चलना ही नहीं सीखे।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यों का दूसरा प्रिय प्रसाधन वह है जिसको आजकल 'ध्वन्यर्थव्यञ्जना' कहा जाता है, इसका व्यवहार भी अपभ्रंश काव्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, दोनों ही स्थलों पर शृंगार रस में भी[3] और वीर रस में भी। युद्धस्थल में उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करती है इसे सभी जानते हैं, और खड्गों की खटखटाहट, बाणों की सरसराहट, एवं घोड़ों की हिनहिनाहट का भी प्रभाव सर्वविदित है, दूसरी ओर सभी रसिक जानते हैं कि नूपुरों की छन-छन, पायल की झन-झन तथा किंकणी की कण-कण में क्या संदेश छिपा रहता है। रासो-काव्य नाद[4] को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमें नाद के द्वारा ही अर्थ तक पहुँचाने वाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यञ्जना की शैली के असंख्य उदाहरण मिलते हैं—

(१) झनन झनन भय नूपुरय।
खनन खन चूरिय भूरि भय ॥ (परमालरासो—शृंगार)

(२) हहक्कत कूदत नच्चं कमंध। कड़क्कत बज्जत छुट्टत संध।
लहक्कत लूटत तूटत भूम। झुकंत धुकंत दोऊ बम्ब भूमं ॥
(पृ० रा० २११०)

---

१. आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मां, परिगै सवा लाख मन हींग।

२ (क) चदन काठ को माड्हो, सोना को चौरी, मोती की माल।
(बीसलदेव रासो, २२)

(ख) चन्दन पाट, कपाट ई चन्दन।
सुम्भी पनां, प्रबाली सम्भ। ३६। (वेलि क्रिसन रुकमणी री)

३. लहलह लहलह लहलहए उर मोतिय हारो।
रणरण रणरण रणरणइ पग नूपुर सारो।
जगमग जगमग जगमगै कानहिं वर कुंडल।
झलमल झलमल झलमलै आभरणहँ मंडल। (जिनपद्मसूरि थूलिभद्दफागु)

४. युद्धस्थल की ध्वनियों के कुछ रूप देखिये—
भभक्कं-भभक्कं बहै रक्तधार।
सनक्कं-सनक्कं बहै बान मार।
दड़क्कं बजै सख्य मर्म्य सुघट्ट।
कड़क्क बजै सेन सेना सुघट्टं ॥

भभक, सनक, दड़क तथा कड़क का ग्रामीण भाषा में तो आज भी प्रयोग होता है; खेद है कि काव्य में कवि इन ध्वन्यर्थक शब्दों को भूल ही बैठे हैं।

'कडकत' 'दडकत', 'तूटत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उनकी क्रिया का चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है, इनमे मिलते-जुलते शब्द 'हहकत' (हाहाकार करते हुए), वज्जत (वजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्पत्ति में सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के कारण वीरकाव्यों में सस्कृत काव्य-परपरा का अधिक प्रभाव नहीं पड सका है, और न इनमें पाण्डित्य को ही प्रोत्साहन मिल पाया है; इनमें वर्णन तथा नाद की ही प्रधानता है, और किसी न किसी रूप में अत्युक्ति ही इनका प्राण है। अत्युक्तियों में अलौकिकता का एक पुट सर्वदा रहता है, जिसको आज का बुद्धिवादी आलोचक कल्पना की व्यर्थ उड़ान ही कहेगा, परन्तु जो उस समय की जनता में जीवन भरने के लिए परम आवश्यक था। चद कवि ने कुमारी सयोगिता के उत्तरोत्तर अग विकास का वर्णन करते हुए बतलाया है कि दूसरी बालाएँ जितना एक दिन में बढती हैं उतना वह एक घडी भर में बढ जाती है और दूसरी बालाएँ जितना एक मास में बढती हैं उतना वह रसवती एक पक्ष में ही बढ जाती है[1], 'राठौडराज प्रिथीराज' ने लगभग इसी बात को अपनी नायिका के विषय में इस प्रकार कहा है—

अनि वरिस वधै, ताइ मास वधै ए,
वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।१३। (वेलि क्रिसन रुक्मणी री)

दूसरा उदाहरण विरह की उस दुर्बलता का लिया जा सकता है, जिसमें वामाग की अँगूठी दक्षिण हाथ का ककण बन गई थी, और जिसका उल्लेख 'सदेश रासक' के रचयिता कवि अब्दुर रहमान ने[2] भी किया था, तथा आगे चलकर केशव तथा तुलसी ने भी। परन्तु नरपति नाल्ह की बात सीधी-सी है वह यह नहीं कहता कि अँगूठी अँगुली में से[3] खिसककर पहुँचे में आ गई, प्रत्युत उसका जोर कलाई की क्षीणता पर है—अँगूठी भी अब उसमें आने लगी है इतनी है दुर्बलता—

डावा हाथ को मूदडउ,
आवरण लागो जीवणी बाँह ।[4] (बीसलदेव रासो, ७५)

इसका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिए कि वीरकाव्यों के वर्णनो में गम्भीरता कम है, प्रत्युत अनेक स्थलो पर सीधे-साधे शब्दों में ही हृदय तक पहुँचने की शक्ति है, फलत इन काव्यों में सूक्तियाँ भी बिखरी पडी हैं। इन पक्तियों में या तो भारतीयता की दार्शनिक छाप मिलेगी, या व्यावहारिक नीति—

---

१ बढ़ै बाल जो दीह, घरिय सो बढ़ै स सुन्दरि।
और बढ़ै इक मास, पाख बढ्ढै रस-सुदरि॥ (१२६०)

२. सन्देसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ।
जो कारणुलि मूँदडउ, सो बाहडी समाइ।

३ तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होति यहि नाम।
ककन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम। (रामचन्द्रिका)

४. डावां=वाम, मूदडउ=अँगूठी, जीवणी बाँह=सीधा हाथ।

(१) भावी गति आगम बिगति, को मेटन समरथ्य।
राम, युधिष्ठिर और नल, तिन में परी अवथ्य ॥ (पृ० रा० ११८५)

(२) दव का दाधा कुपलो मेल्ही।
जीभ का दाधा नु पाँगुरई ॥[2] (बी० रा० ३७)

पृथ्वीराज रासो के ६६वें 'समय' में हम्मीर से जो बातें की गई हैं उनमें अलंकारों का चमत्कार तो है ही नहीं, 'इन वेरा हम्मीर' वाक्य की बार-बार आवृत्ति भी है, फिर भी उसकी गम्भीरता अस्वीकार्य नहीं—कितनी आगे-पीछे की सोचकर कवि ने ये पंक्तियाँ कही हैं, बार-बार दुहराना इसी बात पर जोर देता है कि समय फिर नहीं आवेगा एक बार भली भाँति सोचकर अपने कर्तव्य का निश्चय कर लो—

इन वेरा हम्मीर, नहीं औगुन वचीजै।
इन वेरा हम्मीर, छबि भ्रम्मह सचीजै ॥
इन वेरा के सिग, बर विषर जेम उभारै।
इन वेरा हम्मीर, सूर क्यो स्यार सभारै ॥ (२२२२)

पृथ्वीराज रासो

वीरकाव्यों में सबसे पहिले हमारा ध्यान 'पृथ्वीराज-रासो' की ओर जाता है जो सबसे प्राचीन तो नहीं परन्तु सबसे उत्कृष्ट रचना है। इस ग्रंथ में ऊपर कही हुई दोनों ही प्रवृत्तियों का भली भाँति विकास हुआ है, और संस्कृत-परम्परा से प्राप्त सामग्री अन्य ग्रंथों की अपेक्षा यहाँ परिमाण में भी अधिक है तथा मूल्य में भी। वस्तुतः यह ग्रंथ एक महोदधि है[3] जिसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की तरगें भिन्न-भिन्न रुचिवाले पाठकों को *तन्मय कर सकती हैं।* पृथ्वीराज रासो में सबसे स्पष्ट दीखनेवाले अलंकार सादृश्यमूलक हैं, विरो[illegible] साधारण का रंजन [illegible] शब्द को देखकर ही उपमा अलंकार न समझ लेना चाहिए, व्यवहार की भाषा में 'उपमा' शब्द का अर्थ "सादृश्य" मात्र लिया जाता है। 'उपमा कालिदासस्य' कहनेवाले विद्वानों ने भी

---

१ अग्नि से जले हुए वृक्ष पर फिर से नई कोपलें आ जाती हैं, परन्तु वचनदग्ध (जीभ का जला हुआ) फिर नहीं पनपता।

२. तुलना कीजिए—
तीयिनाल चुट्टपुन उल्लारम आरादे।
नाविनाल चुट्ट वडु ॥ (तिरुक्कुराल)
(अग्नि से जला हुआ घाव समय पाकर भर जाता है, परन्तु वाणी का घाव सदा ही पीड़ा देता रहता है।)

३. (क) इह ग्रंथ उदधि लहरीत रग। बाचत सुनत उपजै सुरंग ॥ (२५०५)
(ख) कावि-समद कविचन्दकृत मुगति-समप्पन ग्यान।
राजनीति-बोहिथ, सुफल—पारउतारण—पान ॥

'उपमा' शब्द का प्रयोग एक व्यापक—सादृश्य-प्रधान चमत्कार—अर्थ में ही किया है, आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास ने "उपमा एक अभूत"[1] कहकर सभावना को भी 'उपमा' शब्द से व्यक्त किया है। यही बात पृथ्वीराज रासो में दिखलाई पडती है, चदकवि ने उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) को ही अधिक अपनाया है, परन्तु उस सादृश्य को 'उपमा' नाम दिया है।[2]

गोस्वामी जी ने जहाँ उपमा के नाम से 'उत्प्रेक्षा' का व्यवहार किया है वहाँ अप्रस्तुत कल्पना में भी कलित हुआ करता है—अर्थात् उस अप्रस्तुत का अस्तित्व कही भी नही होता और न कही हो सकता है। गीतावली के ऊपर वाले उदाहरण में प्रस्तुत विषय है आभूषणो से युक्त राम के शरीर पर पीताम्बर, और अप्रस्तुत है बिजली का नील गगन के तारो को ढक लेना, बादलो से रहित नील गगन में तारे अवश्य चमकते हैं परन्तु बिजली वहाँ नही पहुँच सकती क्योकि बादलो के बिना बिजली का अस्तित्व असभव है, कवि ने यह असभव कल्पना प्रमादवश नही की प्रत्युत जान-बूझकर की है जैसे कि "तजि स्वभाव" से स्पष्ट हो जाता है। चदकवि ऐसी असभव कल्पना का प्रेमी नही, क्योकि वह इसी लोक का व्यक्ति था और इसी लोक के चित्र खीचकर प्रभावित किया करता था। यौवन का विकास कुच, नितब, कटि आदि कुछ विशेष अगो में पहिले लक्षित हुआ करता है, और ज्यो-ज्यो यौवन का विकास होता है त्यो-त्यो वेणी भी बढती जाती है, सयोगिता की वेणी बढ़कर के उसके उभरे हुए नितबो पर पडी हुई है, कवि ने इस सौन्दर्य के लिए बड़ी सुन्दर सभावना की है।[3] वह कहता है कि नायिका का शैशव चला गया और यौवन आगया इसलिए इस नवीन अधिकारी (जिसका निवास नितम्ब-गढ़ है) ने उस सुन्दरी की लगाम अपने हाथ में ले ली है—अब उस सुन्दरी पर यौवन का ही शासन होगा। अन्यत्र युद्ध-स्थल में बलवान् योद्धाओ के कवच कटकर गिर पडे और अगो से गाढा रक्त भरपूर बह निकला, कवि ने इस सौन्दर्य के लिए यह सभावना की है कि मानो रगरेज के घर माठ फूट जाने के कारण गहरा लाल रग नालियो में होकर अकस्मात् बह निकला हो। रक्त की लालामी, अधिकता तथा गाढ़ापन तीनो की कितनी सफल व्यञ्जना है—

> रुधी घट्ट ज्यों फुट्टि सन्नाह सारी।
> तिनकी उपम्मा कबीचद धारी।

---

१ उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील गगन पर उडुगन निरखत, तजि सुभाव मनो तडित छपाए।।
(गीतावली, बालकाण्ड, २३)

२ उप्पमा चद जपै सु अच्छ। (१०२२)
सो ओपम कविचद। (१०२३)
रिखि सेन तिन उपमा सु करी। (१०३७)
सो कवि इह उप्पम कही। (१२६५)

३ लग्गे नितब वेनिउ बढि, सो कवि इह उप्पम कही।
संसव पयान कै करतही, कामय धगी कर गही।। (१२६५)

मनो रंगरेज ग्रहे रग रारी।
जर्ल जावक सोभ पन्नार पारी। (१३६६)

चद की सभावनाओ में एक दूसरी भी मौलिकता है। वह अप्रस्तुत-योजना ऐसी दैनिक जीवन की सामग्री से करता है जिसमें एक कुतूहल होता है, कभी इसका आधार *क्रिया-साम्य* होता है और कभी *वर्ण-साम्य, प्राय साम्य का आधार शास्त्रीय पद्धति* के लिए कोई आकर्षण नहीं रखता, फिर भी पाठक को बड़ा प्रभावित करता है। क्रिया-साम्य के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

गहे दत दती उखारत सुर। मनो भील कट्ठं गिरं कद मूर॥
बहे खग्ग धार धरगे निनार। मनो चक्क पिड कुलालं उतार॥
ग्रहे ग्रत गिद्धो चढ़ै गेन मग्ग। मनो डोरि टुट्टो रसँवाय चग॥ (१३७६)

ये सभी सभावनाएँ बार-बार भी दिखलाई पड़ती है, कुम्भकार तथा उसके चक्र वाली कल्पना तो दूसरे रासो काव्यों ने भी खूब' अपनायी है। वर्ण-साम्य (आकार या आकृति का साम्य नहीं) के आधार पर यह सभावना देखने योग्य है—

निसि घट्टिय, फट्टिय तिमिर, दिसि रत्ती धवलाइ।
संसव में जुव्वन कछू, तुच्छ तुच्छ दरसाइ॥ (१०४१)

इस प्रकार की 'उपमाओं' का एक फल यह हुआ कि आगे चलकर तुलसी जैसे कवि भी "सेवत लखन सीया रघुबीरहि। ज्यों अविवेकी पुरुष सरीरहि॥" लिखने लग गये। बात यह है कि उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलकारों में जो सभावना होती है वह वस्तुगत होती है वाक्यगत नहीं, जहाँ दो वाक्यों को रखा जाता है वहाँ चमत्कार दोनों वाक्यों की क्रियाओं में होता है उनसे सबधित व्यक्तियों या वस्तुओं में नहीं, इसी हेतु उपमा अलकार का लक्षण बतलाते हुए एक वाक्य[२] का होना आवश्यक माना गया है, जहाँ साम्य भिन्न वाक्यों में दिखलाया जाता है वहाँ उपमा न होकर दूसरा अलकार होगा, यदि उत्प्रेक्षा के लक्षण में भी एक वाक्य का होना आवश्यक ठहराया जाय तो कुछ कठिनाइयों से छुटकारा मिल सकता है। युद्ध-स्थल में अश्वों की चचलता का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

---

१ कुछ अन्य परिचित अप्रस्तुतों को देखिए—

(क) गहि पाइ भुम्मि पटकं जु फेरि।
धोबी कि वस्त्र सिल पिट्ट सेर॥
(पैर पकडकर शत्रु को भूमि पर इस प्रकार पटक देते हैं जिस प्रकार धोबी वस्त्र को पकडकर पत्थर पर दे मारता है)

(ख) लगि गुर्ज सीसं दुम्र हथ्य जोर।
दधी भाजन ज्यों हरि ग्वाल फोरं॥
(दोनों हाथों से शत्रु के सिर को इस प्रकार फोड देते हैं जैसे कृष्ण दधि लूटते हुए मटकी फोड डालते थे।)

२ साम्य वाच्य मवैधर्म्य वाक्यैक्य उपमा द्वयो। (साहित्यदर्पण)

घन अश्व फेरें चलं अश्ववाहु । निन की उपम्मा कवीचद गाहं ॥
ग्रह पत्ति आगे रहै ज्योकुलट्ट । चित्त वृत्ति चल्लं अग्गं स्वामि घट्ट ॥(१०४२)
अश्वारोही के नियन्त्रण रखने पर भी चचल अश्व चलायमान हो जाते हैं जिस प्रकार कि घर में पति के सम्मुख रहने पर भी कुलटा स्त्री का चित्त चचल बनकर पर-पुरुष में पहुँच जाता है। यहाँ साम्य का आधार है "चलें" क्रिया (अश्वपक्ष में भी तथा चित्त वृत्ति पक्ष में भी), शेष सामग्री में साम्य नही है—अश्व तथा कुलटा, एव अश्वारोही तथा कमजोर पति में समानता दिखलाना कवि को अभीष्ट नही जान पडता।[1]

हमारे कवि का मौलिक सादृश्य तो मनोहर है ही कवि-परपरा का सादृश्य भी परम रमणीय है, शृगार की कोमल सामग्री में उसने अप्रस्तुत की योजना बडी स्वाभाविक बना दी है। कामिनी को कनकयष्टि कहा जाता है और वेणी को सर्पिणी बतलाना भी कवियो का प्रिय रहा है, परन्तु केशपाश को खोलकर खडी हुई सुन्दरी के चित्र में चदकवि ने इन दोनो सभावनाओं को मिलाकर एक रमणीय रूप पाठको के सामने प्रस्तुत किया है—

बाला बेनी छोरि करि, छुट्टे चिहुर सुभाय।
कनक-खभ तें ऊतरी, उरग-सुता दरसाय॥ (२५वाँ समय)

यहाँ 'ऊतरी' तथा 'उरग-सुता' पर भी ध्यान देना होगा। उतरने का अभिप्राय यह है कि नागिनी का फरा नीचे को है, फरा में जिह्वा आदि के कारण विस्तार होता है और चोटी में भी नीचे की ओर कुछ चीजें गूँथ ली जाती हैं, साथ ही यह भी व्यञ्जना है कि नायिका अभी 'बाला' है इसलिए उसकी वेणी अभी और भी बढेगी (सर्पिणी पूरी नही उतर पाई है), सर्पिणी न कहकर 'उरग-सुता' कहने से इसी भाव की व्यञ्जना होती है। अन्यत्र वय सधि का वर्णन करते हुए एक नायिका को 'घरियार'

---

१ रासो ग्रथों में वीर और शृगार की सामग्री परस्पर में प्रस्तुत और अप्रस्तुत भाव से आई है, कारण यह कि रासोकाव्यकार शृगार-विविक्त वीर या वीर-वर्जित शृगार को अपूर्ण समझता था। वीर आदि रसों में अप्रस्तुत रूप से प्रयुज्यमान कुलटा, मुग्धा, कुलवधू आदि की क्रियाएँ बडी मनोहर लगती हैं—

(क) यो आतुर रत्ते खग-मग्ग।
ज्यों कुलटान छैल-मन लग्ग॥
(वे तलवार से, आतुर होकर, इस प्रकार अनुरक्त हैं, जैसे छैलो का मन कुलटाओ में लगता है।)

(ख) सार सार मच्चो पहर, दोउ दलनि सिर मधि।
प्रौढ़ा नायक-छयल रमि, प्रात न वछै सधि॥
(दोनो दलो में घमासान युद्ध हो रहा है, वे सन्धि नही चाहते, जिस प्रकार कि प्रौढा नायिका और छैल नायक रमण में प्रलिप्त होकर प्रात काल की इच्छा नही करते।)

बना दिया है[१], जिसके नेत्र स्नेह-वारि से उसी प्रकार डूबते (तथा रिक्त होते) रहते हैं जिस प्रकार कि घड़ियाल की घड़ी।

यह दुहराना आवश्यक-सा जान पड़ता है कि चदकवि का सादृश्य पर असाधारण अधिकार है, उसका क्षेत्र बड़ा व्यापक था और युग की प्रवृत्ति का ध्यान रखते हुए उसने अपने अप्रस्तुत व्यापक जीवन से लिए हैं। युद्ध-स्थल की समानता कहीं यज्ञ-स्थल से है कहीं पावस[२] ऋतु से, और कहीं रत्नाकर से[३], तो कभी सेना को पारधि[४] बतलाया है और कभी सर्प[५]। इस प्रकार के सभी वर्णनों में "उपम्मा" शब्द का सयोग है, तथा "मनो" वाचक शब्द बनकर आया है। पावस को अप्रस्तुत तो इतने स्थलों पर बनाया गया है कि उनकी गिनती नहीं हो सकती[६], उस परम्परा के दूसरे काव्यों में भी ऐसी प्रवृत्ति है[७], जिससे जान पड़ता है कि वीरों में पावस को अप्रस्तुत बनाने की एक सामान्य प्रथा रही होगी। यह तो निश्चय है कि ये लम्बे-लम्बे सादृश्यप्राण वर्णन युद्ध-स्थल, सेना, युद्ध आदि वीर रस के स्थलो पर ही हैं, परन्तु इन वर्णनों में अलकार कौनसा माना जावेगा ? कवि ने प्राय. "उपम्मा" शब्द का प्रयोग किया है, "मनो" तथा "जनु" से उत्प्रेक्षा जान पड़ेगी, परन्तु प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अग प्रत्यगों की यथा-नियम समानता देखकर साग रूपक की-सी गध आने लगी है। व्यवहार में जिस प्रकार प्रत्येक सादृश्य (उपमा हो या उत्प्रेक्षा) 'उपमा' ही कहलाता है, उसी प्रकार प्रस्तुत-अप्रस्तुत में अग-प्रत्यगों की समानता दिखलाते हुए सादृश्य कथन "रूपक बाँधना" कहलाता है, वाचक शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, इस हेतु इन स्थलों पर हम भी "रूपक बन्ध" नाम को अधिक उपयुक्त समझते हैं, सागोपागता रूपक का ही विशेष गुण है इस बात पर ध्यान देना चाहिए। लोक-साहित्य में रूपक का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, यह बात भक्तिकाव्य के अध्ययन से भी प्रत्यक्ष हो जाती है।

चदकवि को सागरूपकों से भी प्रेम था, उनके यहाँ। वीरकाव्य की परम्परा के अनुसार प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में से एक शृगार रस का होता है और दूसरा वीर रस का। कवि युद्ध का वर्णन करते हुए रति का ध्यान दिला देता है और रति का वर्णन करते हुए युद्ध का (दोनों उत्साह के व्यजक हैं)—

> साज गहु लोपत, अहिय रद सन दक रज्ज।
> अधर मधुर दपतिय लूटि अब ईव परज्ज।
> अरस प्ररस भर थक, खेत-परजक पर्टविक्रय।
> भूषन टूटि कवच्च, रहे अध बीच तटविक्रय।

---

१ बर संसय अच्छर नहीं, जोवन जल बर मैंन।
बाल घरी घरियार ज्यों, नेह नीर बुडि नैन॥ (१०८४)

२ पृ० १०६२। ३. पृ० १०७३।

४. पृ० १००१। ५ पृ० १००१।

६. पृ १००१, १०३३, १०६२ आदि।

७ परमाल रासो पृ० ४१५, वेलि क्रिसन रुकमणी री पृ० ११७।

नीसान थान नूपुर बजिय, हाक हास करषत चिकुर।
रति वाह समर सुनि इछिनिय, कौर कहत बत्तिय गहर। (१६७६)

इस उदाहरण में 'खेत-परजक', 'भूषन-कवच्च', 'नीसान-नूपुर', तथा 'हाक-हास' आदि अगो में प्रस्तुत-अप्रस्तुत की भावना देखकर 'रति-समर' में साग रूपक की झलक माने लगती है। परन्तु कवि का ध्यान क्रिया-साम्य पर अधिक है—रासो ग्रन्थ वस्तु तथा गुण की अपेक्षा नाद एव क्रिया को अधिक पहिचानते थे। रति में लज्जा का लोप हो जाता है युद्ध में भी कुछ वस्तुएँ लुप्त हो जाती हे (कौनसी वस्तुएँ ? इससे कोई मतलब नही), रति में अधररस की लूट हुई, युद्ध में भी लूट होती है (किसकी ? इसकी आवश्यकता नही), 'लोप होना' तथा 'लूट होना' ही साम्य का आधार है। रति में नायक नायिका को अक में भरकर पर्यंक पर पटक देता है, युद्ध में भी एक योधा दूसरे योधा को धर पटकता है, यही 'पटकना' क्रिया साम्य का आधार है, अन्यत्र भी साम्य क्रियाओ पर आश्रित है।

ऊपर हमारा ध्यान वीरकाव्यो की ध्वन्यर्थ व्यञ्जना की ओर गया था, पृथ्वीराज रासो में इसकी भरमार है, साथ ही ध्वनि मात्र का भी बडा आग्रह है, प्राय अनुस्वारों का प्रयोग तथा वर्णों का द्वित्व इसके साधन हैं जहाँ ध्वन्यर्थ की व्यञ्जना न हो वहाँ भी ध्वनि एक अपेक्षित वातावरण के निर्माण में बडी सहायक होती है। अन्य वीरकाव्यों की भाँति पृथ्वीराज रासो में अत्युक्तियाँ भी असख्य हैं, परन्तु इसकी रूपात्युक्तियो की एक विशेषता यह है कि वे व्यञ्जनाप्रधान हैं—उनके अभिधेय अर्थ में तो कोरी कल्पना ही मिलेगी परन्तु अभिप्रेय अर्थ बडा मार्मिक है। सयोगिता के रूप का वर्णन करते हुए तोता बतलाता है कि उसका शरीर इतना सुन्दर है कि हाथ से छूते ही मैला हो जाने की आशका होती है—

सुनि इछिनि बर जोइ।
कर छुवत मैला होइ॥ |

पिछली पक्ति कहावत के रूप में अभी तक जनसाधारण में प्रचलित है जिसके द्वारा केवल रमणी की ही नही वस्तुओं की आभा का भी वर्णन किया जाता है। चदकवि ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब दम्पति आपस में बातें करते हैं तब पति के मुख की भाप पत्नी के दर्पण जैसे आनन पर जाकर जम जाती है, इस वर्णन में रमणी के आनन की चमक तथा शीतलता दोनो की व्यञ्जना होती है साथ ही नायक के श्वास में गर्मी उसके यौवन तथा बल की द्योतक है—

मुख कहत कन्त सु बत्त। तिय बदन धूम सरत्त॥
सुनि कहत ग्रीषम ताइ। मुख सम द्रप्पन झाइ॥ (१६८१)

चदबरदाई कल्पना का भी बडा धनी था। इसमें सन्देह नही कि उसके आकाश-पाताल के कुलाबे नहीं मिलाये, परन्तु पुरानी बात को नवीन प्रकार से कहकर रमणीय बनाने की जो कला विद्यापति की कु जी है वह चदकवि में पाई जाती है। नायिका के स्तन-युग्म को ऐरावत के समान तथा उस पर बने नखचिन्हो को अकुश के अक कहना पुरानी परिपाटी है, चद ने इसको एक नया रूप दे दिया है। नन्दनकानन

को छिन्न-भिन्न कर देने वाला इन्द्र का मदोन्मत्त हाथी ऐरावत भयभीत हो गया और उसकी हृदयरूपी रसनदी में छिपकर विहार करने लगा, स्तन-युग्म उस हृद-नद से बाहर निकला हुआ कुम्भस्थल है जिस पर मदजल की श्यामता दिखाई पड रही है, परन्तु भाग्य में कुछ और ही लिखा था रति के समय (इन्द्र के अवतार) पृथ्वीराज ने अपने नखाकुश से उस कुम्भस्थल को विदीर्ण कर दिया—

> ऐरापति भय मानि, इंद्र गज बाग प्रहारं।
> उर सजोगि रस-नदि, रह्यौ दबि करत विहार।
> कुच्च उच्च जनु प्रगटि, उकसि कुम्भस्थल आइय।
> तिहि ऊपर स्यामता, दान सोभा सरसाइय॥
> विधिना निमल मिट्टत कवन, कोर कहल सुनि इंछनिय।
> मनमथ्थ समय प्रथिराज फर, करजकोस अकुस वनिय॥

परमाल रासो

वीरकाव्य लिखने वालो का नेता चदबरदाई था, जो कुछ उसने अपने रासो में लिखा प्राय उसी का अनुकरण दूसरे कवियो ने किया, और जितना उसने लिखा उतना दूसरे न लिख पाये। इसलिये जो प्रवृत्तियाँ सामान्यत सभी वीरकाव्यो में पाई जाती हैं उनके अतिरिक्त यदि कुछ विशेषताएँ मिलती है तो केवल पृथ्वीराज रासो में ही। परमाल रासो के विषय में भी यही नियम ज्यो का त्यो लागू होता है। इसमें वर्णनो की उसी परम्परा का निर्वाह है, अत्युक्ति का बोलबाला है, नाम तथा सख्या का आग्रह है, चित्र खीचने की ओर झुकाव है, नाद का आदर है तथा क्रिया का सम्मान है। सादृश्य से प्रेम तथा शास्त्रीय चमत्कार का अभाव मिलेगा। वीर आदि रसो में जनप्रिय सामग्री इस काव्य में भी दिखलाई पडती है। सेल[1] के लगने से छाती फटने तथा रक्त बहने का वर्णन करते हुए कवि ने यह सम्भावना की है कि मानो जावक[2] के माठ के टूटने पर नालियो में होकर जावक बह निकला हो, इस प्रकार की कल्पना हम ऊपर भी देख चुके हैं परन्तु केवल लाल रग न कहकर 'जावक' कहने से एक व्यञ्जना वैधव्य की भी होती है, क्योंकि जावक के पात्र का फूट जाना सौभाग्यवती नारी के लिए अपशकुन माना जाता है—किसी योधा की छाती में सेल का लगना भी तो किसी सौभाग्यवती के अलक्तक पात्र का टूट जाना है। क्रिया-साम्य देखकर तलवार से शिर काटना तथा कुलाल[3] चक्र से मिट्टी का बर्तन उतारना, इन दोनो की तुलना पृथ्वीराज रासो के समान यहाँ भी है। साथ ही तेग से तरबूज के समान सिर को काटकर पृथ्वी पर गिरा देना[4], या फरसा से सिर को उस तरह से फाँकें करना जिस प्रकार कि तरबूज की करते हैं[5], इस काव्य की अपनी सूझ है, गदा आदि से सिरो को फोड देना

१ सल (स०) बरछी।
२ अलक्तक (स०) महावर, जिससे सौभाग्यवती स्त्रियाँ अपने पैर रँगती हैं।
३ बहे तेग सीसं सु सूर न हारं। मनो मृत्त् पिंड कुलाल उतारं॥ (४४३)
४. बहे तेग कम्म करं सीस न्यारे। परं टूट्ट तरबूज धरनी पसारे॥ (४५)
५. बहे सीस फरसा सिर फाक होई। मनो कहिये फार तरबूज सोई॥ (४४३)

तथा कृष्ण का दही की मटकी फोडकर लीला करना[1], इन दोनो की समानता भी अद्भुत लगती है, परन्तु इसमें योधा के मन का उल्लास और विनोद भली भाँति व्यक्त होता है—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उस युग में मरना-मारना सबसे प्रिय तथा सबसे प्रतिष्ठित मनोविनोद था।

जायसी के वर्णनो में एक चमत्कार यह बतलाना है कि सिंह वन में जाकर क्यो रहने लगा[2], या भिड पीली क्यो होती है[3], या तोते की चोच लाल क्यो है[4], चदबरदाई ने भी इस रुचि का सकेत किया है[5], परन्तु परमाल रासो में इस प्रकार की सभावनाएँ अधिक चमत्कारपूर्ण हैं. शृगार के प्रसग में कवि ने यह बतलाया है कि सिंह वन में जाकर क्यो रहता है और हस्तिनी की सूँड सिकुडी हुई क्यो होती है—

कटि की बहु सोभ निहार छय। लजि कठि रव बनराज गय॥
सुभ ऊरव जघ सु सोभमय। लजि सुडिनि सुड सकोर लय॥ (२७४)

ध्वन्यर्थव्यञ्जना के समान ही नाद-सौन्दर्य का एक नया रूप परमालरासो में मिलता है, जिसका अनुकरण कबीर के कुछ पदो में तथा जायसी के 'अखरावट' में भी है[6], और *यह मानना पडता है कि यह एक लोक-प्रचलित प्रवृत्ति का ही प्रभाव है जिसका* निर्वाह आगे भी लोक-कवि करते रहे, क्योकि जायसी आदि ने इस प्रणाली को जनता से ही लिया होगा किसी काव्य से नही। इस प्रणाली के अनुसार अकारादि क्रम से वर्णमाला के सभी वर्णों को किसी एक निश्चित वर्ण के सयोग में यथाक्रम रखकर एक निरर्थक ध्वनि-जाल तैयार हो जाता है[7] परमाल रासो में युद्ध-स्थल में मकार तक इसका सुन्दर रूप दिखलाई पडता है—

कह-कह सुबीर कहत। खहखह सु सभु हसत॥
गह-गह सुगोरिय गग। घह-घह सु घुमडि तरग॥
टह-टह सु बुल्लिय मोर। ठह-ठह सुसन मुख सोर॥
डह-डह सु डौरुव बज्जि। ढह-ढह सु सिव वृष सज्जि॥ (८१)

साधारण दृष्टिपात से तो ऐसा जान पडता है कि कवि ने प्रत्येक वर्ण के साथ

---

१. बहे अग सीस सु अप्पार मार। किधौं कान्ह फोरत दधि ग्वाल सार॥ (४४३)
२. सिंघ न जीता लक सरि, हारि लीन्ह बनवासु॥ (जायसी ग्रथावली ४७)
३. परिहँस पियर भए तेहि बसा। (जा० ग्रथावली ४७)
४. ओहि रकत लिखि दीन्हीं पाती। सुआ जो लीन्ह चोच भइ राती॥ (जा० ग्र० ९६)
५ देखत औप तुरग। तब भयौ काम अनग॥
उप्पनी देखि सु हस। जौ लियौ बन कौ ग्रस॥
सुनि कोकिला कलराव। भयौ बरन स्याम सुभाव॥ (पृ० रा० १९८२)
६ जायसी ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थ 'अखरावट' में दोहे तथा सोरठे के बाद प्रथम चौपाई नवीन वर्ण से प्रारम्भ की है; जैसे 'का-करतार चहिय अस कीन्हा' (क) 'खा-खेलार जस है दुइ करा' (ख), 'गा-गौरहु अब सुनहु गियानी' (ग)।
७ इस प्रणाली को 'ककहरा' कहते हैं।

है जोड़कर उस पद की आवृत्ति कर दी है, और 'कह-क्कह' आदि शब्द बना लिए हैं। वस्तुतः सभी पद निरर्थक नहीं है, जिस प्रकार "खह-खह" किसी के हास्य से चिढ़ने में आता है[1], "घह-घह" जल के घुमड़ने का[2] तथा "डह-डह" डमरू की ध्वनि का नाम है। यह एक दूसरा ही प्रश्न है कि काव्य में इस प्रकार की ध्वनि-योजना सौन्दर्य-वर्द्धक है या नहीं, परन्तु पृथ्वीराजरासो की यह एक विशेषता है, इसमें सन्देह नहीं। वीर काव्य का प्राण नाद तथा अत्युक्ति था, सम्भव है कलहरा-प्रणाली का भी उस समय इसीलिए स्वागत होता हो।[3]

पृथ्वीराज रासो में 'रूपक-वन्ध' के सौन्दर्य पर हम विचार कर चुके हैं, परमाल रासो में भी उस प्रकार के कुछ निदर्शन हैं, परन्तु उनमें न तो 'उपम्मा' है और न 'मानों', हाँ शृंगार तथा वीर का प्रस्तुत-अप्रस्तुत समानान्तर वर्णन उसी प्रकार चलता है। एक ओर 'सूर' हैं, और दूसरी ओर 'परी' (अप्सरा), दोनों की तैयारियाँ एक-दूसरे की समानान्तर (समान) हैं, मानो उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव हो—

इतै टोप टंकार सिरक्कस लाग। उतै अच्छरी कचुकी कसिय अग्ग॥
इतै सूर मोजा बनावंत नाए। उतै अप्सरा नूपुर पहिर पाए॥
इतै सूरमा पाय पै सिलह डारै। उतै मुंड रम्भं सु माँगै समारैं॥
कहीं कवि चंद निरख्यौ सु मोऊ। बरन्नै समान परी सूर दोऊ॥(३४७)

इस प्रवृत्ति का उद्गम भी हमको अपभ्रंश के काव्यों में मिलता है, महापुराण में इस प्रकार के कई वर्णन हैं, १५वीं सन्धि में सेना तथा नदी का ऐसा ही समानान्तर वर्णन 'सरि छज्जइ' तथा 'दलु छज्जइ' पदों की बार-बार आवृत्ति से किया गया है, ३७वीं सन्धि में सन्ध्या तथा पर्वत का समानान्तर वर्णन 'गिरि सोहइ' तथा 'जिण सोहइ' पदावली में भी देखने योग्य है। महापुराण में सबसे रमणीय समानान्तर वर्णन गंगा तथा कान्ता का है, मन्मथवाहिनी अपनी गृहिणी का जो रूप था वही रूप जनसुख-दायिनी मदाकिनी में राजा ने देखा—

जोयवि गंगहि सारसह जुयलु। जोयइ कंतहि थणयलु जुयलु॥
जोयवि गंगहि सुललिय तरंग। जोयइ कंतहि तिवली तरंग॥
जोयवि गंगहि आवत्तमवण। जोयइ कंतहि वरणाहि रमण॥

---

१. जब हमको किसी की हँसी बुरी लगती है तो हम चिढ़कर उससे कहते हैं कि क्यों "खह-खह" करता है।

२. देवरवि ने बादलों के घुमड़ने के लिए 'घहर' ध्वनि का प्रयोग किया है—
छहर-छहर छीनी बूँदें हैं परति मानो
घहर-घहर घटा घिरी है गगन में॥

३. आगे चलकर सूदन कवि ने तो केवल निरर्थक ध्वनियों के प्रयोग द्वारा ही आतंक का प्रभावपूर्ण चित्र खींचा है :—
धड़द्धधर, धड़धद्धरं। भड़भ्भभरं, भड़भभभरं।
तड़-तत्तर, तड़-तत्तरं। कड़-क्कर्रर, कड़ क्करर॥

(ख) घड क्यूं कुडइ ढाकणइ जाई ?
रतन छिपावों क्यूं रहई ? (४२)

(ग) कान दिइा, पग दुर रहा
मुहडा आडों दीजो हाथ ॥[1] (५३)

(घ) जाई जोवन, धन मसलें हाथ। जोवन नवि मिलइ दीह ने रानि ॥[2]
जोवन राख्यो न रहई। जोवन प्रिय विण होसीय छार॥ (४३)

इनमें से अधिकतर सूक्तियाँ उक्तिमूलक अलकारों का काम देती हैं, जिस प्रकार विशेष से सामान्य का समर्थन करनेवाली यह उक्ति—

तो भी भली दमयन्ती नारि
नल राजा मेल्हे गयो
पुहवि सबी नहीं निगुण संसार। (६४)

नरपति नाल्ह की उक्तियों के सौन्दर्य में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, जिस प्रकार राजा की चिर-प्रतीक्षा करती हुई रानी का यह कथन कि तू केवल एक बार लौटकर घर आजा मैं तेरे पथ को अपने केशों से झाड़कर सुखद बना दूँगी—

एक सारा घरि आवज्यो
बाट बुहारूँ सीर का केस॥ (७५)

बीसलदेव रासो में न तो सादृश्यमूलक अलकारों का आग्रह है, न "रूपक-बंध" या "उपम्मा" का, और न समानान्तर सादृश्य का ही कोई उदाहरण मिलेगा, यहाँ साम्यवाचक शब्द "सो" (जोसो), "ज्यूं", तथा "ईस" पाये जाते हैं। जिन साम्यों के लिए "ज्यूं" वाचक शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें आलकारिक चमत्कार तो नहीं है परन्तु जनसाधारण में कहावत बनी हुई उक्तियां साम्य के भीतर मार्मिकता लिये हुए हैं—

(क) आँसूं ढाल्या मोर ज्यूं (५०)
(ख) खेत कमाती जाट ज्यूं (७६)
(ग) जोवन राख्यो चोर ज्यूं (८४)

यह प्रसिद्ध है कि मोर अपने सुन्दर पखों को देखकर हर्ष से फूला नहीं समाता,

---

१. कान सबके पास रखो, पैर दूर रखो (छिपाओ) और अपने मुंह पर हाथ रखो; अर्थात् सबकी बात सुन लो, परन्तु किसी के कथनानुसार काम मत करने लग जाओ और अपने मन की बात किसी से मत कहो।

२. तुलना कीजिए—
ऊजड खेड़ा भँवरजी फेर बसे जी
हां जी ढोला निरधन के धन होय।
जोवन गये पछै क ना बावडे जो
ओ जी थाने लिखूं बारम्बार।
जल्दी घर आओ जी,
म थारी धण एकली जी॥ (मारवाड़ी गीत)

परन्तु जैसे ही उसको अपने कुरूप पैरों का ध्यान आता है, उसके मन में गहरी व्यथा जग जाती है, नाचना बंद हो जाता है और आँखों में से टप-टप आँसू गिरने लगते हैं, ठीक इसी प्रकार जब किसी दुर्मदोन्मत्त व्यक्ति को अपने दोष या अपनी किसी अपरिहार्य दुर्बलता का ध्यान आ जाता है तो उसके नेत्रों से परवश अश्रुजल बहने लगता है, सर्वसम्पन्ना रानी को जब अपने पति की निष्ठुरता चुभने लगी तो उसकी भी यही दशा हुई।

"ईम" वाचक शब्द का प्रयोग नरपति ने सादृश्य के लिए किया है, जिस प्रकार दावाग्नि से झुलसी हुई लोमडी उसी प्रकार प्रिय के वियोग में रानी झुलसकर दुर्बल होती गई, यहाँ साम्य का आधार केवल दुर्बलता है, रानी को लोमडी के समान[1] समझने से कथन में गंभीरता न रहेगी—

जाणे दव दाधी लोंवडी,
दूबली हुई झूरइ ईम नाह। (७५)

डा० रामकुमार वर्मा का ध्यान नरपति के एक अद्भुत सादृश्य की ओर[2] गया है, उसने अँगुली को मूँगफली के समान बतलाया है, यह कवि की अपनी सूझ है जिसमें जनता का ऋण स्वीकार करना पड़ता है, आज भी तीन गाँठवाली लम्बी मूँगफली (जो दो गाँठवाली छोटी मूँगफली से भिन्न जाति की होती है) की चर्चा करते हुए अपनी अँगुली को दिखाकर यह बतलाया जाता है कि वह मूँगफली जैसी है; हमारे कवि ने अँगुली को प्रस्तुत विषय देखकर मूँगफली को अप्रस्तुत बना लिया है—

मूँगफली-सी आँगुली।[3] (६६)

वीसलदेव रासो में अत्युक्ति, रूपक तथा उपमा अलंकार तो मिलते हैं परन्तु वस्तूत्प्रेक्षा, जो उस युग की कुंजी थी, यहाँ दिखलाई नही पड़ती, यह एक आश्चर्य की बात है। वस्तुतः हमारा कवि उक्तियों से ही अधिक प्रेम करता है, दूसरी सामग्री से कम। सास ने वधू से कहा कि हे वधू, तू घर में चली आ, कहीं चन्द्र के धोखे में राहु तुझको (तेरे मुख को) निगल न जाय—

सासु कहइ—"बहु घर माँहि आव।
चंद कह भोलइ तोहि गील्लसइ राहु॥ (७२)

इस उक्ति में जो व्यञ्जना है वह कोरे अलंकारों के भाग्य में कहाँ थी?

वीसलदेव रासो का एक प्रयोग अवश्य ध्यान आकृष्ट करता है, उदास रानी का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—'बादल छायो है चन्द्रमा', यहाँ 'मुख' के लिए 'चन्द्रमा' का प्रयोग काव्यशास्त्र के रूपकातिशयोक्ति अलंकार है, परन्तु 'उदासी' के लिए

---

१ रानी को लोमडी बनाने में प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि अवश्य अपना समर्थन पा सकते हैं।

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १५१।

३. उस्मान ने 'चित्रावली' में यह अप्रस्तुत कोमलता के लिए रखा है—
विद्रुम-बेलि सो आँगुरी दीसी। यह कठोर यह मूँगफली-सी॥ (पृ० ७५)

'बादन छा जाना' क्या कहा जायगा, यह एक विवादास्पद विषय है, जिस पर जायसी के प्रसंग में विचार करेंगे।

राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ काव्य-परम्परा में भी परिवर्तन आता गया और वीरकाव्य का वह जनसाहित्य भी धीरे-धीरे पंडितों के हाथ में चला गया, यहाँ तक कि आगे चलकर वीरकाव्य लिखनेवाले भूषण, लाल तथा सूदन भी रासोकाव्य की स्वाभाविक मनोहरता को छोड़कर रीतिकालीन चमक-दमक में फँस गये। जिन कवियों का राजपूताने के जीवन तथा साहित्य से अधिक सम्पर्क रहा उन्होंने पुराने काव्य को पढ़कर उसकी प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वह स्वाभाविक प्रवाह न आ सका, 'हम्मीर रासो' का नाम भी पुरानी परम्परा का है तथा प्रयत्न भी, परन्तु जो कमी पीछे के वीरकाव्य में दिखलाई पड़ती है वह यहाँ भी है, 'अबला', तथा 'बेगम' शब्द पर खिलवाड़ हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देगी—

(क) कवि लाखन अबला कहत, सबला जोध कहत।[1]
दुबला तन में प्रगट जिहि, मोहत सन्त असन्त॥ (पृ० ३२)

(ख) बेगम जाति जु तीय की, इन मरिबे मन दीन॥[2] (पृ० ५४)

यदि रासोकाव्यों की तुलना में भूषण आदि के काव्यों को रखकर अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि दोनों में आश्रयदाताओं की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की गई है, फिर भी दोनों एक ही जाति के नहीं हैं, रासो काव्य का जनता के जीवन से इतना घनिष्ठ मेल है कि उसको दरबारी कहना उचित नहीं जान पड़ता, परन्तु पिछले वीर-काव्य राजसभा में बैठनेवाले कुछ विशेषज्ञों के ही मनोविनोद के साधन हैं, जिसका मुख्य प्रमाण उनमें रासोकाव्य के स्वाभाविक सौन्दर्य का अभाव है।

---

१. अन्य कवि (अथवा लाखन कवि) उसको अ-बला कहते हैं, परन्तु जोध कवि उसको स-बला मानते हैं, क्योंकि यह प्रगट है कि वह सन्त तथा असन्त सभी को मोहित कर दुर्बल बना देती है।

२. स्त्री को बे-गम (जिसको कोई गम = शोक न हो) कहा जाता है, इसीलिए वह मरने (मारने = दूसरों का प्राण हरने) की ठान लेती है।

: ३ :

सूफी काव्य

पृष्टभूमि

मुसलमानों के आक्रमण[1] वीरगाथा-काल में ही प्रारम्भ हो गये थे परन्तु उस समय वे अपने छोटे राज्य के भीतर रहनेवाली जनता में राष्ट्रीय भावना भरने के कारण बने। मुसलमानों की युद्ध-नीति राजपूतों के आदर्शों से भिन्न थी, उसमें पराजय का अर्थ लड़ते-लड़ते प्राण त्याग न था और न मित्रता का अर्थ सदा परस्पर प्रेम-भाव ही था, फलस्वरूप बार-बार पराजित होकर अपने प्राण बचा लेने वाले आक्रमणकारी अन्त में विजयी बन बैठे, और एक के उपरान्त दूसरा तथा दूसरे के उपरान्त तीसरा राज्य उनके हाथ में जाने लगा। राजपूतों में अब भी आदर्शवाद चल रहा था, वे जिसको मित्र कह दें उसके साथ विश्वासघात कैसे करें, और जो गुणों में नीचा है उसके पास जाकर उससे यह कैसे समझावें कि उसको विदेशियों की सहायता न करनी चाहिए। तीन सौ वर्ष के संघर्ष ने हिन्दू-समाज को खोखला कर दिया, विजय उसका ध्येय था परन्तु विदेशियों की कपट-नीति[2] के कारण वह भी स्वप्न बनकर रह गया, सारे उत्तर भारत में विदेशी शासन या कम-से-कम विदेशी आतंक छाने लगा। राजपूतों ने उत्तर भारत को छोड़कर राजस्थान में शरण ली, परन्तु उनको ईश्वर का प्रतिनिधि तथा अपना पिता समझनेवाली प्रजा को तो उसी उत्तर भारत की म्लेच्छा-क्रान्त भूमि पर रहना था। प्रजा ने अपने मन को समझाया कि ईश्वर की महिमा अपार है वह किसी को धनी और किसी को भिखारी[3] बनाता है, यदि वह राजा को भिखारी और रंक को राजा बना दे तो उसका हाथ कौन पकड़ सकता है[4]। अत पितृ-तुल्य शासकों का मोह छोड़कर अब जनता ने विदेशियों को ईश्वर द्वारा नियुक्त अपना शासक मान लिया।

शासन का परिवर्तन तो इतना न खला केवल भाग्यवाद में अकर्मण्यता का रंग

---

१ सब हिन्दु-जनपदन मँह, होन लगे उतपात। (परमाल रासो, ५५२)
बेद बिप्र नहिं पढय, सुरभि मारत मद गति। (वही, ५५३)

२ शहाबुद्दीन ने तत्तारखाँ तथा खुरासान खाँ से कहा था—
मत्र सोद जिन भेद, भेद बिन मतो न कोई।
भेद बन्ध बल सोइ, भेद देखै सब कोई॥ (पृथ्वीराज रासो)

३ कीन्हेसि कोइ भिखारि, कोई धनी। (जा० ग्र० २)

४. (क) राजहि करसि भिखारि तौ, कौन गहे तुम्र हाथ। (चित्रा० २३२)
(ख) छत्रहि अछत, निछत्रहि छावा। दूसर नाहि जो मरवरि पावा॥
(जा० ग्र०, ३)

घोन गया[1] परन्तु सामाजिक परिवर्तन असह्य हो गये। हिन्दुओं के ही सामने उनके मन्दिर तोड़े गये, उनके शास्त्र जला दिये गये, उनकी महिलाओं का अपमान हुआ, और द्विजों को म्लेच्छों की दासता करनी पड़ी। हिन्दुओं की सामाजिक भावनाओं को प्रतिहिंसापूर्वक जीर्ण-शीर्ण कर डाला गया। फल उलटा ही हुआ, इस वीर जाति ने आक्रमणकारियों को यह दिखा दिया कि किसी भी जीवित जाति को तहस-नहस नहीं किया जा सकता। दूरदर्शी विधर्मी इस बात को समझे कि समाज का अभिजात वर्ग मुसलमान नहीं बन सकता और बलपूर्वक तो निम्न वर्ग को भी निगल जाना सम्भव नहीं[2]। अस्तु कुछ समझदार मुसलमान प्रचारक की सच्ची भावना से देश के उस भीतरी अपरिचित भाग में घुस गये[3] जहाँ अभी तक मुसलमानों का नाम न था, और प्रेम की कहानियों[4] तथा जादू-टोने के चमत्कारों से भोली-भाली जनता को अपना अनुयायी बनाने लगे। साहित्य में इनको 'सूफी कवि' अथवा 'प्रेममार्गी' कवि कहा जाता है।

सूफी कवि

विद्वानों ने 'सूफी' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं परन्तु यह मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि जिस प्रकार भारत का 'सन्त' शब्द एक आचरण विशेष का द्योतक है उसी प्रकार मुसलमान समाज में 'सूफी' शब्द से प्रेम तथा त्याग का संकेत मिलता है; सम्भव है जिस प्रकार भारतीय सन्त के साथ गैरिक वस्त्र लग गया है उसी प्रकार सूफी के साथ पीछे के विद्वानों ने बकरी या भेड़ के ऊन को बाँध दिया हो। अलबरूनी ने सूफी शब्द के अन्य अर्थों को अवगत मानते हुए उसका आदि प्रयोग 'ज्ञानी' (पैलासोफा [ग्रीक] = ज्ञानानुरागी) अथवा 'सन्त' के अर्थ में ही स्वीकार किया है[5]। सूफियों के सिद्धान्तों में दो बातें मुख्य हैं—प्रथम, अपनी कामनाओं को

---

१. (क) मानुष साज लाख मन साया। होइ सोइ जो विधि उपराजा॥ (११६)
(ख) कैनो धाइ मरे कोइ बाटा। सोइ पाव जो लिखा लिलाटा॥
(जा० ग्रन्थावली, २६६)

२. दोज पीपल विल हार्डली मोल्ड टु फ़ोर्स ऑर परसुएशन, ओनली ए सिम्पेथेटिक इंटरकोर्स माइट इनक्लाइन देम टु इस्लाम। (डा० हबीबुल्लाह द्वारा "फ़वाइदुल फ़ुवाद" से उद्धृत, पृ० ३०२)

३ ओन दि विहेस्ट ऑफ दि मुर्शिद हो ट्रैवल्ड टु डिस्टेंट कंट्रीज एंड सेटल्ड डाउन विद ए ट्रू मिशनरी ज़ील अमंग अनफ़ैमिलियर एंड ईवन होस्टाइल पीपल। (दि फाउंडेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० २८२)

४. सुरुज चाँद कै कथा जो कहेऊ। पेम क कहनि लाइ चित गहेऊ॥ (जा० ग्र०, ३२)

५. अलबरूनीज इंडिया, सम्पादक डा० एडवर्ड सी० साचू, भाग I।
दिस इज अमंगस्ट दि थ्योरी ऑफ दि सूफीज, दैट इज, दि सेजेज, फ़ोर सूफ़ मीन्स इन ग्रीक विज़डम। देयरफ़ोर ए फ़िलोसोफ़र इज कॉल्ड पैलासोफा, दैट इज लविंग

पूर्णत ईश्वराधीन कर देना[1], द्वितीय, गुरु की अनन्यभक्ति[2]। वे ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा ईश्वरीय अनुग्रह तथा परलोक-सुधार को अधिक महत्त्व देते हैं, पाप तथा उसके दण्ड का इनको औरो की अपेक्षा अधिक ध्यान रहता है, एवं धर्म के बाहरी रूप का इनके यहाँ कोई मूल्य नहीं। सूफियों को अपने मत के प्रचार की धुन तो रहती है परन्तु किसी दूसरे मत से द्वेष नहीं होता, यही कारण था कि भारतीय जनता को सूफियों में कुछ अपनापन दिखलाई पड़ा और जब वे उसके जीवन में घुलने-मिलने लगे तो जनता ने भी उनको अपना समझकर उनका स्वागत किया।

सास्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज में चिरकाल से दो वर्ग रहते आये हैं[3]—एक अभिजात वर्ग, जिसमें उस समय कम व्यक्ति थे परन्तु जो अपने बुद्धि-विकास के कारण समाज का नेता था, दूसरा पतित वर्ग, जिसका मानसिक स्तर अपेक्षाकृत बहुत नीचा था। जितने सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन हुए हैं सबको इसी पिछले वर्ग में स्थान मिला है। जब मुसलमान उत्तरी भारत में छा गये तो उनकी दाल भी इसी वर्ग में गली। उस समय यह वर्ग बौद्धधर्म के विकृतावशेष शैव-शाक्त-मत-मिश्रित नाथ-मत तथा तान्त्रिक-मत को मानने लगा था, उत्तरी भारत की अपेक्षा पूर्वी भारत में इसका अधिक जोर था। इसमें सिद्धि और चमत्कार, शाप और शकुन, मन्त्र और तंत्र, ग्रह और नक्षत्र, जोगिनी तथा दिशाशूल आदि की बडी मान्यता थी। वैष्णव सन्त इन बातों को हेय समझते थे, परन्तु सूफियों ने इनमें विश्वास दिखलाया इसलिए मूढ जनता उनकी ओर खिंच सकी। सिद्धि तथा चमत्कार की ये बातें जातक-कथाओं में भी[4] पाई जाती हैं, मुसलमान सूफियों में से अधिकतर लोग परपरा में कभी न कभी

विज़डम। व्हेन इन इस्लाम परसन्स एडोप्टेड समथिंग लाइक दि डोक्ट्रिन्स ऑफ दीज फिलोसोफर्स, दे ऑल्सो एडोप्टेड देअर नेम, बट सम पीपल डिड नोट अडरस्टेंड दि मीनिंग आफ दि वर्ड एण्ड इरेनियसली कम्बाइन्ड इट विद दि अरेबिक वर्ड सुफ्फ, एज इफ दि सुफ्फी वर आइडेंटीकल विद दि सो-कौल्ड अहल-असुफ्फा अमग दि कम्पेनियन्स ऑफ मुहम्मद। इन दि लेटर टाइम्स दि वर्ड वाज करप्टेड बाइ मिस-स्पेलिंग, सो दैट फाइनली इट वाज़ टेकिन फौर ए डेरिवेशन फ्रोम सुफ दैट इज, दि वूल आफ गोट्स। (पृ० ३३-३४)

१. दि चीफ करेक्टरिस्टिक आफ देअर बिलीफ वाज दि सबमिशन आफ ह्यूमन विल टु गौड। (इनफ्लूएंस ऑफ इस्लाम औन इडियन कलचर, पृ० ६६)

२ मुहम्मद टौट सरेंडर टु गौड (इस्लाम), सूफीज्म सरेंडर टु दि टीचर हू इज़ दि रिप्रेजेंटेटिव आफ गौड अपौन अर्थ। (वही पृ० ८१-२)

३. इनफ्लूएंस आफ इ० औन इ० कलचर (भूमिका, पृ० II)

४. वर्तमान समयेर न्याय तखनउ लोके दु स्वप्न औ दुर्निमित्त देखिया भये कंपित, एव भूतवलि विशाचवलि प्रभृति दिया शान्ति-स्वस्त्ययन करित; तपन लोके अर्थद्वारा अपरेर पुण्याश क्रय करित। (श्री ईशानचन्द्र घोष, जातक (प्रथम खड) उपक्रमणिका)

बौद्ध रह चुके थे[1] इसलिए भी उनका इन अवैदिक काण्डों के प्रति श्रद्धा रखना स्वाभाविक था। राजनीतिक तथा सामाजिक अत्याचारों से संतप्त मूढ़ समाज जब किसी चमत्कारी सिद्ध के आगमन का 'सुसमाचार' सुन पाता था तो थोड़ी देर के लिए उसको अपनी कामनाएँ फलती हुई दीखने लगती थी, इसीलिए ऐसे सिद्धों के चारों ओर दुखियों की भीड़ लग जाती थी, 'चित्रावली' में इस दृश्य का एक सुंदर चित्र है—

सागर गाँव सिद्ध एक आवा। मुख देखत मन इच्छ पुरावा॥
कुष्टी काया, बाँझ सुत पावैं। अवहि चखु दै जग देखरावैं॥
कहै चाह परदेसी केरी। बिछुरेहि आनि मिलावै फेरी॥ (पृ० १७७)

सूफी कवियों ने भारतीय भाषाओं में जो रचना की है उसमें हिन्दू तथा मुसलमान मतों का अद्भुत मिश्रण कर दिया है। हिन्दी के सूफी कवि प्रायः प्रेम की कहानियाँ ही लिखा करते थे और यदि किसी की कहानी चल गई तो वह सिद्धान्त-ग्रंथ बनाने लगता था, यही कारण है कि सामान्य सूफी को सिद्धान्त-ग्रंथ लिखने का अवसर न मिला, बाभाग से एक कान तथा एक आँख खोकर दक्षिणमार्गी होने की घोषणा करने वाले[2] तथा अपनी परंपरा में नक्षत्रों के बीच शुक्र के समान चमकने वाले[3] मलिक मुहम्मद ही "अखरावट" और "आखिरी कलाम" लिखने का साहस कर सके। बंगाल के कवि सैयद आलाओल की प्रथम रचना "पद्मावती" जायसी के काव्य का ही अनुवाद है, कदाचित् उन्होंने तदनन्तर मुस्लिम चरितकाव्य ("दारा सिकन्दरनामा", "नबीवंश" तथा "मुहम्मद-चरित") लिखे, और अन्त में "तोहफा" तथा "ज्ञानप्रदीप" लिखकर अपने मत के सिद्धान्तों (मुसलमान धर्मेर अनुष्ठान ओ कृत्य आदि[4]) का विवेचन किया है। जिस प्रकार जायसी ने "पद्मावत" में अप्रस्तुतों को हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के इतिहास से लिया है[5], और उसमान ने तीर्थ-पर्यटन करते हुए मक्का, मदीना, तथा काशी सबका नाम दे दिया है[6], उसी प्रकार सैयद आलाओल के "नबीवंश" में १२ अवतारों के मध्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं श्रीकृष्ण को भी स्थान मिल गया है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते-करते ये सूफी कवि हिन्दुओं की भी बातें चलाकर यह दिखलाना चाहते थे कि हम में और तुम में कोई भेद नहीं है, और हम तुम्हारी बातें भी जानते हैं तुम हमारी नहीं जानते, इसलिए हम स्वयमागत गुरुओं की

---

१. इट इज वेल नोन दि सूफीज अमंग्स्ट मोहमेडन्स, हू बीकेम कन्वर्ट्स फ्रोम बुद्धिज्म हैव रिटेन्ड दि फिलोसोफी आफ दिअर ओरिजिनल क्रीड वेनीर्ड विद फेथ इन ए पर्सनल गौड एन्जोइड बाइ इस्लाम। (२६)

(बंग साहित्य परिचय, भाग १)

२. मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक स्रवन, एक आँखि। (जा० ग्र०, १६२)

३. जग सूझा एकै नयनाहाँ। उआ सूक जस नखतन्ह माँहा॥ (जा० ग्र०, ८)

४. बांगला साहित्येर कथा, पृ०६६।

५. जैसे—हातिम करन तियागी अहे। (जा० ग्र०, ७)

६. चित्रावली, पृ० १५६ तथा १६१।

बातें मानकर हमारे शिष्य बन जाओ[1]। अधिकतर सूफी अपने को पंडित[2] कहते थे, और अपने को जाति का ब्राह्मण[3] बतलाने का प्रयत्न करते थे, इनकी यत्किंचित् सफलता के दो कारण हैं—प्रथम, इनका नियम था कि मन के भीतर चाहे कुछ हो बाहर से जैसा सब लोग आदर की दृष्टि से देखते हैं वैसा ही आचरण करना चाहिए[4], द्वितीय वे यह जानते थे कि कवि की वाणी आग भी बरसा सकती है तथा पानी भी[5], जिसकी वाणी पानी बरसाकर पाठक या श्रोता के मन को शीतल करेगी वह उस कवि को सदा याद रखेगा और दूसरे से भी उसकी प्रशंसा करेगा[6]।

इस भांति अपने व्यवहार की व्यवस्था करके सूफी लोग समाज के उस वर्ग में जा बसे जो या तो राजनीतिक परिवर्तनों की कहानियों को दूर से सुन लिया करता था या जिसके पुराने घाव अब भरने लगे थे। राजपूती वीरता की कथाएँ आज भी कभी-कभी छिड जाती थीं परन्तु केवल मनोरंजन के लिए या समय काटने भर के लिए, नवयुवकों में वीरता के स्थान पर शृंगार की भावना का अधिक स्वागत था, और जिन्होंने राजपूतों के विलास तथा उनकी वीरता की गाथाएँ सुनी थीं वे वयोवृद्ध जीवन में असारता का अनुभव करने लगे थे[7], जब इतने बडे-बडे योधा तथा शासक मिट्टी में मिल गये तो हमारे जैसे तुच्छ व्यक्तियों के जीवन का क्या भरोसा[8]—अन्त में सबकी कहानी ही रह जाती है[9]। जिस प्रकार रात्रि बिताने के लिए बालक कहानी कहना तथा सुनना चाहते हैं उसी प्रकार विदेशी शासन की उस 'स्याम रैन'[10] में प्रजा (अभागी सन्तान के समान जनता) कुछ वृद्ध तथा गुणी लोगों से प्रेम की कहानी सुन

---

१ अपने जोग लागि अस खेला। गुरु भएउ आपु, कीन्ह तुम्ह चेला ॥
 अहक मोर पुरुषारथ देखेहु। गुरू चीन्हि कै जोग विसेखेहु॥ (जा० ग्र०, १४६)
२ हौं बाम्हन औ पंडित, कहु आपन गुन सोइ। (जा० ग्र०, ३१)
३ हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। (जा० ग्र० ३१)
४. परगट लोकाचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासौं राता॥ (जा० ग्र०, ६३)
५ कवि कै जीभ खडग हरद्वानी। एक दिसि आगि, दूसर दिसि पानी॥
 (जा० ग्र०, २०१)
६ जो रे सुना ते हिरदे राखो। औ अति चाउ आन सों भाखो॥ (चित्रा०, २३३)
७ जनम अकारथ जगत भा, गई अमिरथा आउ। (चित्रा०, ११६)
 गयो अकारथ यह जनम, बरु न जनमती माइ। (वही, ११४)
८ तुम्ह ऐसी जो रहे न पाईं। पुनि हम काह जो आहिं पराईं॥ (जा० ग्र० १६७)
९ कोइ न रहा, जग रही कहानी। (जा० ग्र०, ३०१)
१० इह कलि स्याम रैनि जनु आई। सोई पुरुष जे जागि बिहाई॥
 जागत हू पुनि आह बिचारा। बहुतै भाँति जागै संसारा॥
 × × ×
 जागहि पंडित पढ़त हरि-बानी। जागहि बालक कहैं कहानी॥ (चित्रा० १४)

कर पूरा हो उठी। इस कथा में शृंगार, वीर तथा वैराग्य तीनों का पुट था[1], जिसमें तरुणों को शृंगार में मजा आता था, प्रौढों को वीरता की झलक मिलती थी, और बालकों की सामान्य उत्सुकता तृप्त होती थी, अन्त में जब सूफी कवि इस कथा का 'किछु और'[2] अर्थ करता था तो नष्टवीर्य वृद्धजन उसके पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे—

> बालक सुनत कानरस पावा। तरुनन्ह के तन काम बढ़ावा॥
> बिरिध सुनै मन होइ गियाना। (चित्रा०, १४)

इस कथा की मुख्य विशेषता थी प्रेम का प्रचार और बीच-बीच में नीति के वचन—कहीं दान की प्रशंसा, कहीं सत्य का महत्त्व, कहीं संसार की असारता, और कहीं विधि की प्रबलता।

कथा की परम्परा

भारत के प्राचीनतम वाङ्मय में कथात्मक साहित्य आख्यान तथा दृष्टान्त के रूप में मिलता है, इसमें श्रद्धालु जिज्ञासु अपनी किसी शंका का समाधान पाकर सन्तुष्ट हो जाता था, उद्देश्य होता था किसी आदर्श की स्थापना और पात्र होते थे मनुष्य से अधिक समर्थ एवं विकसित, अतः अलौकिकता का पुट भी रह सकता था। परन्तु साथ ही एक लौकिक परम्परा भी चल रही होगी जिसका पता उस समय चलता है जब इस परम्परा को लौकिक (अवैदिक) सम्प्रदायों का आश्रय मिल गया। धर्म-शिक्षा ब्राह्मण-परम्परा में तो वेदों के पठन-पाठन श्रवण-प्रवचन आदि के द्वारा सम्पन्न होती थी, परन्तु श्रमण-परम्परा ने लोक-साहित्य को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया, बहुत सम्भव है इस नवीनता का एक मुख्य कारण यह भी हो कि अवैदिक सम्प्रदायों ने लोक-भाषा को ही लोक-हित (बहुजनहिताय) के लिए अपनाया था। अस्तु, महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के बहाने पशु तथा पक्षियों को भी कथा का पात्र बनाया जाने लगा क्योंकि बोधिसत्व की अवस्था में तथागत स्वयं अनेक मनुष्येतर योनियों में रहते आये थे, जब पात्र मनुष्य से नीचे थे तो वैदिक आदर्शवाद के स्थान पर जीवन का यथार्थ एवं लघुतापूर्ण चित्र इन कहानियों में स्वतएव आ गया। जातक कथाएँ लोक-कथाएँ थीं जिनसे कोई भी सम्प्रदाय लाभ उठा सकता था[3], इनका देश में तो प्रचार हुआ ही यूनान तथा अरब में जाकर ये और भी चमकीं और वहाँ के साहित्य को इन्होंने बड़ा प्रभावित किया, यहाँ तक कि उन देशों के अभिजात साहित्य में भी इनको स्थान मिल गया। भारत में ऐसा न हो पाया, कभी-कभी इन लोक-कथाओं का अधिक प्रचार देखकर किसी पंडित ने इनमें से कुछ का संस्कृत में रूपान्तर कर दिया, और किसी कवि ने इसी प्रकार की लोक-कथाएँ संस्कृत भाषा में लिख दीं, परन्तु जहाँ अभिजात साहित्य के सहस्रों ग्रन्थ मिलते हैं वहाँ लोक-साहित्य की कुछ गिनी-चुनी पुस्तकें ही संस्कृत भाषा

१. तीनौ विद्या महँ निपुन, जोग, बीर, सिंगार। (चित्रा० १८१)
२. मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा। (जा० ग्र० ३०१)
३ प्राचीन भारत की कहानियाँ, भूमिका, पृ १४।

में पाई जाती है। इस लोकरंजनकारी साहित्य के प्रति इतनी उदासीनता शिष्ट समुदाय में क्यों रही है, इसका उत्तर भी आसानी से मिल जाता है—पाठक के मन को मुग्ध बनाकर उच्च (वैदिक) आदर्शों के योग्य न रहने देना। ज्यों-ज्यों शिष्ट समाज इनसे उदासीन होता गया त्यों-त्यों इन लोक-कथाओं का स्तर भी गिरता गया क्योंकि इनका निर्माण तथा संरक्षण उसी पतित समाज के हाथ में जा चुका था, आज भी इस प्रकार का साहित्य देशभाषा में 'बाजारू साहित्य' कहलाता है। जैन कवि बनारसीदास ने अपनी आत्म-कथा 'अर्द्ध कथा' में अपनी 'इश्कबाजी वाली जीवनचर्या' (शुक्ल) का पश्चात्तापपूर्ण उल्लेख करते हुए इसी प्रकार के ['मिथ्या ग्रन्थों'[1] का निरन्तर पाठ करना अपने दैनिक कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग बतलाया है।[2] लगभग इसी समय गोस्वामी तुलसीदास ने वाणी के इस दुरुपयोग को बुरी तरह फटकारा था—

कीन्हें प्राकृत जन-गुन-गाना।
सिर धुनि, गिरा लागि पछिताना॥

आधुनिक युग में भी 'किस्सा तोता-मैना', 'छबीली भटियारी' आदि का श्रद्धालु पाठक अच्छा नवयुवक नहीं माना जाता। अनुमान से जान पड़ता है कि जनता को अकर्मण्य बनाने में इस प्रकार का लोक-साहित्य सदा सहायक रहा है।

प्रादेशिक भाषाओं में से जिनका सम्बन्ध अवैदिक मतों से अधिक रहा है उनका प्रारम्भिक साहित्य इसी जाति का शुद्धीकृत रूप है। बंगला साहित्य के आदियुग में मंगलकाव्यों के लिए जिन कथाओं की कल्पना की गई वे सभी समाज की लोक-कथाएँ हैं, ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के स्थान पर सौदागरों तथा शूद्रों को नायक-पद मिल गया है[3] और ये लोग राजकन्याओं के वर बना दिये गये हैं, 'चंडीमंगल' का नायक कालकेतु व्याध जाति का है, मनुष्य पशु का शरीर बदल लेता है और पशु मनुष्य का, मानव के भीतर पशु का चित्र खींचने के लिए अश्लीलता के भद्दे तथा नंगे चित्र सजाये गये हैं[4]। अनुमान से जान पड़ता है कि भद्र समाज के विरोध में इस प्रकार का साहित्य जान-बूझकर फैलाया गया था क्योंकि इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म, ब्राह्मण समाज तथा ब्राह्मण विचारधारा की निन्दा की जा सकती थी। जातकों में नायक प्रायः राजा तथा ब्राह्मण मिलते हैं, परन्तु क्षत्री प्रायः अहंकारी एवं ब्राह्मण प्रायः मूर्ख, पेटू तथा लोभी बनाये गये हैं। मंगलकाव्यों में देवी-देवताओं की पूजा न करनेवाले मनुष्यों को दंडस्वरूप कष्ट दिलवाकर अन्त में चण्डी आदि का अनुयायी दिखाया गया है। जायसी के काव्य में सिंहलद्वीप का युद्ध श्रमण तथा वैदिक संस्कृतियों का युद्ध है, कुलाभिमानी गन्धर्वसेन अपनी फूल-सी सुकुमारी पुत्री किसी भी अवैदिक जोगी को नहीं देना चाहता,

---

१ ऐसे कुकवि बनारसि भये। मिथ्या ग्रंथ बनाये नये॥ (अर्द्धकथा, पृ० १४)
२. तब घर में बैठे रहें, नाहिन हाट-बजार।
मधुमालती, मृगावती पोथी दोय उचार॥ (अर्द्धकथा, पृ० २५)
३. सरल बांगला साहित्य, पृ० ६१।
४. वही, पृ० ६८।

परन्तु अन्त में झक मारकर उसको ऐसा करना पड़ा है, रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड (दोहा १० से १३ तक) में पंडित और रत्नसेन का शास्त्रार्थ इसी बात का है कि वेद बड़ा है या नाद और जायसी के प्रतिनिधि रत्नसेन ने नाद को वेद से बढ़कर सिद्ध किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि जायसी की परम्परा दक्षिण मार्ग का नाम लेने पर भी मधुर शब्दों से वेद की जड़ खोदने में लगी हुई थी।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण-लाभ से लगभग २५० वर्ष तक बौद्ध धर्म भारतीय अभिजात समाज में भी आदर प्राप्त करता रहा और अशोक के पुत्र महेन्द्र ने जम्बु-द्वीप के समीपवर्ती खंडों में इसका प्रचार करने के लिए सिंहल को अपना गढ़ बना लिया, अस्तु थेरा[1] तिष्य द्वारा नियोजित संगीति भारत में बौद्धधर्म की अन्तिम (तीसरी) धर्म-समिति थी, तदनन्तर केन्द्र सिंहल पहुँच गया और शेष दो संगीतियाँ वहीं हुईं। भार-तीय बौद्ध अब लंका को ही धर्मपीठ समझने लगे थे[2], धार्मिक दृष्टिकोण के कारण सिंहलद्वीप के विषय में उनकी कल्पना बड़ी अद्भुत थी। वे इसे धर्म तथा सुख का केन्द्र स्वर्ग ही समझते थे[3]। कालान्तर में उत्तरी-पश्चिमी भारत का अनभिजात समाज भी बौद्ध धर्म को भूल गया परन्तु लंका, दक्षिण देश तथा पूर्वदेश (बंगाल, आसाम, बिहार, उड़ीसा, ब्रह्मदेश) के प्रति उसकी चमत्काराश्रित श्रद्धा बनी रही। उसका विश्वास था कि धर्म की सच्ची परीक्षा तो सिंहलद्वीप में ही होती है जहाँ की पद्मिनी कामिनियाँ धर्मोपासकों को अपनी कुटिल अलकों में फँसाकर एवं अपने चंचल अपांगों से वेधकर धर्म-च्युत कर देती हैं। बंगाल तथा कामरूप की मायाविनियों में मनुष्य को भेड़ा आदि बना देने की शक्ति तो आज भी मानी जाती है। बौद्ध धर्म ने जब दूसरा रूप धारण किया तो सिद्धिकामी पुरुष को एक ऐसी योगिनी की खोज में रहना पड़ा जो प्रयत्न-शील व्यक्ति के अहंकार को अपने आकर्षण के द्वारा चूर्ण करदे[4] प्रायः उत्तर-पश्चिम के सिद्धकामी महाराष्ट्र, दक्षिण देश, पूर्वदेश तथा सिंहल तक ऐसी योगिनियों की खोज में पहुँच जाते थे और किसी भी (प्रायः नीच वर्ण की) कन्या में उनको अपने काम की

---

१ सद्धम्म संग्रह, पृ० ४२-४।

२ तब थेरा रेवत ने कहा—मित्र बुद्धघोष, जम्बूद्वीप में त्रिपिटक का केवल मूल रूप ही सुरक्षित है, उस पर टीका तथा आचार्यवाद यहाँ नहीं है, परन्तु सिंहलद्वीप में महेन्द्र द्वारा सिंहली भाषा में रची हुई सिंहली टीकाएँ सुरक्षित हैं। उनको सम्हाल-कर और जाँचकर मगध की बोली में उनका अनुवाद कर लो।

(सद्धम्म संग्रह, पृ० ७३)

३. यू विल फाइण्ड, इन दि डिलाइटफुल आइलैंड आफ लंका, दि डिलाइटफुल हल आफ दि कौंकरर। (सद्धम्म संग्रह, पृ० ४७)

४ इस प्रकार महाराष्ट्र देश में उसको अपनी योगिनी एक शराबकार की पुत्री के रूप में मिली, जो उसकी अहंमूलक सत्ता के तत्त्व को शान्त कर सकती थी "तत्काल ही शराबकार की पुत्री को मुक्त दी।

(मिस्टिक टेल्स ऑफ लामा तारानाथ, पृ० ८)

हुए मिल गईं, अन्त में मंदोदरी ने उनको पहिचान भी लिया था परन्तु रावण को अन्त समय तक न बतलाया। जैनों ने प्रसिद्ध ऋषि नारद को 'कलह-प्रिय' बनाया है जो दूसरों के अधिकतर विवाहों में मध्यस्थ बन जाते हैं। इस प्रकार जैनों ने एक ओर तो इन अर्ध-ऐतिहासिक चरित काव्यों में इतिहास की उपेक्षा करके संस्कारजन्य भावना में परिवर्तन करना चाहा है, दूसरी ओर प्रत्येक कथा को शृंगारी रूप देकर उसमें अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है।[2] सूफियों ने ये दोनों बातें उनसे सीखी, वे उतनी प्रसिद्ध कथाओं को तो ले न सकते थे क्योंकि उस समय तक ब्राह्मण धर्म फिर से दृढ़ बनकर लोक को भी सारा पुराना इतिहास याद करा चुका था, इसलिए नगरों तथा व्यक्तियों के नाम इतिहास से आने लगे, और इस प्रकार वीरकाव्य की परंपरा में बैठकर सूफी के लिए अपने धर्म का प्रचार कुछ सरल बन गया। सूफियों ने हिन्दू-पुराणों के नामों तथा स्थानों को अपनी कथाओं में याद कर लिया है, परन्तु प्रायः अशुद्धियों के साथ; "गौरा-पार्वती" के साथ "हनुमन्त-वीर" सदा ही दिखाई पड़ते हैं, कृष्ण तक का धनुष ही मशहूर है, राहु (राहुकेतु) तथा रोहू (मत्स्यवेध वाली मछली) में जायसी ने घपला कर दिया है। ध्यान देने की बात यह है कि जैन-कथाओं में पुरुषपात्र का मुख्य स्थान था, क्योंकि वही सबको जीतकर अन्त में 'जिन' बन जाता था, परन्तु सूफियों ने बौद्धों की योगिनी के अनुकरण पर नारी-पात्र को मुख्य स्थान दिया है क्योंकि उसी योगिनी में असीम का रूप झलकता है।

इन कथाओं पर बंगाली, बौद्ध तथा जैन साहित्य का प्रभाव देखने का अभिप्राय केवल इनके सूत्रों को खोजना है। वस्तुतः उस समय तक ये कथाएं "हिन्दुओं के ही घर की" हो चुकी थीं, और वीरकाव्य के लोक-साहित्य में भी इनकी छाप लग चुकी थी। परदेश में रत्नों की इच्छा से भारत के सौदागर प्रायः जाते रहे हैं और उनकी गृहिणियां उनके विरह में विलाप करती लोक-भाषा के कवियों ने प्रायः देखी हैं, उनका सन्देश ले जाना पक्षियों का काम रहा है, "सन्देशरासक" में नायक व्यापार के लिए ही विदेश गया था, ढोला-मारू की प्रसिद्ध कथा में भी नायक अर्थलोभी ही है[3], "बीसल-देवरासो" में राजा रत्न-संचय के लिए परदेश गया और राजमती को नागमती के समान ही विरह में झूरना पड़ा था; प्रेम का सन्देश भी प्रायः तोता, हंस या कोई दूसरा पक्षी ले जाया करता था, "पृथ्वीराज रासो" में एक नायिका भी पद्मावती है। प्रेम की ये कथाएं सभी देशों तथा सभी प्रदेशों के साहित्य में प्रचलित रही हैं। जिनमें एक ओर

---

१. श्री० रामसिंह तोमर . स्वयम्भू का रिट्ठणेमिचरिउ। (हिन्दी अनुशीलन, चैत्र-ज्येष्ठ, २००६)

२ न चाहो मुग्धबुद्धीनां धर्मो मनसि भासते।
कामार्थकथनात्तेन तेषामाक्षिप्यते मनः ॥४८॥ (उपमिति भवप्रपंच कथा)

३. पांच पाना पीपल उगियो माङ्जो
हो मरवो होगयो है घेर घुमेर
मारूजी ढोला थे तो आज्या चाकरी ॥

तो प्रेम के सम्मुख भौतिक (अर्थ-सचय आदि) लाभो को तुच्छ बतलाया गया है, दूसरी ओर अभौतिक लाभो (ज्ञान-सचय आदि) की भी अवहेलना की गई है, समस्त विश्व प्रेम में डूबा हुआ है, इसके इस रहस्य को जानकर न तो हम मिथ्या ज्ञान की उपासना करेंगे और न ससार की हाय-हाय में पिसते फिरेंगे, सौराष्ट्र के उच्च गराय ओभा कितने मधुर शब्दों में कहते हैं—

मिथ्या छे ज्ञान अने फोगट छे फा-फा,
व्यर्थ आ जीवनना विखवाद हो,
शाणा समजी ले साचा सत्य नें ॥
प्रेम भीनो प्राणिया प्रवासमां विचरजे
प्रेम छे समष्टिनो सवाद हो,
,शाणा समजीले साचा सत्य नें ॥ (सेणी अने बीजानन्द)

रासो युग की कथाओं में वीर तथा शृगार रस का मेल होता था, जैनो की धार्मिक कथाओं में शृगार तथा शान्त का, सूफियो ने शृगार, वीर तथा शान्त तीनो को घोटकर मिला दिया है। रासो कथाओं में इतिहास का बडा महत्त्व था, धार्मिक कथाओं में कल्पना काफी थी, सूफियो के समय तक लोक ने दोनो को एक कर दिया, रासो कथाओं के नायक क्षत्री थे, धार्मिक कथाओ के प्राय व्यापारी, सूफियो के नायक क्षत्री राजा हैं, परन्तु उनके नाम क्षत्रियों के जैसे नही हैं—जायसी ने तो राजा रत्नसिंह का नाम सौदागरी बनाने के लिए 'रत्नसेन' कर दिया है। धार्मिक कथाओ में नायक आदि का धर्म अन्त में बदल दिया जाता था, रासो कथाओ में इसकी सम्भावना न थी, सूफियो ने अपने नायको का धर्म तो नही बदला परन्तु उनके विचार बिलकुल बदल दिये हैं। इन सूफी काव्यो में लोक-साहित्य की परम्परा का नवीन रूप मिलता है।

विदेशी प्रभाव

मुसलमानो के सस्कारो में इन लोक-कथाओ के प्रति अवश्य कुछ आकर्षण रहा होगा अन्यथा इनका एकाधिकार केवल उन्ही को न मिलता, अन्य प्रादेशिक भाषाओ में भी[1] उस समय एक प्रकार की 'लोक-कहानी' मुसलमान सूफियो ने ही लिखी। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्राचीन काल में ही भारत की लोक-कहानियाँ अरब आदि देशो

---

१ बगाल में लगभग डेढ़ दर्जन मुसलमानो ने इस प्रकार की परन्तु छोटी-छोटी प्रेम-कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—
मधुमालार किस्सा, मालती-कुसुम-माला, काञ्चनमालार किस्सा, सखी सोना, यामिनी भान, बेहुला सुन्दरी, लोर-चन्द्राणी, चन्द्रावलिर पूथी।
(प्राचीन बागला साहित्येर कथा)
पजाब में अब्दुल हकीम ने 'यूसुफ जुलेखा', अहमद यार ने 'कामरूप कामलता', अलरख शाह ने 'शशिपुन्नन' इमाम बख्श ने 'चन्द्रवदन' आदि कहानियाँ लिखी हैं, 'हीर' का लेखक वारिसशाह तो प्रसिद्ध ही है।
(एन इन्ट्रोडक्शन टु पजाबी लिटरेचर)

में आकर शिष्ट समाज में स्थान पा गई थी, 'अलिफ लैला' की अरबी कथाएँ संसार में प्रसिद्ध हैं, शैली की दृष्टि से सूफियों की इन भारतीय कहानियों पर भी उनका कुछ प्रभाव जान पड़ता है। मसनवियों में कथा की रूपरेखा तो एक ही निश्चित[1] बनी हुई है केवल नाम बदलकर थोड़ा हेर-फेर करने से अनेक कथाएँ बन जाती हैं, सूफी कथाओं में भी यही प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों मिलती है, एक कथा की दूसरी कथा से इतनी अधिक समानता है कि एक काव्य दूसरे की मौलिक नकल जान पड़ेगा, किन-किन वस्तुओं का वर्णन करना है, किस प्रवृत्ति से करना है, अप्रस्तुत की कौन सी सामग्री रखनी है—यह सब मानो पहिले से ही निश्चित था। पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो इस प्रकार कह सकते हैं कि हिन्दी के सूफी काव्यों में कथानक-रूढ़ियों (मोटिफ्स) तथा अलंकार-रूढ़ियों का छाँटना अत्यन्त सरल है परन्तु उनका ठीक-ठीक उद्‌गम स्रोत निकालना सरल नहीं।

शैली की दृष्टि से अरबी कहानियों में मुख्य तीन विशेषताएँ हैं[2]—जीवन का व्यापक तथा ओजपूर्ण चित्रण, भावों की मधुरता तथा गहराई, और कथाकार की कथा में अन्धानुरक्ति जो प्राय मर्यादाहीन बन जाती है। ये तीनों गुण सूफियों की प्रेम-कहानियों में भी मिलते हैं। जब सूफी कवि वर्णन करने बैठता है तो उसको रुकने की आवश्यकता ही नहीं, और क्योंकि ये वर्णन घरेलू हैं इसलिए इनमें पाठक को रमाने की भी पूरी सामर्थ्य है। कुंवर सुजान प्रासाद में चित्रावली का चित्र देखकर मोहित हो गया, उसको अपने तन-मन की भी सुधि न रही, जब जनता उसको देखने के लिए पहुँची तो उसकी दशा पर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगी—

> कोऊ कहै मृगी एहि आई। होइ अचेत परा मुरछाई॥
> कोउ कहै डसा साँप एहि मही। सूरज उदय लहरि है चढ़ी॥
> कोउ कहै अहा राति कर भूखा। तावरि आइ, लहरि तन सूखा॥
> कोउ कहै रैनि रहा एकसारा। कै दानौ, कै चुरइलि छरा॥
>
> (चित्रा०, पृ० ३७)

यद्यपि कवि इन चित्रों में कोई कमी नहीं रहने देता, फिर भी वह यह समझता है कि उससे न्याय नहीं हो सकता—अनुभव तथा वर्णन में बड़ा अन्तर है, दृश्य का जो आनन्द अनुभव में है वह वर्णन में कहाँ सम्भव है?[3]

अरबी कवियों के समान सूफी कवियों ने मधुरता का ही विशेष ध्यान रखा है और लोक से वे भाव ही अधिक लिए हैं जिनका सम्बन्ध हमारी सहज प्रवृत्तियों से है, अश्लील चित्रों की चर्चा हो चुकी है, दूसरे स्थलों पर भी शृंगार के बड़े सबल वर्णन हैं—

---

१. श्री ब्रजरत्नदास, उर्दू साहित्य का इतिहास, पृ० २३-४।

२. अरेबियन नाइट्स, ट्रान्सलेटर्स फोरवर्ड।

३ आँखो देखत हो बनै, रसना कहा न जाय।
कै जो ब्याहा जान सो, कै जो बरातहि जाइ॥ (चित्रा०, पृ० २००)

आजु गवन हौं आई, नाहाँ। तुम न कन्त गवनहु रन माहाँ ॥
धनि न नैन भरि देखा पीऊ। पिउ न मिला धनि सौं भरि जीऊ ॥
× × ×
भीजें हार, चीर, हिय चोली। रही अछूत कंत नहिं खोली ॥
× × ×
चुइ-चुइ काजर आँचर भीजा। तबहुँ न पिउ कर रोवँ पसीजा ॥

(पद्मा०, गोरा-बादल युद्ध-यात्रा-खंड)

अरबी कहानियों के आश्चर्यजनक तथा साहसिक कार्यों की ओर विद्वानों का उतना ही ध्यान गया है जितना उनकी नग्नता की ओर। सूफियों ने हिन्दी को दोनों ही वस्तुएँ दीं। "चित्रावली" में भी अलाउद्दीन के दीपक-दैत्य के समान कुछ 'देव' हैं जो मही तक को गायब कर देते हैं, एक ने अपनी माया से सुजान को सोते ही सोते वहाँ से कहाँ पहुँचा दिया, राजपक्षी ऐसे हैं जो हाथी तक को अपनी चोंच में दबाकर आकाश में उड़ जाते हैं और चार घड़ी में ही सात समुद्र पार जा सकते हैं। प्रेम के समान ही अपने प्रभाव से वशीभूत करने वाले भयंकर तूफान अरबी कहानियों में भी हैं तथा हिन्दी के सूफियों में भी।

अरबी कहानियों का आरम्भ जिस ढंग से होता है वही ढंग इन प्रेम कहानियों में भी दिखलाई पड़ता है। "मेरा पिता एक धनी सौदागर था जिसके यहाँ अनेक दास-दासियाँ, जल-पोत तथा ऊँट थे, परन्तु उसके कोई सन्तान न थी।" एक रात्रि को उसने स्वप्न देखा कि उसके एक पुत्र उत्पन्न होगा, जो थोड़े दिन पीछे मर जायगा। समय पूरा होने पर मेरी माता ने मुझको जन्म दिया तब पिता ने पंडित तथा ज्योतिषी बुलवाये।"[1] सर्वसम्पन्न व्यक्ति की सन्तानहीनता, फिर तप से सन्तान-प्राप्ति आदि घटनाएँ रामायण काल से आजतक मनोरंजन का कारण बनी हुई हैं, परन्तु इनके बीच जादूगर, सिद्ध तथा जोगियों का आ जाना निश्चय ही अवैदिक प्रभाव है, जो भारत में भी चल रहा था तथा अरब में भी। भाग्य अथवा विधि को ऐसी घटनाओं के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है।[2] भाग्य से भी ऊपर अगर कोई है तो नारी, क्योंकि पुरुष के लिए प्रायः वही भाग्यविधात्री बन जाती है, वह जो कुछ चाहती है कर लेती है पुरुष का वश उसके सामने नहीं चलता[3], इसीलिए हरिशर्मा के समान अरबी लेखक ने यह सम्मति दी है कि नारी पर विश्वास नहीं करना चाहिए,

---

१ अरेबियन नाइट्स, भाग १, पृ० १४५-६।
२ वही, पृ० १६७, १६६ आदि।
३ "प्रयत्न करने पर भी भाग्य में न तो परिवर्तन हो सकता है और न उससे बचाव हो सकता है, और स्त्री जो कुछ चाहती है वही कर लेती है, पुरुष कुछ भी करे उसको रोक नहीं सकता।" (वही, पृ० १३)

वह नारी में सतीत्व तो मान ही नहीं सकता।[1] इसी प्रकार भाग्य के सामने घुटने टेककर अपनी कहानी कौतूहल से प्रारंभ करनेवाले हिन्दी के सूफी कवियों ने नारी-जगत् को मरसेट गालियाँ सुनाई हैं[2] जो उनसे पूर्व हिन्दी साहित्य में कभी नहीं था। यह एक आश्चर्य की बात है कि सूफियों की नारी में बौद्ध नारी की परुष भावना भी है तथा हिन्दू नारी की कोमलता भी,[3] वस्तुतः हिन्दी में ऐसा योग विदेशी (अरबी) प्रभाव का ही सूचक है।

अरबी कहानियाँ शहरजाद ने अपनी बहिन को इसीलिए सुनाई थी कि वे सब लोग जगते हुए रात्रि काट सकें,[4] इसलिए इन कहानियों का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है, परन्तु लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि ये कहानियाँ सीखनेवाले गंभीर व्यक्तियों को बहुत कुछ सिखा भी सकती हैं[5], सूफी कवियों का भी ठीक यही उद्देश्य था जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अरबी कहानियों में एक प्रवृत्ति आशीर्वाद की भी है, लेखक स्थान-स्थान पर कहता चलता है—'ईश्वर उसको शक्ति दे, "अल्लाह तुम्हारा भला करे', 'इन्शाअल्लाह' आदि, हमारे सूफियों का भी यही स्वभाव है, लोक-कहानियों का अंत आज भी यही होता है कि—"जैसा उनका हुआ, वैसा सब का हो"; सूफी लोग इस शुभ कामना के साथ-साथ पाठक को या तो उपदेश देते हैं या चेतावनी—

(क) जिनि काहु कह होइ बिछोऊ। जस वै मिले, मिलै सब कोऊ॥ (जा० ग्रं०,१८४)

---

१ स्त्री पर कभी भरोसा मत करो। (वही, पृ० १३)
स्त्री का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। (वही, पृ० १३)
इस पृथ्वी पर कोई भी स्त्री सती नहीं रही, और न अब कोई सती रहती है। (वही, पृ० १४)

तुलना कीजिए —
रहो नास्ति, क्षणो नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः।
तेन नारद! नारीणां, सतीत्वमुपजायते॥ (पञ्चतन्त्रे, मित्रभेद)

२. जो तिरिया के काज न जाना। परै धोख, पाछे पछिताना॥ (जा० ग्रं०, ३५)
मूरख सो जो मतै घर नारी। (वही, पृ० ५५)
नारि-भेद जेहि अंत नहिं, वारिधि गहिर गभीर। (चित्रा०, ७६)
कहिनि कि महरिन्हि बुद्धि न रती। (वही, पृ० २३१)

३ एइ सब नारी चरित्र के प्रधानतः "बौद्ध" ओ "हिन्दु" एइ दुइभागे विभक्त करा हइया थाके। चरित्रेर दृढ़ता वा परुषभाव देखलेइ एइ सब नारीचरित्र बौद्धपन्थी एवं कोमलता देखलेइ इहारा हिन्दुभावापन्न बलिया अनुमित हइया आसितेछे। (प्राचीन बांगाला साहित्येर कथा, पृ० ३५)

४ अल्लाह तुम्हारा भला करे, प्यारी बहिन, हमको कोई नई मनोहर तथा सुहावनी कहानी सुनाओ, जिससे रात्रि के बाकी घटे बीत सकें। (अरेबियन नाइट्स, भाग १ पृ० २४)

५ तुम्हारी कहानी बड़ी अद्भुत है·· चेतनेवाले को वह चेतानेवाली है। (वही, पृ०२६)

(ख) तेहि कुल रतनसेन उजियारा। धनि जननी जनमा अस बारा ॥ (वही, २९)
(ग) भावता जा दिन मिलै, ता दिन होइ अनंद ।
सपति हिए हुलास अति, कटि बिरहा दुख फंद ॥ (माधवानल कामकंदला)

परन्तु कुछ कहानियों का अन्त केवल कथा की समाप्ति में ही हो जाता है, यद्यपि ऐसे अंत में भी मधुरता की कमी नहीं है—

(क) औ दोउ प्रेम विदित होइ गएऊ। अंत बियाह दोउ सग भएऊ ॥
(अनुराग बाँसुरी)

(ख) गये सकल नृप अपने घर को। मालति ब्याह गई मधुकर को ॥
(इन्द्रावती)

प्रादेशिक भाषाओं में भी सूफियों ने जो प्रेम-कथाएँ लिखी हैं उनमें ये सारी प्रवृत्तियाँ ज्यों की त्यों पाई जाती है, इनमें मनोरमता तथा मधुरता दोनों हैं परन्तु कल्पना की अस्वाभाविकता भी कम नहीं, बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् श्री दीनेशचन्द्र सेन ने इसीलिए यह कहा है कि इस काव्य को पढ़कर अरब तथा फारस की कहानियों का ध्यान[1] अपने आप हो आ जाता है।

पद्मावत

हिन्दी की प्रेम कहानियों में सबसे महत्वपूर्ण जायसी का काव्य 'पद्मावत' है जिसमें काव्य-सौष्ठव भी औरों से बढ़कर है तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन भी। पद्मावत की कथा के दो भाग किये गये हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, पूर्वार्द्ध 'रत्नसेन-सतति-खंड' तक पूरा हो जाता है क्योंकि यहाँ तक आते-आते नायक सिद्धि-लाभ कर सकुशल तथा सानंद अपने देश में आकर रहने लगता है, उत्तरार्द्ध का सूत्रपात राघवचेतन से ही है, यदि वह न होता तो कथा आगे चल ही न सकती थी। पंडित रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि पूर्वार्द्ध कल्पित कहानी है और उत्तरार्द्ध का आधार इतिहास है[2]।

पूर्वार्द्ध में चित्तौड़ तथा सिंहलद्वीप—दो स्थान, एवं रत्नसेन तथा पद्मावती—दो रक्त-मांस के पात्र मुख्य हैं। चित्तौड़ का वर्णन जायसी ने बिलकुल नहीं किया और न रत्नसेन के विषय में ही रुचि दिखलाई है, उसका अनुराग 'सिंघलदीप पदमिनी रानी' में ही है, कारण हम ऊपर बतला चुके हैं यह योगियों की खोज का प्रभाव है। 'चित्तौड़' का नाम तो भारतीय समाज में उस समय भी उस प्रसिद्ध दुर्घटना के कारण प्रत्येक व्यक्ति की जीभ पर था और चतुर कथक उसका भरसक लाभ उठाते थे—किसी भी गल्प, कथा या कल्पना का सम्बन्ध प्रसिद्ध नामों से जोड़ने पर उसका महत्त्व अपने आप ही बढ़ जाता है, कादम्बरीकार कवि बाण दण्डकारण्यान्तर्गत आश्रमपद का वर्णन करते हुए उसका सम्बन्ध राम-सीता से जोड़ना आवश्यक समझते हैं (काद-

१. एइकारये (पद्मावती काव्ये) कल्पनार कतकटा अस्वाभाविक आडम्बर आछे, सेइ सकल अंश पड़िते-पड़िते आरब्य ओ पारस्यदेशेर गल्पगुलिर कथा मने हय।
(बंगभाषा ओ साहित्य, पृ० ५४८)

२ जायसी ग्रंथावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० २२)।

नगरी, कथामुत) । शुक्ल जी ने 'रत्नसेन' को 'रत्नसिंह' या 'रत्नसी' मान लिया है जो अनुचित है, राजपूतों के नाम 'सिंह' पर होते हैं, 'सिंह' का बिगड़ा हुआ रूप 'सी' तो हो सकता है 'सेन' नहीं, जायसी ने पात्रों के नाम 'सेन' शब्दान्त—गन्धर्वसेन, चित्रसेन, नागसेन, कँवलसेन—सौदागरी प्रभाव से ही रखे हैं, जायसी के रत्नसेन में कोई भी राजपूती गुण नहीं है वह ऐतिहासिक रत्नसिंह का व्यंग्य-चित्र तो माना जा सकता है उसका प्रसिद्ध रूप नहीं, दोनों नामों में 'रत्न' शब्द का उभयनिष्ठ होना उतना ही महत्वहीन है जितना कि जायसी का 'चित्तौड़'।

'पद्मावती' तथा 'सिंहलद्वीप' में तो उतनी भी ऐतिहासिकता नहीं मिलती। ऐतिहासिक रत्नसिंह की रानी का नाम क्या था यह ठीक नहीं कहा जा सकता, हाँ वह जाति की[1] पद्मिनी अवश्य थी, इसीलिए उसका रूप-सौन्दर्य लोक-प्रसिद्ध था, जायसी ने भी एक पद्मिनी नायिका का वर्णन किया है किसी रानी विशेष का नहीं—'पद्मावती' तथा 'पद्मिनी' शब्दों की लोकप्रियता पर ऊपर विचार हो चुका है, यहाँ इतना और कहना उचित है कि जायसी ने इन दोनों शब्दों को जातिवाचक तथा पर्यायवाची समझा है, और दूसरे प्रेमाख्यान लिखने वाले भी अपनी नायिका को पद्मिनी बनाया करते थे, पद्मिनी नारी के साथ स्वर्गभोग उनकी उच्चतम अभिलाषा थी—

(क) घर-घर नारि पदमिनी, मोहहिं दरसन-रूप ॥ (जा० ग्र १४)
(ख) पदमिनि रूप देखि जग मोहा ॥ (वही, २०)
(ग) दहूँ हों लोनि, कि वै पदमिनी ॥ (वही, ३४)
(घ) जो पदमिनि सौ मोरे, अछरी सौ कविलास । (वही २०६)
(ङ) सिंघल कै जो पदमिनी, पठै देहु तेहि बेग । (वही, २१७)
(च) रूप सुरूप पदमिनी नारी । (आखिरी कलाम, ३६०)
(छ) इन्द्रावति है पदमिनी, रंभा तुलै न ताहि ॥ (इन्द्रावती)

जायसी के उपरान्त सफलता में दूसरा स्थान उस्मान का है, जिनकी नायिका चित्रावली है, वह पद्मिनी तो नहीं है परन्तु उससे तनिक ही कम है अर्थात् वह चित्रिणी है[2], कवि ने कदाचित् इसीलिए उसका नाम चित्रावती (अथवा चित्रावली) रखा है। अभिप्राय यह है कि सूफी कवियों की प्रवृत्ति से जान पड़ता है कि वे नायिका का वर्णन करने को एक मुख्य उद्देश्य समझते थे, अधिकतर ने अपनी नायिका को पद्मिनी माना है, हाँ, जायसी ने उस जातिवाचक शब्द का उपयोग जनता को मुग्ध करने के लिए भी कर लिया था।

पद्मिनी 'जातिवाचक' मत कल्पित है, परन्तु 'सिंहलद्वीप' नहीं। 'सिंहल' शब्द के सुनते ही हमारा ध्यान उस द्वीप की ओर जाता है जिसको 'लंका' भी कहते हैं। प्राचीन काल में इसको 'ताम्रपर्णी' कहते थे[3]। 'महावंश' में लिखा है कि राजकुमार

१. पद्मिनी चित्रिनि संखिनी अरु हस्तिनी बखानि।
विविधि नायिका भेद में चारि जाति तिय जानि ॥ (भाषाभूषण)
२. निसि दुख देखा चित्रिनी, सब निसि एक एक जाम ॥ (चित्रा० ५०)
३ लेक्चर्स आन दि एनसेन्ट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ७।

विजय और उनके साथी जब प्रथम बार उस द्वीप पर पहुँचे तो थकावट के कारण वे पृथ्वी पर हाथ टेककर बैठ गये, मिट्टी ताम्रवर्ण की थी, उसके स्पर्श से उनकी हथेलियाँ ताम्रपर्ण-सी (ताँबे के पत्र जैसे रंगवाली) हो गई, इसीलिए उस द्वीप का नाम ताम्रपर्णी पड़ गया[१] 'सिंहल' नाम उस द्वीप के किसी गुण पर आश्रित न होकर उस वंश के नाम पर है जिसने पहले-पहल उस द्वीप की खोज की, कदाचित् जम्बूद्वीपवासी उसको 'सिंहल' कहते थे, और उपनिवेश बसाने वाले ये निवासी उसको 'ताम्रपर्णी'। राजकुमार विजय का वंश 'सिंहल' कहलाता था, क्योंकि वंगराज की आज्ञा से विजय के पिता सिंहबाहु प्रजा में आतंक उत्पन्न करने वाले अपने पिता सिंह को मारकर ले आये थे, ((सिंह + ल = सिंहल)[२] अस्तु 'ताम्रपर्णी' का नाम 'सिंहल' हो गया। इसके कुछ भाग 'ओजद्वीप', 'मुण्डद्वीप' तथा 'नागद्वीप' भी कहलाते थे।[३] इसके निवासी यक्ष[४] तथा नाग बतलाये गये हैं। वैभव तथा विलास का यह केन्द्र था; अनेक साहसी नवयुवक वहाँ जाकर रूपवती स्त्रियों तथा अमस्य रत्नों के स्वामी बन जाते थे, दलपति का विवाह तो उस पर मोहित होने वाली यक्षिणी के साथ होता था परन्तु उसके साथियों को भी अपने-अपने पद के अनुसार दूसरी यक्षिणियाँ मिल जाती थी। राजकुमार पाण्डु वासुदेव सन्यासी के वेश में नाव द्वारा सिंहल पहुँचा, और पराक्रम दिखलाने के कारण उसका विवाह उस भद्र कात्यायिनी के साथ हो गया जिसके लिए संसार के सभी लोग इच्छुक थे (महावंश, अष्टम परिच्छेद)। इस प्रकार की कथा में पद्मावत की कथा का आधार खोजा जा सकता है। पद्मावती का पिता कम-से-कम नाम से ('यक्ष' न सही) 'गन्धर्व'-सेन था, उसके विलास तथा वैभव की क्या सीमा, पद्मावती के रूप पर तीनों लोकों के मधुप मँडराते थे, अन्त में जम्बूद्वीप का एक राजकुमार सन्यासी बन, नाव में बैठ, वहाँ पहुँचा और अपना साहस दिखलाकर उस विश्व-सुन्दरी का पाणिग्रहण कर सका।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की वर्तमान सिंहलिनियों के रूप से तुलना करने पर यह निश्चय किया है कि जायसी का 'सिंहल' ऐतिहासिक सिंहल अर्थात् लंका न होकर राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान[५] होगा। जायसी ने स्वयं भी 'सिंहल' को 'लंका' से भिन्न कोई द्वीप माना है, सात द्वीपों के नाम गिनाते समय सिंहल और लंका का अलग-अलग उल्लेख किया है, और सिंहल के राजा की लंका के राजा से, तथा सिंहलनगर की लंकानगर से सर्वत्र तुलना की है—

लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥ (पृ० १२)

लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका। निरखि न जाइ, दीठि तन थाका। (पृ० १५)

---

१ महावंश, सप्तम परिच्छेद, छन्द ४१।

२ वही, षष्ठ परिच्छेद, छन्द ३२-३३ तथा सप्तम परिच्छेद, छन्द ४२।

३ महावंश १२/४६, १५/१२७, १।४७ तथा २०/१५।

४. वही १/२१-२२ तथा १/८४।

५. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० २५।

लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड ताकर साजू॥ (पृ० १०)
और खजहजा अनवन नाऊ। देखा सब राउन-अमराऊ॥ (पृ० ११)

जायसी ने जो सात द्वीप गिनाये हैं इनका ऐतिहासिक या भौगोलिक महत्व है या नहीं, यह विचार नहीं करना, परन्तु यह निश्चय है कि इन नामों की जनता में काफी प्रसिद्धि रही होगी, 'कथक' इसीलिए इनका उल्टा-सीधा प्रयोग कर लिया करते थे। 'महावंश' के आधार पर इतिहासवेत्ताओं ने उन स्थानों की चर्चा की है जहाँ अशोक के समय में धर्म-प्रचार के लिए स्थविर भेजे गये थे (महावंश, द्वादश परिच्छेद), जम्बू-द्वीप के 'प्रत्यन्त' सात देशों (अथवा द्वीपों) की सूची दी गई है, डा० लॉ के अनुसार[1] यह प्रचार-क्षेत्र उत्तर में गान्धार, दक्षिण में सीलोन, पश्चिम में पश्चिमी समुद्र तट तथा पूर्व में लोअर बरमा तक फैला हुआ था। गिनाये गये स्थानों[2] में से कुछ स्थानों के नाम जायसी के द्वीपों से मिलते हैं जैसे सरनदीप[3] और स्वर्णभूमि, लंकदीप और लंका, दीप गभस्थल और गान्धार, दीप महिस्थल (या महुस्थल) और महिष्मण्डल— सरनदीप तो स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि प्रसिद्ध है ही,[4] गर्भस्थल गान्धारस्थल ही हो सकता है, और महिस्थल को नर्मदा का दक्षिणवर्ती प्रदेश महिष्मण्डल मानना पड़ेगा, इसको इतिहास के इस मत का भी समर्थन प्राप्त है कि अशोक के राज्यकाल में बौद्धमत उत्तर भारत में भली भाँति दृढ़ होकर पूर्व देश तथा दक्षिण देश में प्रवेश कर रहा था[5]। अब जायसी द्वारा गिनाये गये तीन द्वीप और रह गये—जम्बूद्वीप, सिंहलद्वीप, और दियाद्वीप; 'जम्बूद्वीप' के विषय में मतभेद को कोई स्थान नहीं है, 'सिंहलद्वीप' पर हम विचार कर रहे हैं, 'दियाद्वीप' बच जाता है, इसकी स्थिति पश्चिमी समुद्र तट पर माननी पड़ेगी क्योंकि पश्चिम ही एक ऐसी दिशा बच गई जिसका कोई स्थान शेष ६ द्वीपों में नहीं आ पाया है—जब तक कोई विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश न डाले तब तक हम 'दियाद्वीप' को पश्चिमी समुद्र तट का द्वारका मान लेते हैं, बंगाली कवियों ने अपने मंगल काव्यों में पश्चिमी तट के लिए समुद्र यात्रा करने वाले वणिकों का उल्लेख किया है, और कवि कंकण ने अपने चंडीकाव्य में अन्य मुख्य स्थानों के साथ द्वारका की भी सगौरव चर्चा की है।

सिंहल को पहिचानने से पूर्व ऊपर के विवेचन से परिलक्षित दो निष्कर्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम यह कि लोककथाओं में 'द्वीप' शब्द का अर्थ 'समुद्र के बीच में निकला हुआ स्थल'[6] नहीं है, प्रत्युत किसी भी भूभाग को 'द्वीप' कहा जा

---

१ ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज़म, पृ० ६०।

२ बुद्धिज़म एण्ड अशोक, पृ० ७३।

३. शुक्लजी ने लंका और सरनदीप को अलग-अलग मानने पर आपत्ति की है जो अनुचित है, बौद्ध इतिहास में इनको अलग-अलग माना गया है।
(दे० जायसी ग्रन्थावली, सिंहलद्वीप-वर्णनखण्ड, फुटनोट १)।

४. महावंश, द्वादश परिच्छेद, फुटनोट ३।

५ बुद्धिज़म एण्ड अशोक पृ०, ७२।

६. द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्। (अमरकोश)

सकता है—भूखण्ड, देश, प्रदेश, नगर तथा द्वीप शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय यह कि जम्बुद्वीप के दक्षिण तथा पूर्व में भारतीयो के जो उपनिवेश वसे थे उनमें भारतीय सस्कृति की इतनी अधिक छाप थी कि मुख्य-मुख्य नगरो तथा नदियो के सारे नाम भारतवर्ष के ही रख लिए गये थे—डा० भाण्डारकर ने चार मथुरा नगरो का उल्लेख किया है[1], ब्रह्मदेश में दूसरा भारत बसाने का तो सफल प्रयत्न हुआ ही, बौद्ध मत के भारत-बाह्य स्थानो की भी ज्यो-की-त्यो आवृत्ति हो गई[2]। यदि भारत के वासुदेव कृष्ण का सारा जीवन सिहलराज पाण्डुवासुदेव के दौहित्र पाण्डुकाभय के जीवन में प्रतिबिम्बित मिलता है (दे० महावश, नवम परिच्छेद), तो सिंहल के कैलाश आदि बिहार तथा अनुराधपुर आदि नाम भी ब्रह्मदेश में पाये जाते हैं।

अशोक के जीवन-काल में तिष्य स्थविर द्वारा नियोजित तृतीय धर्म सगीति भारत में बौद्धमत की अन्तिम सभा थी, इसके उपरान्त उत्तर से धीरे-धीरे बौद्धमत का लोप होने लगा, साथ ही उसका लका में उतना ही प्रभाव बढने लगा। लका का धर्म अधिक कट्टर था, भारत में जहाँ महायान को अधिक आश्रय मिला वहाँ लका में हीनयान को, और पूर्व के देशो में लका का प्रभाव अधिक था परन्तु उत्तर-पूर्व के देशो में भारत का। जब लका में भी धर्म का झण्डा लडखडाने लगा तो उसका एकमात्र गढ सुदूर पूर्व का ब्रह्मदेश ही बन गया—जो जोश एक समय जम्बुद्वीप में था, फिर किसी समय सिंहल में रहा, वह अब ब्रह्मदेश में अपना फन दिखलाने लगा। सातवी शताब्दी से ही ऐसे प्रामाणिक उल्लेख मिलने हैं जिनके अनुसार जम्बुद्वीप तथा लकाद्वीप के बौद्ध विद्वान् विशेष अध्ययन के लिए ब्रह्मदेश जाते थे। सातवीं शताब्दी में नालदा के अध्यापक काञ्चीवासी धर्मपाल तथा ग्यारहवी शताब्दी में बगाल के अतीस दीपाकर बौद्धमत के विशेष अध्ययन के लिए इन पूर्व देशो में गये थे[3], अरिमर्दनपुर के राजा अनिरुद्ध[4] (मृत्यु १०७७ ई०) के शासन को तो स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। इधर भारत में ब्राह्मण धर्म फिर से जाग उठा था, और शिक्षित समाज बौद्धमत को छोड चुका था, छठवीं शताब्दी से ही वेद-शास्त्रो की दुहाई दी जाने लगी थी[5], बौद्धमत या तो कुछ विहारो में बन्द रह गया या निम्नस्तर की जनता में बिखरा हुआ। यह जनता धर्म का केन्द्र आज भी भारत के बाहर किसी द्वीप को जानती थी, और श्रुति-परम्परा से उस द्वीप का नाम इस जनता में 'सिंहल' था। लोक साहित्य में सिंहलद्वीप इसी अर्थ में आया है, हिन्दी तथा बगाली की अधिकतर लोक-कथाएँ सिंहल के विना चलती ही नहीं, यहाँ तक कि रामकथा में भी बगालियो ने दशरथ का विवाह[6] सिंहलराज की पुत्री

१ लेक्चर्स आन दि एन्सेन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० १२।
२. हिन्दु कोलोनीज इन दी फार ईस्ट, पृ० २१५ तथा २१६।
३ ग्रेटर इडिया, पृ० ५६-५७।
हिन्दु कोलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ८५।
४. हिन्दु कोलोनीज०, पृ० २१०-२११।
५ मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ६-१०।
६ प्राचीन बग साहित्य, कृत्तिवास, पृ० ६४।

से करा दिया है। इस प्रकार यह निश्चय है कि जायसी का धर्मद्वीप प्राचीन सिंहल (लंका) न होकर नवीन सिंहल या सिंहलाभास (ब्रह्मदेश का कोई भाग) है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सिंहल की स्थिति राजपूताने या गुजरात में मानी है, श्री कालिदास राय ने भी दशरथ की ससुराल वाला सिंहल[1] लगभग वैसा ही कोई स्थान बतलाया है, तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सिंहलदेश या त्रियादेश हिमालय के चरणों में स्थित नाथों का कोई प्रसिद्ध परीक्षा-स्थान है।[2] परन्तु जायसी का सिंहलद्वीप इन तीनों स्थानों में से एक भी नहीं है, उस तक पहुँचने के लिए समुद्र-यात्रा तो करनी ही पड़ेगी, बंगीय लोक-कहानियों में भी समुद्री मार्ग से ही सिंहल पहुँचा जाता है।

जायसी ने जम्बुद्वीप से सिंहलद्वीप पहुँचने का समुद्री मार्ग बतला दिया है। दण्ड-कारण्य से दो मार्ग सामने आते हैं—एक सिंहल जाने वाला और दूसरा लंका के पास पहुँचाने वाला। लंका वाले मार्ग को एक ओर छोड़कर उड़ीसा में समुद्र-तट पर जा निकलते हैं[3]। बंगाली कवि वंशीदास के अनुसार सिंहल जाते समय एक ओर कलिंग और उत्कल देश रह जाते हैं दूसरी ओर दक्षिण का सेतुबन्ध रामेश्वर और कनकलंका सामने दिखलाई पड़ती है।[4] कविकंकण मुकुन्दराम के अनुसार सेतुबन्ध को एक ओर छोड़कर जब धनपति ने दूर से लंका के प्रासादों को देखा तो पूछा कि सिंहल कितनी दूर है? फिर रात्रि-दिन चलते रहने के उपरान्त वे कालीदह (गंभीर सागर) को पार करके सिंहल नगर के निकट आ गये।[5] रत्नसेन के लौटने का भी जायसी ने ऐसा ही वर्णन किया है—

---

१ बाँगाली कवि सिंहल-राजकन्या सगे दशरथेर विवाह दिया सिंहल आर लंका के एक नय तहाइ बलियाछेन। एइ सिंहल भारतेर मध्येइ एकटा प्रदेश, मृगया करिते-करिते जेखाने पौंछानो जाय। (वही, वही, वही)

२ नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५५, तथा पृ० १६७।

३. परे आइ बन परबत माहाँ। दण्डाकरन बीझ बन जाहाँ॥
एक बाट गइ सिंघल, दूसरि लंक समीप॥
आगे पाव उड़ैसा, बाएँ दिसि सो बाट।
दहिनावरत देइ कै, उतरु समुद के घाट॥ (जोगी खंड)

४ कलिंग उत्कल देश डाइनें पुइया।
सेतुबन्ध रामेश्वर राखिया दक्षिणे॥
सम्मुखे कनक लंका देखे ततक्षणे॥ (मनसा मंगल)

५ सेतुबन्धु सडागर पश्चात् करिया।
दूर हैते देखे साधु लंकार मयाल॥
अलक्ष्य सागर जानि यामे नाहि स्थल॥
पथिक जिज्ञासे कत योजन सिंहल?

आधे समुद ते आये नाहीं। उठी बाउ आँधी उतराहीं॥
बोहित चले जो चितउर ताके। भये कुपंथ, लंक दिस हाँके॥
महिरावन कै रोढ जो परी। कहहु सो सेतुबंध बुधि छरी॥
(देश यात्रा खंड)
जगन्नाथ कहँ देखा आई। भोजन राँधा भात बिकाई॥
(लक्ष्मी समुद्र खंड)

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि (१) समुद्र यात्रा के लिए उड़ीसा में पुरी[1] का बन्दरगाह एक सामान्य स्थान था, (२) सेतुबन्ध तथा लंका को दूर से देखकर मार्ग का अनुमान लगाया जाता था, (३) पूर्वी समुद्र में जिस ओर लंका है उससे दूसरी ओर सिंहल का मार्ग है, (४) तथा जहाँ से लंका दिखाई पड़ती है वहाँ से सिंहल यात्री से कम दूर रह जाता है—जानेवाले के मन में धैर्य बँध जाता है कि अब कुछ ही दिनों की और बात है। इस प्रकार सिंहल दक्षिणी ब्रह्मदेश का कोई समुद्रतटवर्ती प्रसिद्ध स्थान है, बंगीय कवियों ने जिसको अपनी कविता में 'पूर्व देश' कहा है, और बंगीय विद्वानों ने इसको बौद्ध मत का केन्द्र 'निम्नब्रह्म' माना है।[2] इतिहास यह बतलाता है कि उत्तर ब्रह्मदेश की अपेक्षा दक्षिण ब्रह्मदेश में भारतीयों का आना-जाना अधिक था, और वे समुद्री मार्ग से ही जाते थे[3]।

स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि नामों का प्रयोग बड़े अनिश्चित अर्थ में होता था, सुदूर पूर्व के सभी देशों के लिए भी इन नामों का व्यवहार था तथा प्रदेश विशेष या विशेष प्रदेशों के लिए भी। संभव है जावा को कभी यह नाम मिला हो, क्योंकि एक समय इसका राजनीतिक प्रभाव सर्वत्र था, यह पहले हीनयान तथा फिर महायान का केन्द्र बन गया था, सुमेरु पर्वत यहीं खोजा जा सकता है तथा १३वीं शती में यहाँ का सिंहसारि राज्य बड़ा शक्तिशाली था[4]। तब सिंहल की खोज ह्वेनसांग द्वारा दिये गये मौन राज्य के सीमा प्रदेशों का आश्रय लेते हैं, दिये गये ६ नामों में से प्रथम को

रात्रि दिन चले साधु निलेक नाहि रहे।
उपनीत धनपति हैता कालीदहे।
वाह वाह बलिया डाकेन सदागर।
निकट हइल राज्य सिंहल नगर॥ (चंडीकाव्य)

१ बंगीय कवि भी पुरी से ही अपनी समुद्र यात्रा प्रारम्भ करते हैं।
(प्राचीन बँगाला साहित्येर कथा, सेकाले बाणालीर वाणिज्य, पृ० ७१)।

२ बँगालार 'पूर्बदेश' बलिते ब्रह्मदेशेइ विशेषत निम्नब्रह्म बुझाइतेछे जाति-विचारहीन बौद्धगण के नियाइ बोध होइ कविरलेष करिया बलिते छेन जे 'सब जाति एकाचारी नाहिक आचार'। (वही, वही, वही, पृ० ८४)

३ इण्डियन कोलोनिस्टस ट्रू वेंट बाइ सी टु लोअर बर्मा वर फार सार्जर इन नम्बर दैन दौज हू प्रोमोटेड बाइ डिफिकल्ट लैंड रूट्स टु अपर बर्मा
(हिन्दु कोलोनीज०, पृ० १६१)

४. हिन्दु कोलोनीज०, पृ० ६६ से ६५ तक।

आजकल श्री क्षेत्र समझा जाता है,[1] यह दक्षिण ब्रह्मदेश की समुद्र-तटवर्ती प्रसिद्ध राजधानी[2] थी, जिसमें पहले हिंदू संस्कृति का केन्द्र था और फिर राजा अनिरुद्ध की कट्टरता के कारण ११वीं शती में बौद्ध मत की सांस्कृतिक पीठ बन गई। जायसी का सिंहल यही श्रीक्षेत्र जान पड़ता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने श्री पर्वत नाम के एक सिद्धिपीठ की चर्चा की है[3] जो वज्रयानी सिद्धों का केन्द्र था, यह दक्षिण में था, क्या आश्चर्य है कि भारत से बौद्धमत के साथ यह नाम (श्रीपर्वत या वज्रपर्वत) भी दक्षिण ब्रह्मदेश में अपने गुणों को ले गया हो, और ब्रह्मदेश के पुराने श्रीक्षेत्र में भारत के इस श्रीपर्वत के गुणों की कल्पना उस पिछड़ी हुई जनता ने कर ली हो? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी स्त्रीदेश, त्रियादेश तथा सिंहल को एक मानते हैं, क्या श्रीक्षेत्र को स्त्रीदेश (स्त्रीक्षेत्र) या सिंहल मानने में इससे अधिक कल्पना की आवश्यकता है, विशेषतः उस परिस्थिति में जब शेष सारी बातें यहाँ मिल जाती हों?

जायसी के सिंहलद्वीप में दो और बातों पर भी ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि जायसी ने बार-बार उसकी लंका से तुलना की है, जिसका अभिप्राय यह है कि सिंहल का आदर्श जम्बुद्वीप की अपेक्षा लंका अधिक है, अर्थात् लंका का महत्त्व कम होने के साथ सिंहल का उत्कर्ष हुआ और क्योंकि यह उत्कर्ष बौद्धमत सम्बन्धी ही था, इसलिए सिंहल को लंका के उपरान्त प्रतिष्ठीभूत धर्मस्थल मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि जायसी ने सिंहली हाथियों की बड़ी प्रशंसा की है (सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दोहा २० से २१ तक) जो स्वयं सिंहल के ब्रह्मदेश में होने का प्रमाण है।

जायसी के सिंहलद्वीप के साथ कदलीवन या कजरीवन (या कदली देश) का नाम भी प्रायः लिया जाता है। बंगाल की गोरक्ष-विजय कहानियों में यह प्रसंग बड़े महत्त्व का है कि जब गोरखनाथ के गुरु मीननाथ कदली देश की कामिनियों के जाल में फँस गए तो गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था। गोविन्ददास (१८वीं शती) ने अपने कलिका-मंगल-काव्य में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

> मीननाथ नामे छल एक महायोगी। भाव जानिने तेह हइलेन वैरागी॥
> अनेक कामिनी लैया कदलीर वने। रतिरसे अनुभोग हैल दिने दिने॥
> गोरखनाथ परम योगी मीननाथेर शिष्य। नाना मत करिलेक गुरुर उद्देश॥

जायसी ने भी परम्परा के अनुसार 'कजरीवन' की कथा का संकेत किया है परन्तु गोरखनाथ के प्रसंग में नहीं, गोपीचन्द या भर्तृहरि के ही प्रसंग में—

> (क) जो भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥
> उन्ह हिय-दीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-बन सेवा॥
>
> (जोगी खण्ड)

---

१. वही, वही, पृ० १६७-१६८।

२. साउथ इंडियन इन्फ्लुएंसेज इन दि फार ईस्ट, पृ० १३ तथा १५।

३. पुरातत्त्व-निबन्धावली, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, पृ० १४१।

(ख) जानौं आहि गोपिचन्द जोगी । की सो आहि भरथरी वियोगी ॥
ये पिंगला गए कजरी-आरन । ए सिंघल आए केहि कारन ? ॥ (बसंत खंड)

वस्तुतः जायसी की दृष्टि में कदलीवन और सिंहलद्वीप दो भिन्न-भिन्न स्थान हैं, यह सम्भव है कि दोनों ही धार्मिक परीक्षा के केन्द्र रहे हों, परन्तु दोनों को एक ही न समझना चाहिए।

यह पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच जायसी के मन में इन स्थानों की भौगोलिकता भी थी। उत्तर निश्चय ही निषेधात्मक होगा। जायसी और उनकी परम्परा का इन स्थानों से सुना-सुनाया परिचय था, वे बंगीय लोक-कवियों के समान भी नहीं माने जा सकते जो समुद्रजीवी लोगों के ही बीच रहते थे। समुद्र तथा तद्विषयक ज्ञान जायसी आदि को पूर्वी लोक-कहानियों (बंगीय लोक-काव्यों) के प्रभाव से ही मिला होगा, इसीलिए इनके नाम आदि विश्वसनीय नहीं हैं परन्तु वर्णनों की सचाई पर सन्देह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जायसी की दृष्टि से तो उनका सिंहलद्वीप केवल 'कैलाश' है—सिंहलद्वीप आहि कैलासू। यदि 'आखिरी कलाम' के वर्णनों से तुलना करते हुए रत्नसेन की सिंहल यात्रा पर विचार किया जाय तो यह रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है।

पद्मावत के पूर्वार्द्ध में ('षट्-ऋतु-वर्णन-खंड' तक के २६ खंडों में) प्रलय तक की कहानी प्रतीक रूप में कही गई है। रत्नसेन पैगम्बर का प्रतिनिधि सूफी गुरु (या स्वयं पैगम्बर) है, सोलह सहस्र राजकुमार उसके अनुयायी हैं जो उसके रास्ते पर ईमान लाते हैं, समुद्र का किनारा ही इश्क का प्रारम्भ है, मार्ग के सात समुद्र नाना प्रकार की यातनाएँ हैं। अन्त में सिंहल का सुख स्वर्ग-भोग है, पार्वती बीबी फातिमा जान पड़ती है क्योंकि उसी की दया से सबका उद्धार होता है, तोते का वचन कुरान का उपदेश था। इस प्रकार रसूल के कलाम पर ईमान लाने वाले सूफी मुरशिद के अनुयायी अनेक यातनाओं के सहने के बाद अन्त में अखंड स्वर्गभोग को प्राप्त करते हैं, और शेष सारे लोग नरक कुंडों में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं। प्रेमपथ पर चलने वाला उस मार्ग को प्राप्त करता है जहाँ मृत्यु तो है ही नहीं, केवल सुख-ही सुख है, और जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[1] पहले पाँच समुद्र मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियाँ हैं, जो इनमें डूब जाता है उसका उद्धार नहीं हो सकता। खार समुद्र में संसार का तिरस्कार है इसको वही पार कर सकता है जिसके हृदय में 'सत'[२] है, खीर समुद्र में भोग का आकर्षण है, यदि मन फँस गया तो योगभ्रष्ट हो जाना है[3], दधि समुद्र में प्रेमाग्नि है इसकी जलन व्यर्थ नहीं जाती[४], उदधि समुद्र में प्रेम की तड़पन है[५], और

१ प्रेम-पंथ जों पहुँचै पारा । बहुरि न मिलै आइ एहि छारा ॥
तेहि पावा उत्तिम कैलासू । जहाँ न मीचु, सदा सुख बासू ॥ (बोहित खंड)

२ सत साथी सत कर संसारू । सत्त खेंड लेइ लावै पारू ॥ (सात समुद्र खंड)

३. मनुआ चाह दरब औ' भोगू । पंथ भुलाइ बिनासै जोगू ॥ (वही)

४ दधि समुद्र देखत तस दाधा । प्रेमक लुबुध दगध पै साधा ॥ (वही)

५ तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै सब नीर ॥ (वही)

सुरा समुद्र में प्रेमोन्माद है[1] जिसके कारण ही सिंहल की यात्रा की जाती है। इसके अनन्तर किलकिला समुद्र आता है जो मृत्यु की यात्रा है, यह प्रलय का दृश्य है[2] जिसको देखकर होश-हवास उड़ जाते हैं[3], इसी अवसर के लिए गुरु की विशेष आवश्यकता होती है।[4] इस 'पुले सरात' का चित्र जैसा पद्मावत में है वैसा ही 'आखिरी-कलाम' में भी—

(क) इहै समुद्र-पथ मँझधारा। खांडे के असिधार निनारा॥
तीस सहस्र कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा॥
खांडै चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
मरा सो गएउ पतारहि, तरा सो गा कविलास॥
कोई बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु जस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू।
कोई रँगहि जानहुँ चाँटी। कोई टूटि होहिं तर माटी॥ (पद्मावत)

(ख) तीस सहस्र कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा॥
बारहु तें पतरा अस झीना। खडग-धार से अधिको पैना॥
जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु अस जाइहि पारा॥
बहुतक जानौं रँगहि चाँटी। बहुतक बहे दाँत धरि माँटी॥ (आ० कलाम)

यदि यात्री नरक-कुंडों में गिरने से बच गया तो अब अन्तिम समुद्र मानसर में आता है, इसको 'मानसर' क्यों कहा गया, इसका उत्तर भी 'आखिरी कलाम' में ही मिलेगा—यह दूध और पानी को अलग-अलग करने का स्थान है[5], यहाँ हमारे कर्मों का न्याय होता है। जब बीबी फातिमा की दया से सबका उद्धार हो गया तो रसूल और उसके अनुयायी सुगन्धित जल से नहाकर सज-धजकर ज्योनार के लिये बैठे, सबके बीच मुहम्मद ऐसे लगते थे जैसे बरात के बीच दुलहा बैठा हो[6], दुलहा मुहम्मद और दुलहा रत्नसेन में कोई भेद नहीं है, जिस प्रकार पद्मावती के अनूप रूप को देखकर रत्नसेन तन-मन की सुधि भूल जाता है उसी प्रकार परम ज्योति की झलक पाकर रसूल मूर्च्छित हो गया। स्वर्ग-भोग का वर्णन दोनों स्थलों में एक-सा है, इधर हूरें हैं उधर पद्मिनियाँ हैं—आगे चलकर हूरों को 'पद्मिनी' कह दिया है, सिंहल की कामिनियाँ तो अप्सराएँ थीं ही। रत्नसेन की बरात तथा रसूल का जलूस बिलकुल एक-से ही हैं, जिनको देखने के लिए अप्सराएँ बन-ठनकर झरोखों में आ बैठती हैं। जायसी

---

१. जो तेहि पियै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥ (वही)
२ भै परलै नियराना जबहीं। (वही)
३. गै औसान सबन्ह कर, देखि समुद्र कै बाटि॥ (वही)
४. एही ठाँव कहँ गुरु संग लीजिय॥ (सात समुद्र खंड)
५ नीर छीर हुँत काढव छानी। करब निनार दूध औ' पानी॥ (आ० कलाम)
६ ऐसे जतन बियाहे, जस साजै बरियात।
दूलह जतन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात॥५३॥ (वही)

ने 'बिहिस्त' को 'कैलास' कहा है और सिंहलद्वीप को भी, दोनो में सात खंड के प्रासाद हैं, वही अगर, कपूर, कस्तूरी की चहल-पहल, वही राजकुमारी युवती पद्मिनियों के साथ भोग-विलास, वही शरीर की सुकुमारता और रूप का अपूर्व आलोक।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थूल रूप से जायसी का सिंहल लोक-परम्परा में प्रसिद्ध दक्षिणी ब्रह्मदेश का वैभव-सम्पन्न और धर्म-स्थल कोई समुद्रतटवर्ती प्रदेश है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से वह इस्लामी परम्परा का स्वर्ग है, जो रसूल के अनुयायियों का सुरक्षित स्थान कहा जा सकता है।

पद्मावत का उत्तरार्द्ध भी ऐतिहासिक नहीं है। कोई भी काव्य उस समय तक ऐतिहासिक नही कहा जा सकता जब तक कि उसमें ऐतिहासिक विचार-धारा सुरक्षित न हो, पद्मावत में रत्नसेन तथा अलाउद्दीन अवश्य मिलते हैं परन्तु न रत्नसेन में राजपूती रक्त है न अलाउद्दीन में अलाउद्दीनत्व। यदि जायसी ने रत्नसिंह के प्रसिद्ध व्यक्तित्व में जान-बूझकर परिवर्तन किया है तो यह कवि की अनुदारता है, रत्नसेन तोते के फुसलाने में आ जाता है, भोगविलास में अपना कर्त्तव्य भूल जाता है, धन को पाकर मदोन्मत्त हो उठता है, और समुद्र में दुखी होकर प्राकृत जन के समान बिलखता है, दरबारी पंडित उसको झाँसा देकर राघव को उसके प्रतिकूल कर देते हैं, उसमें पद्मावती के बराबर भी दूरदर्शिता नही, अलाउद्दीन के घृणित प्रस्ताव से उसका रक्त एकदम नही खौल उठता प्रत्युत वह निर्वीर्यों के समान नीति समझता है[1], जायसी ने शाह को सूर्य तथा रत्नसेन को चन्द्र बतलाया है[2], रत्नसेन का कैद होना उसकी मूर्खता तथा अकर्मण्यता का प्रमाण है, जब वह छूटकर चित्तौड़ आ गया तो पद्मावती से बातों में उसका क्षत्रियत्व नही झलकता प्रत्युत स्त्रैणता टपकती है[3], अलाउद्दीन के हाथ से न मरकर देवपाल के हाथ से मारा जाना उसके जीवन की विडम्बना है—प्रमुख शत्रु को मारना या उसके हाथ से मरना राजपूती गौरव है, कीड़ों (कीड़ों के समान तुच्छ शत्रुओं के बीच) में मरना उसकी अन्तिम असफलता है। पद्मावती में न क्षत्राणी के गुण हैं, न पटरानी के, न हिन्दू गृहिणी के, पूर्वार्द्ध में तो वह कामशास्त्र की पद्मिनी नायिका भर है, जो रूपगर्विता है, नजाकत का खिलौना बनी हुई हर समय प्रिय के

---

१ भलेहिं साह पुहुमीपति भारी। माँग न कोउ पुरुष कै नारी॥

× × ×

देख लेई तौ मानौं, सेव करौं गहि पाउ।
चाहै जो सो पदमिनी, सिंहलदीपहि जाउ॥ (बादशाह-चढ़ाई-खंड)

२ जौ लगि सूर जाइ देखरावा। निकसि चाँद घर बाहर आवा॥
(बादशाह-चढ़ाई-खंड)

चाँद घरहि जो सूरज आवा। होइ सो अलोप अमावस पावा॥
(रत्नसेन-बंधन खंड)

३ आस तुम्हारि मिलन कै, तब सो रहा जिउ पेट।
नाहित होत निरास जौं, कित जीवन, कित भेंट॥ (पद्मावती-मिलन खंड)

गले से लिपटी रहने वाली, अपनी कामुकता का परिचय वह विवाह से पहले ही दे चुकी थी[1], चित्तौड़ आकर उसने नागमती से बाकायदा कुश्ती की, जिसका समाचार सुनकर राजा स्वयं उस अलौकिक (पालतू पक्षियों की-सी) जोड़ी को बचाने के लिए उस स्थल पर आया[2]। पद्मावती ने सबसे बड़ी भूल उस समय की जब वह एक मूर्ख दासी के कहने से सोलह शृंगार करके झरोखे से अलाउद्दीन को देखने पहुँच गई, यह सत्य है कि स्त्रियों में इस प्रकार की उत्सुकता होती है, इसीलिए अपने ही दूल्हा को देखने की आतुरता पद्मावती ने अपने विवाह के अवसर पर भी दिखलाई थी, परन्तु नागमती भी तो स्त्री थी, और जो व्यक्ति उसको उसके पति से छीनना चाहता है उस दुष्ट का मुँह देखना क्या पतिव्रता के लिए उचित है—इस हीनाचार से यदि अलाउद्दीन यह समझता कि जिस प्रकार मैं इसके रूप का क्रीतदास हूँ उसी प्रकार यह मेरे बल-वैभव के सामने झुक सकती है, तो क्या वह गलती करता ? दूती कुमोदिनी जिन पकवानों को लेकर पद्मावती को पटाने आई थी उनको स्वीकार न करना उसके चरित्र का कोई विशेष गुण नहीं है, अन्त में भी पद्मावती जौहर न कर सकी प्रत्युत सती हो गई। इस प्रकार जायसी के नायक तथा नायिका ऐतिहासिक तो है ही नहीं, सामान्य से भी नीचे स्तर के है, उनमें न तो उनकी जाति के गुण है न उनके व्यक्तित्व के। जायसी ने जान बूझकर कोई परिवर्तन न किया हो शायद हीन जनता के सामान्य गुणों को ज्यों-का-त्यों उन्हीं की बातों से अपना लिया हो।

काव्य-सौन्दर्य

सूफी कवियों की प्रवृत्ति उनकी काव्य-शैली में भली भांति झलकती है, वे सामान्य जनता के मनोरंजन में योग देकर उसके हो जाते थे और उसका विश्वास प्राप्त करके उसको अपना उपदेश सुनाते थे। जो कवि गम्भीर होते थे उनका टिकना बड़ा कठिन था, जायसी की तो सूरत देखकर ही लोग मजाक उड़ाते थे[3], केवल उपर्युक्त युक्ति ही

---

१. सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
जोबन मोर भयउ जस गगा। देह-देह हम्ह लाग अनगा॥ (जन्मखंड)
× × ×
मैं जानेउँ जोबन रस भोगू। जोबन कठिन सन्ताप वियोगू॥
× × ×
जोबन भर भादों जस गगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा॥
(पद्मावती-वियोग-खंड)
और सहेली सबै बियाही। मों कहँ देव! कतहुँ बर नाहीं॥ (बसन्त खंड)

२ पवन स्रवन राजा के लागा। कहेसि लरहिं पदमिनि औ नागा॥
दूनौ सवति साम औ गोरी। मरहिं तो कहँ पावसि असि जोरी॥
(नागमती-पद्मावती-विवाद-खंड)

३ जेहि मुख देखा तेइ हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु। (पृ० ६)

उनको सफल बना सकी। उस्मान ने लिखा है कि उनको मनोरंजन की बातें इसलिए करनी पड़ती हैं कि यदि वे ऐसा न करें तो लोग उनकी खिल्ली उड़ाते हैं[१], उनकी गम्भीर बातों को सुनने का तो प्रश्न ही नहीं आता। अत विनोद एक साधन था जिसके आवरण में सूफी कवि अपनी तीखी बूटी 'मुग्ध' जनता को पिला दिया करता था। इस काव्य में इसीलिए एक ओर खिलवाड़ है दूसरी ओर उपदेश, दोनों का सयोग यहाँ होता है जहाँ कवि खिलवाड़ करके अपने अपार ज्ञान का परिचय देता हुआ अपने को गुरुपद के योग्य सिद्ध करता है।

खिलवाड़ एव गम्भीरता के इस योग (ज्ञान प्रदर्शन) के अनेक उदाहरण सभी काव्यों में मिलते हैं, परन्तु सभी काव्यों में उसका रूप एक सा ही नहीं है। जायसी किसी लोकशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं और श्लेष अथवा यमक की सहायता से प्रस्तुत वर्णन के साथ-साथ उस शास्त्रविशेष की प्रक्रिया अप्रस्तुत रूप से आती रहती है, सिधि-गुटका (पृ० १२६), पासा (पृ० १३७), जोगी (पृ० १५६), बेली (पृ० १६६) तथा फुलवारी (पृ० १६२) के प्रसग तो प्रसिद्ध हैं ही, काया-भीतर (पृ० १२६), नैन-डोल (पृ० २६४) आदि के स्थल भी देखने योग्य हैं। नूर मुहम्मद ने 'अनुराग-बाँसुरी' में साहित्यशास्त्र के शब्दों को इस शैली के लिए अपनाया है, उनके यहाँ एक ही स्थल पर शास्त्रविशेष के सभी शब्द नहीं आते प्रत्युत किसी वर्णन में एक शब्द है तो किसी में कोई दूसरा शब्द; इस प्रकार 'सांतरस', 'करुना रस', 'उनमाद', 'जड़ता', 'परलाप', 'निश्चय', 'सदेह', 'स्वाधीनभर्तिका', 'रूपगर्विता', 'प्रेम-गर्विता' आदि रस, प्रेमदशा, अलकार तथा नायिका-भेद के पारिभाषिक शब्दों का बड़ा भद्दा प्रयोग[२] 'अनुरागबाँसुरी' में मिलता है। उस्मान की 'चित्रावली' में 'बासकसेजा' (पृ० २२८), 'तियखडित' (पृ० २२६), 'नायिका धीरा' (पृ० २२६) आदि साहित्य-शास्त्र के, और 'सुरति' तथा 'महासुख' (पृ० २१०) आदि योगशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, तो 'माधवानल कामकदला' में आलम ने रागों के साथ उनकी सभी रागि-नियों[३] के नाम परिचय सहित गिना दिये हैं[४]। सभी लोककहानीकारों ने अपने काम-शास्त्र के ज्ञान का तो पूरा परिचय दिया ही है, जायसी में शकुन विचारने वाले दिशा-शूल, योगिनी, तिथि तथा राशि के फल का भी लम्बा वर्णन (पृ० १६८-६६) है, यह प्रथा अपभ्रंश के लोक-साहित्य में भी थी, वीर काव्य में भी इसका प्रभाव रहा और

---

१ जो न हँसौं तो सब हँसहि, हँसौं तो हँसी न आउ। (चित्रा० १७३)

२ पिय के प्रेम गर्व जो राखै। कवि तेहि प्रेमगर्विता भाखै॥ (पृ० ६)
निश्चय जब दरसन निरखावै। अलकार सन्देह न भावै॥ (६६)
करुना रस उपजत है मोही। चित्रौं बिना जीव कौ सोही॥ (७३)

३ बहुरि बसावै राग पद, पच पच सँग बाल। (आदि से लेकर आगे तक)

४. 'चित्रावली' में सारे राग और उनकी रागिनियों के साथ-साथ सप्तस्वर का भी विस्तृत परिचय दिया गया है। (देवखड, पृ० २६-३०)
'पद्मावत' में भी देखिए 'राजा-बादशाह-युद्ध-खड', पृ० २३५

आगे चलकर 'रामचरित मानस' में भी इसकी छाया मिलती है।

---- ज्ञान-प्रदर्शन से रहित कोरी खिलवाड़ उन स्थलों पर मानी जावेगी जहाँ ऐतिहासिक नामों का श्लिष्ट प्रयोग है, ऐसे वर्णन 'पद्मावत' में हैं, शृंगार रस के प्रसंग में 'राम', रावन', तथा 'लछन' प्रायः श्लिष्ट हैं, सबसे सुन्दर उदाहरण 'रत्नसेन-पद्मावती-विवाह-खंड' में है—

हुलसी लंक कि रावन राजू।
राम लखन दर साजहिं ग्राजू॥[1] (पृ० १२३)

और कोरे उपदेश की प्रवृत्ति भी अनेक स्थलों पर है, प्रेम, ज्ञान, विद्या, मित्रता, भाग्य, रूप आदि के विषय में सूफियों को बहुत कुछ कहना है। यह उपदेश जहाँ नीतिकाव्य बन जाता है उस रूप पर तो आगे विचार करेंगे, यहाँ किसी शब्द की धक पूरने वाली शैली को देखिए। किसी एक शब्द को पकड़कर उसका दम निकाल देना इन काव्यों का एक गुण है, प्रायः 'सत' तथा 'दत्त' दोनो भाइयो[2] पर यह आपत्ति आई है 'चित्रावली' (पृ० १६) में भी तथा 'पद्मावत' में भी, 'दत्त' का दूसरा नाम 'दिया' है, जायसी को 'दत्त' 'सत्त' से भी अधिक प्यारा था[2], इसलिए इसके वर्णन में उसका मन रम गया है—

धनि जोबन औ ताकर हीया। ऊँच जगत महँ जाकर दीया॥
एक दिसा तें दस गुन लहा। दिया देखि सब जग मुख चहा॥
दिया करै आगे उजियारा। जहाँ न दिया तहाँ अँधियारा॥
दिया मंदिर निसि करै अँजोरा। दिया नाहिं घर मूसहिं चोरा॥
(पृ० ६१)

रेखांकित शब्दों के या तो श्लेष के कारण दो अर्थ हैं, या संकेत के कारण, सभी वाक्य दान तथा दीपक दोनो पक्षों में ठीक उतरते हैं, अन्तिम वाक्य का एक अर्थ तो सामान्य है—दीपक के कारण रात्रि के समय घर में प्रकाश रहता है, यदि दीपक न होगा तो घर में चोर घुस आवेंगे और सब कुछ चुराकर ले जायेंगे[3], दूसरा अर्थ बड़ा सुन्दर है—दान से मन में धर्म जगता रहता है यदि दान न होगा तो मन में काम, क्रोध आदि चोर घुस पड़ेंगे और उसको खोखला कर डालेंगे।

वीर काव्य का प्राण नाद तथा अत्युक्ति माने गये हैं; सूफी काव्य शब्द पर मुग्ध थे—शब्द के अभिधेय एक या अनेक अर्थ तो यहाँ पर शोभा के कारण बनते ही हैं, शब्द के सांकेतिक अर्थ भी सराहनीय हैं। कुछ विद्वानों ने सूफियों के विदेशी काव्य

---

१ कमर (लंक) प्रसन्न हुई कि आज राजा उस स्त्री (रामा) के शृंगार (लखन) को लूटता हुआ (दर) उसके साथ रमण करेगा। दूसरा अर्थ—लंका प्रसन्न हुई कि आज राम और लक्ष्मण, रावण को मारकर, उसको सुशोभित करेंगे।

२ दत्त सत्त हैं दूनौ भाई। दत्त न रहै सत्त पै जाई॥ (जा० ग्र० १७१)

३ भर्तृहरि ने धन की तीसरी गति नाश ही मानी है—
दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

में इस साकेतिकता को देखकर यह अनुमान लगाया है कि सूफियों के[१] सन्देश गुप्त होते थे इसीलिए वे इस शैली को अपनाते थे, विदेशी सूफी काव्य को इस्लाम से भी सदा डर रहता था इसलिए खुला उपदेश न देकर वह सकेत द्वारा समझने वालो को अपनी बात समझाता था, भारत में सूफियो पर इस प्रकार का कोई बन्धन न था फिर भी अपनी परम्परा की रीति वे न छोड सके, दूसरा कारण युगप्रभाव भी था ही, यही समय 'सन्ध्याभाषा' के भग्नावशेषो का था, यही समय 'उलटवाँसियो' का था, सम्भव है युग की गति को समझकर ही सूफियो ने अपनी परम्परा के उस गुण को यहाँ सुरक्षित रखा। ध्यान देना होगा कि फारसी कविता के प्रतीक प्याला, साकी और शराब का हमारे सूफियो में अधिक प्रचार नही है[२], इनका अनुराग तो कुछ ऐतिहासिक नामो तथा कुछ प्राकृतिक पदार्थों से ही जान पडता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत के कथन से प्रस्तुत की व्यजना हो वहाँ रूपकातिशयोक्ति अलकार माना जाता है, इस प्रसग में यह भी आवश्यक है कि प्रयुक्त अप्रस्तुत ऐसा प्राकृतिक पदार्थ हो जो कविलोक में व्यड्ग्य प्रस्तुत के लिए प्रसिद्ध हो, यदि ऐसा न होगा तो समझने में पाठक को बडी कठिनाई होगी, कदाचित् इसी बात को ध्यान में रखकर साहित्यशास्त्रियो ने रूपकातिशयोक्ति के उदाहरणो में अप्रस्तुतो के प्रयोग से नायिका या नायक के अगो का वर्णन ही रखा है। सूफियो ने इस प्रसाधन से भी पर्याप्त लाभ उठाया है —

(क) पन्नग, पकज मुख गहे खजन तहाँ बईठ। (जा० ग्र० ४७)
(पन्नग = चोटी, पकज = मुख, खजन = नेत्र)

(ख) ससि पर गलक ढरत किन देखा। (अनुराग बाँसुरी, ७१)
(ससि = मुख, गलक = आँसू)

(ग) अचरज भएउ सबन्ह कहँ, भइ ससि कँवलहि भेंट। (जा० ग्र० १८४)
(ससि = नायिका का माथा, कँवल = नायक के चरण)

सूफियो की इस प्रतीक-शैली में इतनी रुचि नही है जितनी कि एक दूसरे प्रतीक प्रयोग में, जहाँ पर दो व्यक्तियो (या दो स्थानो) का पारस्परिक सम्बन्ध दो प्रसिद्ध प्राकृतिक (या ऐतिहासिक) पदार्थो (या नामों) (यह व्यड्ग्य सम्बन्ध जिनमें लोकप्रसिद्ध है) के प्रयोग से बतलाया जाता है। प्रथम वर्ग (प्राकृतिक पदार्थों के प्रयोग) में मालती-मधुकर, मधुकर-कज, चन्द्र-सूर्य, तारा-शशि, कज-सूर्य आदि के जोडो पर ध्यान देना पडेगा, यहाँ व्यञ्जना उनके गुणो और पारस्परिक सम्बन्धो की होती है इसलिए यह भी हो सकता है कि व्यक्ति-भेद से गुण-भेद की व्यञ्जना हो, जो व्यक्ति शशि है

---

१ अनुराग बाँसुरी, (काव्यचर्चा, पृ० २२)

२ इन प्रतीकों का प्रयोग है तो सही परन्तु कम; 'पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खड'
बिनय करै पद्मावति बाला। सुधि न, सुराही पिएउ पियाला॥
पिय-आयसु माथे पर लेऊँ। जो माँगे नइ नइ सिर देऊँ॥
पै, पिय ! बचन एक सुनु मोरा। चाखु, पिया ! मधु थोरै थोरा॥ (पृ० १४१)

उसका तारागण के साथ एक विशेष गुणवाला सम्बन्ध होगा और सूर्य के साथ एक नितान्त ही भिन्न गुणवाला —

(क) चाँद सुरुज सत भाँवरि लेहीं । नखत मोति नेवछावरि देहीं ॥ (जा० ग्र० १२७)
(चाँद = नायिका, सुरज = नायक, नखत = सखियाँ) ।

(ख) आयौ जगन्नाथ दरबारा । ससिहर लियें संग दुइ तारा ॥ (चित्रा० २३३)
(ससिहर = नायक, दुइतारा = दो नायिकाएँ)

¹(ग) मधुकर भँवैं कंज बैरागा । कंज क मन सूरज सौं लागा ॥
सूर दरस जब कौल बिगासा । तब पूजै मधुकर मन आसा ॥ (चित्रा० १४७) ।
(मधुकर = कमलावती, कंज = नायक सुजान, सूर = नायिका चित्रावली) ।

(घ) मधुकर कौं भइ मालति प्यारी ॥ (अनुराग बाँसुरी, ३६)
(मधुकर = नायक, मालति = नायिका) ।

(ङ) यहाँ बसत केहि कुसुम गुन, मधुकर हिये बिचार ।
भूलि रहा कँह कौल कँह, मालति बेलि सँभार ॥ (चित्रा० १६६)
(मधुकर = सुजान, कौल = कमलावती, मालति = चित्रावली)

दूसरे वर्ग में ऐतिहासिक नामों के प्रसिद्ध सम्बन्ध में प्रस्तुत पारस्परिक सम्बन्ध की व्यंजना होती है, पदमावत में इसके सुन्दर उदाहरण हैं—

(क) छोड़ी राम अयोध्या, जो भावै सो लेय । (जा० ग्र०, २६८)
(राम = रत्नसेन, अयोध्या = चितौड़) ।

(ख) भए अलोप राम औ सीता । (जा० ग्र० ३००)
(राम = रत्नसेन, सीता = पद्मावती) ।

(ग) हनिवँत कहा सीय कुसलाता । राघव बदन सुनत भा राता ॥ (चित्रा०, १७८)
(हनिवँत = परेवा, सीय = चित्रावली, राघव = सुजान) ।

(घ) जहँवा राम तहाँ पुनि सीता । (वही, १७६)
(राम = सुजान, सीता = कमलावती) ।

(ङ) राम अजुध्या ऊपने, लछन बतीसो संग ।
रावन रूप सौं भूलिहि, दीपक जैस पतंग ॥ (जा० ग्र०, २०)
(राम = पद्मावती, अजुध्या = सिंहल, रावन = रत्नसेन) ।

(च) आनु मिली अनिरुध कहँ ऊखा ॥ (जा० ग्र० ११६)
(अनिरुध = रत्नसेन, ऊखा = पद्मावती)

(छ) राम जाइ भेंटी कौसिला ॥ (वही, १८८)
(राम = रत्नसेन, कौसिला = 'माइ सुरसती') ।

सूफियों में एक तीसरे प्रकार का भी संकेत मिलता है, जिसको दुहरा प्रतीक

---

१. इस उदाहरण से स्पष्ट है कि "प्रतीक प्रयोग" में केवल दो व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्यंजना होती है, उन व्यक्तियों की नहीं, अन्यथा नायक को कमल एवं नायिकाओं को मधुकर तथा सूर्य कहने में दोष आजावेगा।

कह सकते हैं। 'बीसलदेव रासो' में एक प्रयोग 'बादल छायो है चन्द्रमा' है, जहाँ 'चन्द्रमा' 'मुख' के लिए, तथा 'बादल' 'शोक' के लिए आया है, बादल का अर्थ चन्द्रमा के अर्थ पर निर्भर है और बादल के कथन से एक अमूर्त्त गुण की व्यंजना होती है। जायसी में भी इस प्रकार के प्रयोग हैं—

(क) जबहि सुरुज कहँ लागा राहू। तबहि कँवल मन भएउ अगाहू॥ (पृ० १०६)
(सुरुज = नायक, राहू = कष्ट)

(ख) आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़॥(पृ० २६६)
(सूर = तेज, दिन = नायक, रैनि = नायिका, ससि = कान्ति)

इस प्रसग में भी व्यक्तियों की व्यंजना न होकर उनके पारस्परिक सम्बन्ध के आधारभूत गुण की व्यंजना होती है।

इन दो उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सूफियों की लोक-कहानियों में एक सुन्दर प्रवृत्ति नीति की भी है, वीर काव्य भी लोक-काव्य होने के नाते सूक्तियों से भरा हुआ है, परन्तु *वीरकाव्य में जिन गुणों को लेकर सूक्तियाँ आती हैं उन गुणों का* इन सूफी काव्यों में कोई स्थान न था, वहाँ आशा, उत्साह, व्यावहारिक नीति, राजनीति तथा जीवन की सफलता आदि पर ध्यान दिया गया है परन्तु यहाँ प्रेम, रूप, रोष, सत्य, दान आदि का विशेष आग्रह है। इन स्थलों में कोई एक ही अलंकार नहीं है, शायद लोककवि इस बात की परवाह भी नहीं करता—

(क) रूप तथा प्रेम—

१ जहाँ रूप तहँ प्रेम। (चित्रा० १३)

२ सदा न रूप रहत है, अन्त नसाइ।
प्रेम रूप के नासहि, ते घटि जाइ॥ (अनु० बाँसुरी, ६)

(ख) स्नेह—

१. का सो प्रीति तन माँह बिलाई। सोइ प्रीति जिउ साथ जो जाई॥
(जा० ग्र० २२)

२. औ न नेह काहू सौं कीजै। नाँव मिटै, काहे जिउ दीजै॥
पहिले सुख नेहहि जब जोरा। पुनि होइ कठिन निबाहत ओरा॥
(वही ४०)

३ प्रेम की आगि जरै जौं कोई। दुख तेहि कर न अँबिरथा होई॥ (वही, ६५)

४. परिमल प्रेम न आछै छपा। (वही, ६१)

५ प्रीति-बेलि जिनि अरुझै कोई। अरुझे, मुए न छूटै सोई॥ (वही, १०८)

६ ऊपर राता, भीतर पियरा। जारौं ओहि हरदि अस हियरा॥ (वही, १६४)

७ कतहुँ प्रेम कि बाँधे होई। बरबस प्रेम करै नहि कोई॥ (चित्रा० १४६)

८ सीख दिए तें बाढ़ै, अधिक सनेह।
भोग न चाहै एहि जग, नेहो नेह॥ (अनु० बाँ० ३५)

९ नेह न छिपे छिपाएँ, जिमि मृगसार।
चहुँ दिसि लै पहुँचावै, बचन-बयार॥ (वही, ८१)

(ग) सुन्दरता —

१. सुंदर मुख देखे सुख होई । सुन्दरता चाहे सब कोई ॥ (अनु० बाँ० ४५)।

२. सुंदर मुख को आँखिन, चाहो लाज ।
लाज बिना सुंदरता, कौने काज ॥ (वही, ७२)

(घ) शेष भाव —

१. दुइ सो छपाये ना छपैं, एक हत्या एक पाप ॥ (जा० ग्र० ३५)

२ रिस आपुहि, बुधि औरहि खाई ॥ (वही, ३७)

३ जेहि रिस कै मरिये, रस जीजै । सो रस तजि रिस कबहुँ न कीजै ॥
(वही, वही)

४ साहस जहाँ सिद्धि तहँ होई । (वही, ६२)

५. गुपुत चोर जो रहै सो सांचा । (वही, ६४)

६. जोगी भौंर निठुर ए दोऊ । केहि आपन भये ? कहै जो कोऊ ॥
एक ठाँव ए थिर न रहाहीं । रस लेइ खेलि अनत कहुँ जाहीं ॥
(वही, १३६)

७ पुरुष न आपनि नारि सराहा, मुए गए संवरै पै चाहा ॥ (वही, १८२)

८ पाप न रहै छिपाएँ छिपा । छिपै पुन्य जो अहनिसि जपा ॥ (चित्रा० ५४)

९ यो निहचै जानहु जिय माहीं । दुख दिन कर कोउ साथी नाहीं ॥
(चित्रा०, १६६)

१० जनमभूमि मों जब लगि कोई । तब लगि गुनी-विदग्ध न होई ॥ (अनु० २०)

११ जो न ठौर आपन पहिचाना । तेहि न सान आदर, पछिताना ॥ (वही० ७४)

१२ सुत सम्पति सब दीन्हा दाता । माह न छौर भात सो लाता ॥ (इन्द्रावती)

सौन्दर्य-योजना पर विदेशी प्रभाव

हिन्दी में कविता करनेवाले मुसलमान कवियों की प्रवृत्ति को ठीक ठीक समझने के लिए उनकी प्रस्तुत सामग्री की अपेक्षा अप्रस्तुत रूप में लाई गई सामग्री अधिक महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः हम हिन्दी-प्रेमी मुसलमानों को दो वर्गों में रख सकते हैं— (क) वे कवि जिनके संस्कार भारतीय हो चुके थे, (ख) वे कवि जिनमें विदेशीपन प्रचार बनकर उमड़ा पड़ता है। पहिले वर्ग में रहीम, रसखान, मुबारक आदि आते हैं, इनकी कविता तो भारतीय विचारों से भरी है ही, अप्रस्तुत रूप में आनेवाली सामग्री भी ठेठ भारतीय है, ये सभी कवि भारतीय आराध्य के ऊपर कुरबान[1] होकर उसकी श्यामल छवि[2] पर त्रिलोक का ऐश्वर्य वारने के लिए तैयार थे,[3] इसलिए भारतीय जीवन, भारतीय वनस्पति, भारतीय इतिहास, तथा भारतीय पुराणों से ही इनके

---

१. नद के कुमार कुरबान तांडी सूरत पैं ।
तांडे नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं । (ताज)

२ मोहि वाकी श्यामताई लागति उज्यारी है । (आलम)

३. या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं । (रसखान)

अप्रस्तुत आये हैं, रहीम कवि जब युवती आँखों का वर्णन करने लगे तो उनकी कल्पना में दो वस्तुएँ ही आईं, ऐसा कमल जिसमें मधुकर बैठा हो, अथवा चांदी के पात्र में रखी हुई शालिग्राम की पिण्डी,[१] जब हाथी को धूलि उड़ाते देखा तो पुराणों का रहस्य उनकी समझ में आ गया[२]। रसखान ने जब विरहिणी के नेत्रों को देखा तो जल-विहीन मछली से उनकी तुलना[३] करने लगे। इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी रचना में विदेशी प्रभाव नहीं है, भारतीय हृदय का ही निश्छल रूप है।[४]

दूसरे वर्ग में सूफी कवि आते हैं जिनकी अप्रस्तुत सामग्री विदेश से ही अधिक आई है, इनके काव्यों में विदेशी कथाओं के अनेक प्रसग आते हैं, उस्मान में हदीस की कितनी ही बार आवश्यकता पड़ती है, कवि निसार ने तो भारतीय प्रेम-कथाओं को झूँठा समझकर यूसुफ़-जुलेखा की 'सांच कथा'[५] को भाषा[६] में कहना अपना उद्देश्य बनाया था। आदिल नौसेर वाँ, दानी हातिम, जुलकरन सिकन्दर, सुलेमान, तथा उमर बार-बार अप्रस्तुत बनकर चले आते हैं, भारतीय इतिहास के भी अप्रस्तुत हैं अवश्य, *परन्तु केवल वे ही जिनकी कथा से अलग करना सम्भव न था, कहीं-कहीं तो भारतीय* सामग्री को विकृत कर दिया है। जैनों की लोक-सस्कारों में परिवर्त्तन की प्रवृत्ति पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं, यहाँ केवल इतना ही कहना और अभीष्ट है कि प्राचीन इतिहास से अनभिज्ञ होना तो क्षम्य है परन्तु उसको विकृत करने का प्रयत्न असावधानी कहकर टाला नहीं जा सकता। जायसी के पद्मावत में राम-सीता को अति सामान्य पात्र बना दिया गया है, कितने ही स्थानों पर ऐसी ध्वनि है जिसमें कवि की राम या सीता के प्रति कोई सद्भावना नहीं जान पड़ती—

(क) तौ लगि भुगुति न लेइ सका, रावन सिय जब साथ।
　　कौन भरोसे अब कहौं ? जीउ पराए हाथ॥ (पृ० १००)

(ख) तुही एक मैं बाउर भेंटा। जैस राम दसरथ कर बेटा।
　　ओहू नारि कर परा बिछोवा। एहि समुद्र मँह फिरि फिरि रोवा॥
　　　　　　　　　　　　　　　　　　(पृ० १८२)

प्रथम उदाहरण में पद्मावती स्वय ही रत्नसेन के लिए पत्र लिखते हुए अपने अमिलन

---

१. रहिमन पुतरी स्याम, मनो जलज मधुकर लसै।
　कैंधों सालिगराम, रुपे के अरघा धरे॥

२. धूलि उड़ावत सीस पर, कहु रहीम केहि काज।
　जेहि रज मुनि-धरनी तरी, सो ढूँढत गजराज॥

३ उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥

४ दे० हमारा लेख 'सूफियों की अलकार-योजना'
　　　　(हिन्दी-अनुशीलन, वर्ष ३, अक २, आषाढ-भाद्रपद, २००७)

५. झूँठि जानि सबसे मन भागा। अब यह साँच कथा चित लागा॥

६. भाषा मौं काहू ना भाखा। मोरे मन दइव लिखि राखा॥

की समानता इतिहास की एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध घटना से करती है—जब तक सीता साथ थी तब तक रावण उसका भोग न कर सका, अब तो वह दूसरे के बन्धन में है, अब क्या आशा या भरोसा ? तो क्या कवि यह चाहता है कि रावण अधिक चतुर होता तो अच्छा था ? निश्चय ही 'रावन' शब्द का दूसरा अर्थ भी है तथा 'सिय' शब्द यहाँ पद्मावती के ही लिये आया है, परन्तु जो नीच ध्वनि उस वाक्य से निकलती है उनसे कान बन्द नहीं किये जा सकते। दूसरे उदाहरण में पोत-भंग के अनन्तर हताश रत्नसेन को ब्राह्मण समझा रहा है—मैंने तो तू ही एक मूर्ख देखा है या एक और भी था दशरथ का (नालायक) लड़का राम, वह भी तेरे ही समान अपनी स्त्री को खोकर इसी समुद्र में बार-बार विलाप करता रहा था। मर्यादापुरुषोत्तम का जो एक विशेष गुण है अनन्य-स्त्रीव्रत, उसको कैसी मखौल से उड़ाने का प्रयत्न किया गया है ? लोक में राम के प्रति जो श्रद्धा है वह उनके कुछ गुणों ही के तो कारण, यदि उन गुणों को, एक-एक करके ही सही, काटते चले जावेंगे तो श्रद्धा कहाँ खड़ी रह सकेगी ?[1] इतना ही नहीं 'पद्मावत' में राघव को शैतान[2] बना दिया है, ब्राह्मण या तो 'निपट भिखारी'[3] हैं या नीच दूत।[4] इस प्रकार प्राचीन संस्कारों तथा प्राचीन विश्वासों के प्रति घोर तिरस्कार की भावना इन काव्यों में है, दूसरी ओर विदेशी विश्वासों तथा विदेशी इतिहास के प्रति अटूट श्रद्धा दिखलाकर अपनी प्रवृत्ति का परिचय इन कवियों ने दिया है।[5]

इतना ही नहीं, सूफी कवियों ने प्राकृत अप्रस्तुत भी विदेश से लिये हैं; जायसी में भारतीयता का प्रयत्न है, उस्मान ने भी प्रयत्न किया है, परन्तु नूर मुहम्मद तो नरगिस के बिना अपना काम नहीं चला सकते वे कमल को भूल गये और नेत्रों का उपमान नरगिस ही स्थिर हो गया[6], जायसी और उस्मान ने स्त्री जाति का उपमान फुलवारी को बनाया है[7] एक बार नहीं अनेक बार। स्त्री जाति के प्रति सूफी लोग केवल विलास की भावना रखते हैं, किसी भी स्त्री के लिए "प्यारी"[8] कहना तो इनका

---

१ दे० हमारा लेख "जायसी और रामकथा"। (साहित्य-संदेश, भाग १०, अंक ५, नवम्बर, १९४८)

२. राघव दूत सोई सैतानू ॥ (उपसंहार)

३ बाम्हन हुत एक निपट भिखारी। (बनिजारा-खंड)

४. दूती एक बिरिध तेहि ठाऊँ। बाम्हनि जाति, कुमोदिनि नाऊँ ॥ (देवपाल दूती-खंड)

५. यह मुहम्मदी जन की बोली। जामें कंद-नबातें घोली ॥
   बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परै ॥
   बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। संख-बाद की रीति मिटावै ॥ (अनु० दो०, ४)

६ नरगिस फूल बिलोकि सयाना। ओहि लोचन के ध्यान भुलाना ॥ (अनु०, दो० ३८)

७. पदमावति सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई ॥ (जा० ग्र० २३)
   सखी सहेली लीन्ह हँकारी। आई सब जानहुँ फुलवारी ॥ (चित्रा०, ४६)

८. आप गई मंदिर कहँ प्यारी। बहुतन को कर गई भिखारी ॥ (इन्द्रावती)

स्वभाव है, ऐसा जान पडता है कि ऐसे स्थलो पर हृदय की उदारता नही है प्रत्युत कामुकता ही है फलत नायिका के उन अगो का वर्णन अधिक है जिनकी चर्चा सभ्य समाज में कामुकता मानी जायगी[1], सामान्य वर्णन में भी वही लपटता झलकती है[2], काम-शास्त्र-खड (चित्रावली), तथा स्त्री-भेद-वर्णन-खड (पद्मावत) की तो चर्चा ही व्यर्थ है। सूफियो की नायिका इसलिए सौकुमार्य का अवतार बन गई है, उसके वस्त्र, उसका भोजन, उसका हास और उसके आँसू सभी हास्यास्पद बन गये है, उसका पान की पीक निगलना एक मनोरजक दृश्य है—

मकरि क तार तेहि कर चीरू। सो पहिरे छिरि जाइ सरीरू॥ (जा० ग्र०, २१६)
नस पानन्ह कै काढहि हेरी। अधर न गडै फांस ओहि केरी॥ (वही, २१६)
खीर अहार न कर सुकुँवारी। पान फूल के रहे अधारी॥ (वही, २०८)
कै तँबोल कै फूल अधारा। (चित्रा०, ७६)
वोहि क बोल जस मानिक मूंगा। (वही, ६६)
घूंट जो पीक लीक सब देखा। (जा० ग्र०, ४५)

इन कवियो ने स्त्री के कुछ अगो पर विशेष ध्यान रखा है और उनके वर्णन में एक विशेष गुण पर जोर दिया है, इन अगो में और उनके विशिष्ट गुणो में कटि की सूक्ष्मता, अधरो की मधुरता, स्तनों की 'उत्तुगता' तथा नेत्रो की वक्रता के विषय में सभी एक मत है, और ध्यान इस बात पर जाता है कि इनके वर्णन में इन कवियों ने रस-निष्पत्ति की ओर अधिक सावधानी नही दिखलाई इसलिए अधिकतर पक्तियाँ या तो परपरा का निर्वाह या लोक-साहित्य का निदर्शन होकर केवल रम्य सूक्ति मात्र बन जाती है, उनसे रति की व्यजना नही होती। जायसी ने नायिका की कटि इतनी झीनी[3] कर दी कि उस्मान को उसके अस्तित्व[4] पर सदेह होने लगा, और नूर मुहम्मद ने कभी उसको 'नाही' से निर्मित[5] समझा और कभी 'नाही' का निदर्शन[6]। अधर अमृत से भरे[7] हो सकते है परन्तु उस्मान जब उनका वर्णन करने लगे तो उनके मुख में पानी[8] भर आया, नूरमुहम्मद जब कभी मधु और मिसरी को बाजार में बिकता हुआ देखते है तब-तब उनको नायिका के अधरो का ध्यान आ जाता है[9], भाग्यशाली चित्र-

---

१ जो देखैं वह छतिय सुहावा। पूरन काम सो आन सतावा॥ (युसुफ-जुलेखा)
दारिउँ दाख फरे अनचाखे। अस नारँग दहुँ का कहँ राखे॥ (जा० ग्र०, ४६)
२ अस कै अधर अमी भरि राखे। अबहि अछूत, न काहू चाखे॥ (वही, ४४)
३ बसा लक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लक वह खीनी॥ (जा० ग्र०, ४७)
४ लक छीन जेहि भृ ग लजाहीं। कोउ कह आहि, कोउ कह नाहीं॥ (चित्रा०, ६३)
५ पातर लक केस की नाँई। नाहीं सो सिरजा जग साँई॥ (इन्द्रावती)
६ जो कोई 'नाही' देखन चहै। ता कटि देखैं, नाहीं अहै॥ (अनु०, १३)
७ अस कै अधर अमी भरि राखे॥ अबहि अछूत, न काहू चाखे॥ (जा० ग्र०,४४)
८. अधर सुधानिधि बरनि न जाई। बरनत मनि रसना पनियाई॥ (चित्रा०,७२)
९ जौ मधु मिसा और बित गए‍ । ‍ ‍ ‍ ा अधरन सों ‍ ‍ ॥ (अनु० ४१)

कार जब उन अधरों का चित्र बनाने बैठा तो उसकी लेखनी भी मीठी हो गई[1]। इन सब वर्णनों से जो व्यंजना सोची गई थी वह न हो पाई, पाठक का मनोरंजन हो होता है अभीष्ट भाव तक वह नहीं पहुँचता; सूफी कवि यह समझता है कि जैसा उसका हृदय है वैसा पाठक का भी पहिले से ही तैयार, इसलिए संकेत पाते ही उसमें रसोद्रेक हो जायगा, वर्णन की सामग्री जुटाने पर वह निर्भर नहीं रहता।[2]

सूफी काव्य में वीभत्स वर्णनों की ओर आलोचकों का ध्यान गया है, यह वीभत्सता संयोग शृंगार में भी है तथा वियोग में भी, चरण, हथेली, तथा अधर तीनों लाल होते हैं और प्रेमपात्र में चरम सौन्दर्य के सूचक हैं। हमारे इन कवियों ने प्रेम को जान पर खेलना मानकर प्रेमपात्र को प्राय हत्यारा या हत्यारिनी[3] कह दिया है, जहाँ भी रक्तवर्ण है वहाँ प्रेमियों का रक्त ही लिपटा हुआ मिलेगा—

(क) रक्त लाग रह पायन संगा। जानहिं लोग महाउर रंगा॥ (चित्रा०,७८)

(ख) हिया काढि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा॥ (जा० ग्र०, ४६)

(ग) राता रकत देखि रँगराती। रुहिर भरे आछहिं बिहँसाती॥ (जा० ग्र०, ४४)

फारसी का यह प्रभाव इन सूफियों में स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है। वे नायिका के अंग-अंग को जहाँ अत्यधिक कोमल तथा रमणीय मानते हैं वहाँ उसको विषैला तथा हृदय-वेधक भी कह देते हैं, उनके यहाँ प्रेम एक प्रकार से मृत्यु का प्रथम आमन्त्रण है, यह बात दूसरी है कि प्रेम पर मरकर प्रेमी अमर हो जाता है। यह मरण किसी उदात्त भावना का फल नहीं, प्रत्युत तत्कालीन खोखले जीवन का परिहास है, मरणोत्सव के चित्र सभी सूफी काव्यों में हैं जिनसे जीवन का अंधकार नेत्रों के सामने छा जाता है, परन्तु 'चित्रावली' के मरणोत्सव का गोरखधंधा केवल मजाक बन जाता है और देवताओं के समान हम भी उस दृश्य को 'थकि रहे' देखते रह जाते हैं—

मरन लागि दुहु बाद पसारा। सुनि सुजान धायो बेकरारा॥
कहिसि कि मेहरिन्ह बुधि न रती। हौं अबमरौं होहु तुम सती॥
तौनहु गहो मरन को टेका। मरन न पाउ एक तें एका॥
देवता सरग जो देखत अहे। इन्हकर प्रेम देखि थकि रहे॥
(२३१—२)

सूफियों का एक प्रसिद्ध अलंकार हेतूत्प्रेक्षा है, जहाँ पर प्रस्तुत के किसी विशेष गुण का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसको किसी प्राकृतिक सत्य का हेतु मान लेते हैं, नायिका के नखशिख का वर्णन करते हुए इस शैली का प्राय व्यवहार सभी सूफियों

---

१. अधर तेहिक जो लिखै चितेरा। मीठ होइ लिखनी नहिं केरा॥ (इन्द्रावती)
२ अस रूपवंती सुंदर आहै। बिनु देखे सब ताहि सराहै। (इन्द्रा०)
३. हत्यारिन हत्या लेइ चलो॥ (बसंत खंड)

में मिलता है। लगूर का मुख काला होता है[1], तोते की चोंच लाल होती है[2], परन्तु इनके कारण जायसी ने स्वय कल्पित किये हैं और वे नायिका के शरीर की कुछ दशाएँ हैं। इसी प्रकार नायिका का अग-सौन्दर्य भी कारण बन जाता है—

दारिउँ सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि॥ (जा० ग्र०, ४४)
गर्वे मयूर तमचूर जो हारे। उहै पुकारेहि साँझ-सकारे॥ (वही, ४५)
सख न सम भा साँझ सकारा। तातें जहँ तहँ करै पुकारा॥ (चित्रा० ४४)
दुहुँ पौनाल सोऊ सर नाहीं। तातें रध्र कलेजे माहीं॥ (वही, वही)

जायसी एक कदम और भी आगे बढे है और ऐसे स्थलो पर उन्होने उस शैली को अपनाया है जिसको प्रत्यनीक अलकार कहते हैं, नायिका के अग से पराजित होकर अपने उस गुण के लिए प्रसिद्ध पशु या पक्षी अब बदले की भावना से सभी नायिकाओ (या नायिका की जाति=मनुष्यमात्र) को कष्ट देता है—

(क) बसा लक बरनै जग झीनी। तेहि ते अधिक लक वह खीनी॥
परिहँस पियर भये तेहि बसा। लिए लक लोगन्ह कहँ डसा॥ (पृ०४७)

(ख) सिंघ न जीता लक सरि, हारि लीन्ह बनवासु।
तेहि रिस मानुस रकत पिय, खाइ मारि कै मासु॥ (पृ० ४७)

ईश्वर की स्तुति करते समय सूफी कवि एक मौलिक प्रणाली को अपनाते हैं, ईश्वर जब किसी वस्तु को बनाता है तो उसकी आवश्यकता का अनुभव भी उत्पन्न कर देता है, जब उसने कोई रोग बनाया है तो साथ ही उसकी औषधि भी बना दी है, उसकी सृष्टि में कोई भी वस्तु व्यर्थ नहीं है सब एक-दूसरे के लिए ही हैं। इस विचार को कितने सरल एव प्रभावपूर्ण ढग से कवियों ने पाठक के सामने रखा है—

(क) कीन्हेसि दरब, गरब जेहि होई। कीन्हेसि लोभ, अघाइ न कोई॥
कीन्हेसि जियन, सदा सब चहा। कीन्हेसि मीचु, न कोई रहा॥
(जा० ग्र०, २)

(ख) दीन्हेसि काया, जेहि जग पोवा। दीन्हेसि माया, जेहि न सँतोवा॥
पहिले औषध मूरि बनाये। ता पाछे सब रोग उपाए॥
(चित्रा०, ३)

वर्णन में कवि लोकोक्तियों की प्राय सहायता ले लिया करते हैं, ये लोकोक्तियाँ लोक में आज भी प्रचलित हैं और अभीष्टार्थ का सकेत देने में पूरी सफल हैं। सूफी लोग लोकोक्तियों का उपयोग नखशिख आदि के वर्णन में नहीं करते, प्रत्युत दान, न्याय, आदि व्यक्ति के तथा शीतलता, ऊँचाई आदि स्थानों के गुणों की सूचना देने के लिए करते हैं—

परी नाथ कोइ छुवै न पारा। मारग मानुष सोन उछारा॥
गऊ सिंह रेंगहि एक बाटा। (जा० ग्र०, ६)

---

१ जरा लँगूर सु राता उहाँ। निकसि जो भागि भएउ करमुहाँ॥ (पृ० ८६)
२. ओहि रकत लिखि दीन्हीं पाती। सुआ जो लीन्ह चोंच भइ राती॥ (पृ० ६६)

मलय समीर सोहावन छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा॥ (वही, ११)
ग्रस भा प्रदल मते हरि वानी। छाना नवा पुराना पानी॥
पुहमी परै न पावै काँटा। हस्ती चाँपि सकै नहिं चाँटा॥
गाय सिंह गवनहिं एक गली॥ (चित्रा० ८)

पद्मावत तथा चित्रावली

सूफियों ने हिन्दी में एक दर्जन से अधिक प्रेमकथाएँ[1] कही हैं, जिनमें से आज केवल आधी दर्जन ही देखने को मिलती हैं[2], सम्भवतः कुछ और भी पुराने पुस्तकालयों या संग्रहालयों में दबी पड़ी हों, वगभाषा के मुसलमानों ने उस पुरानी लहर में जो इसी प्रकार का प्रेमसाहित्य लिखा था वह 'केच्छा साहित्य' (किस्सा साहित्य—बाजार साहित्य) नाम से मिल जाता है, परन्तु उसको कोई पढ़ता नहीं। जायसी ने 'पद्मावत' में सात[3] प्रेमकथाओं का नाम लिया था, परन्तु उसने यह नहीं कहा कि वे सब कथाएँ लिखी जा चुकी थीं, उसका संकेत केवल यह है कि लोक में वे कथाएँ उस समय प्रचलित थी।[4] आगे चलकर उस्मान ने केवल तीन ही कथाओं की चर्चा की है[5], सम्भवतः संख्या इसलिए कम हो गई कि उस्मान की दृष्टि में केवल लिखित कथाएँ ही थीं। अस्तु, इन कथाओं में से अधिकतर तो बाजारू ही हैं, पद्मावत इनमें सर्वोत्तम है और दूसरा स्थान चित्रावली का है।

जायसी की रचना औरों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है, अधिक साहित्यिक है, हिन्दी के सूफी-साहित्य की सभी विशेषताएँ तथा लोक-साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ तो उसमें मिलती ही हैं, भारतीय परम्परा से भी कुछ गुण 'पद्मावत' में आये हैं। जायसी ने भारतीय साहित्य का अध्ययन किया हो, ऐसा तो उनकी रचना से नहीं जान पड़ता, परन्तु भारतीय वीरकाव्य उन्होंने सुने थे और उनकी कुछ बातें अपना भी ली, जिनमें से मुख्य है शृंगार और वीर की सामग्री को मिलाकर रखना—अगर प्रस्तुत शृंगार

---

१ चंदायन (मुल्ला दाऊद), मिरगावती (कुतबन), पद्मावती, मधुमालती (मंझन) माधवानल कामकंदला (आलम), इन्द्रावती (नूरमुहम्मद), चित्रावली, अनुराग बाँसुरी, युसुफ-जुलेखा (निसार), खंडरावती, स्वप्नावती, मुग्धावती, प्रेमावती।

२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने 'सूफी-काव्य-संग्रह' के नाम से कुछ प्रेमकथाएँ छापी हैं।

३ विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। ऊषा लागि अनिरुध बर बाँधा॥ (पृ० १००)

४ बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तू जोगी कित आहि अकेला॥ (वही)

५. मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा॥
सिंघल पदमावति भो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा॥
मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥ (चित्रा०, १३)

है तो अप्रस्तुत वीर, और यदि प्रस्तुत वीर है तो अप्रस्तुत शृंगार। 'गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा खंड' के 'सिंगार-जूझ' (पृ० २८४) में वीरकाव्यों की वही प्रणाली है जिसको 'रूपक बंध' कह आये हैं, और जिसको आचार्यों ने 'परिणाम' अलंकार कहा है[1], 'बादशाह-चढ़ाई-खंड' (पृ० २२५) में प्रस्तुत विषय वीररस का है परन्तु तोपों को 'मतवारी नारी' के रूप में दिखाने के लिए अप्रस्तुत शृंगार रस कर दिया है—

सेंदुर आगि सीस उपराहीं। पहिया-तरिवन चमकत जाहीं॥
कुच गोला-दुइ हिरदय लाए। चचल धुजा रहहिं छिटकाए॥
रसना-लूक रहहिं मुख खोले। लका जरै सो उनके बोले॥

इस प्रकार के वर्णनों में अप्रस्तुत विषय इतना प्रभावशाली है कि प्रस्तुत को पाठक बिलकुल भूल जाता है। तीसरा प्रसिद्ध उदाहरण 'षट्-ऋतु-वर्णन-खंड' (पृ० १४८) में 'बीर सिंगार दोऊ' को जीतने वाले 'जोगी' रत्नसेन का है, जहाँ पर भी वीर-परम्परा का 'रूपक-बंध' ही माना जायगा। इस प्रकार के उदाहरणों से एक बात स्पष्ट है कि यद्यपि दो भिन्न रसों की समानान्तर सामग्री प्रस्तुत-अप्रस्तुत रूप से आती है, फिर भी यदि इस सामग्री को अलग रखा जाय तो उतनी हानि नहीं होती जितनी कि इस सामग्री को एकरूप करके रूपक बना देने से, रूपक में यदि प्रस्तुत और अप्रस्तुत भिन्न-भिन्न रसों के होंगे तो पाठक पर अप्रस्तुत का ही प्रभाव पड़ेगा क्योंकि अप्रस्तुत से उसका परिचय अपेक्षाकृत पुराना होता है, फलत वर्ण्य विषय अभीष्ट रस की दृष्टि से निर्जीव बन जायगा।

जायसी में कला औरों की अपेक्षा अधिक है, जहाँ दूसरे कवियों ने हेतूत्प्रेक्षा का चमत्कार दिखलाया है वहाँ जायसी एक कदम और आगे बढ़कर प्रत्यनीक की सहायता लेते हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। कहीं-कहीं कवि प्रत्यनीक की ओर तो नहीं बढ़ा परन्तु उत्प्रेक्षा पर भी नहीं रहा, उसने अध्यवसाय[2] सिद्ध मानकर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया है—ऐसे स्थलों पर 'असम्बन्धे सम्बन्ध' वाला' सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार बड़ा सुन्दर है। तोते की चोंच लाल होती है और बसा का शरीर पीला, परन्तु जब इनका कलात्मक कारण बतलाते हुए हम यह कहें कि रक्त में भीगी हुई चिट्ठी के कारण तोते की चोंच लाल हो गई और नायिका की कटि से पराजित होकर बसा पीली पड़ गई तो ऐसे स्थलों पर हेतु की चमत्कारपूर्ण सम्भावना के कारण हेतूत्प्रेक्षा अलंकार माना जायगा। 'बसा' वाले उदाहरण में यदि यह और कह दिया जाय कि उसी पराजय का बदला लेने के लिए बसा शत्रुजाति (मनुष्य मात्र) को डसती फिरती है तो फिर यह चमत्कार प्रत्यनीक[3] बन जाता है। इन सभी उदाहरणों में अप्रस्तुत सामग्री ऐसी है जिसके अभीष्ट गुण के विषय में यह सोचा जा सकता है

१. प०रामचन्द्र शुक्ल जायसी-ग्रथावली, भूमिका, पृ० ११६।
२ सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते। (साहित्यदर्पण)
३ प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि।
तदीयस्य तिरस्कार स्तस्यैवोत्कर्षसाधक॥ (साहित्यदर्पण)

कि वह शायद पहिले न भी रहा हो—कौन कह सकता है कि तोते की चोंच सदा से ही लाल है, और बया का शरीर सदा से ही पीला है ? परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके विषय में यह प्रश्न ही नहीं उठता जैसे सूर्य का दीप्त होना, आकाश में इन्द्र-धनुष का निकलना आदि प्राकृतिक व्यापार, क्योंकि यदि इन व्यापारों में वह गुण न रहा होगा तो वे व्यापार भी न रहे होंगे—उनका अस्तित्व ही उन गुणों पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में जो सम्भावना होती है वह वर्ण्य-वस्तु के गुण तथा अप्रस्तुत के गुण दोनों को नित्य एवं नित्य-सम्बन्धित मानकर चलती है—

(क) जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥
(पृष्ठ ४४)

(ख) उहै धनुक किरसुन पर अहा । उहै धनुक राघौ कर गहा ॥
ओहि धनुक रावन संघारा । ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥
ओहि धनुक बेधा हुत राहू । मारा ओहि सहस्राबाहू ॥ (पृ० ४२)

जायसी की अप्रस्तुत योजना में एक विशेषता यह है कि अनेक स्थलों पर उनके अप्रस्तुत भी पाठक के सामने (प्रस्तुत के साथ) ही दिखलाई पड़ते हैं, फलतः पाठक को कल्पना में भटकना नहीं पड़ता प्रत्युत वह अनायास ही प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों की रमणीयता का आनन्द प्राप्त कर लेता है। 'नागमती-वियोग-खंड' में एक ओर तो नागमती के विरह-विह्वल अंग हैं (प्रस्तुत) दूसरी ओर प्रकृति की वैसी ही सामग्री (अप्रस्तुत) है, दोहरी सामग्री से रसोद्रेक अधिक सहज बन जाता है—

हिय हिंडोल अस डोलै मोरा । बिरह झुलाइ देइ झकझोरा ॥
बरसै मघा झकोरि झकोरी । मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी ॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी । आक जवास भई तस झूरी ॥
तन जस पियर पात भा मोरा ॥

'सात समुद्र खंड' में रत्नसेन और उनके साथी प्रातःकाल सातवें समुद्र 'मानसर' पर आये, उस समय कमल खिले हुए थे, उनके पत्ते जल पर छाये हुए थे, भ्रमर कमलों में रस-पान कर रहे थे, नाविक भी हँसते हुए वहाँ पहुँचे—

देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥
कँवल बिगस तस बिहँसी देहीं । भौंर दसन होइ कै रस लेहीं ॥ (पृ० ६७)

यहाँ अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत बनकर रसोद्रेक में दोगुनी सहायता कर रही है—

हुलास=पुरइनि, कँवल=देहीं, भौंर=दसन ।

पद्मावत में अनेक चमत्कारपूर्ण स्थल हैं, कहीं पद्मावती के रूप से पराजित होकर पूर्ण शशि का घटते-घटते अमावस्या बन जाना और फिर द्वितीया के रूप में नवनिर्माण (पृ० १६), कहीं विरह की कष्टमयी रात्रि को ज्यों-त्यों बिताने के लिए वीणा-निनाद और उसका विपरीत फल (पृ० ७३), तो कहीं यौवन रूपी वाटिका में 'कुंजर-विरह' (पृ० ७४), यौवन पक्षी पर विरह-व्याध का आक्रमण आदि। कुछ स्थलों पर सौवें-

सीधे शब्दों में ही बड़ी सुन्दर व्यंजना है—

देखि रूप सरवर कं, गं पियास औ भूख ॥ (पृ० १२)
जेहि के असि पनिहारी, सो रानी केहि रूप ॥ (वही)
उलटि बहा गंगा पर पानी । सेवक-बार आइ जो रानी ॥ (पृ० २७९)
काह हँसो तुम मोसों, किएउ और सों नेह ।
तुम्ह मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह ॥ (पृ० १८९)

इन उदाहरणों में अलकारों का चमत्कार तो है ही भावाभिव्यक्ति कितनी सशक्त है, 'तुम्हारे मुख पर बिजली चमकती है और मेरे मुख पर मेह बरसता है' इस वाक्य की असंगति उस समय और भी रमणीय बन जाती है जब इसका कारण 'किएउ और सों नेह' पाठक के सामने प्रकट हो जाता है।

उस्मान ने चित्रावली में जायसी का पर्याप्त अनुकरण किया है, उन्होंने जो सुन्दर-सुन्दर रूपक बनाये हैं उनमें से अनेक की सामग्री वही वीर-शृंगार-संयोग के आदेश को मानती है, कही "फौज जनु सावन घटा" (पृ० १४०) है, कहीं "कमानै" "मानिनी" गरब-जोबना" (१४०) हैं, कही "तुपक जस बिरहिनि सती" बनी हैं, कहीं "कमान सुन्दरी नारी", तो कहीं "करवारि पदुमिनि" (पृ० १४१) का सुन्दर चित्र मिलता है। ऐसे स्थलों पर प्राय रूपक हैं, इसलिए अप्रस्तुत का बलशाली प्रभाव प्रस्तुत रस की आस्वाद्यता में बाधक बन जाता है, ढाल का 'बरिआरि नारि' के रूप में वर्णन करते हुए तो उस्मान खुसरो की मंडली के से लगने लगते हैं—

असि बरिआरि नारि बिधि कीन्हा । पुरुषन्ह जाइ सरन जेहि लीन्हा ।
पाछे मेलि सरन जो आवा । सनमुख साइ आपु तन धावा ॥
सतत परकारन दुखी, जानत नाँहि अपकारि ।
जहँकहुँ दुइ जोधा लरहिं,बरबस जाइ मँझारि॥ (पृ० १४२)

यौवन को मतवाला हाथी उस्मान ने भी (पृ० १६४) कहा है, जिसमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है, परन्तु जहाँगीर के दरबार में 'छहों रितु एकठौं' देखने का प्रयत्न (पृ० ७) बड़ा सुन्दर बन गया है, सभी ऋतुओं के लिए रूपक नहीं बनाये गये परन्तु जिन-जिनके लिए (पावस, शरद्) रूपक हैं उनमें चमत्कार की कमी नहीं। सबसे अच्छा साग रूपक उस प्रक्रिया का है जिसके अनुसार 'दुहिता सोन' की कुदन बनकर 'नग-साँई' से भेंट होती है, जैसा कि स्पष्ट है यह रूपक भी रस की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं हो सका है—

दुहिता-सोन, अगिनि-ससुरारा । सासु-सँड़ासी, कंत सुनारा ॥
दं सोहाग सब निसि-दिन केली । औटं सदन-घरीं महँ मेली ॥
ननद-नाल फूकत नित रहई । सुलगि हिया कोइला जिमि दहई ॥
घाउ-बोल-घन छिन-छिन खाई । ठाउ न छाँड़ जानि निहाई ॥
तब तिरिया कुदन की नाँई । भेंटै अंक मं भरि नग-साँई ॥
(पृ० २२१)

रूपक जब अपना विस्तार करता है तो प्राय उसकी उपादेयता कम होनी जाती

है, क्योंकि प्रस्तुत के सभी अंगों का जब अप्रस्तुत के सभी अंगों से साम्य खोजा जायगा तो उपयुक्तता यथावत् नहीं बनी रह सकती। यही कारण है कि सांग रूपक प्रायः भद्दे हो जाया करते हैं, भक्तिकाल तक सांग रूपकों का बड़ा बोलबाला रहा परन्तु सबमें यही दोष अथवा विशेषता पाई जाती है। उत्प्रेक्षा का चमत्कार कल्पना को नवीन रंग देता है; वस्तूत्प्रेक्षा के चित्र प्रायः सुन्दर बन जाया करते हैं, उस्मान की कल्पना रूप का जिस रूप से ग्रहण करती है वह देखने योग्य है, अलंकार उत्प्रेक्षा भी हो सकता है तथा सन्देह भी। कपोल तथा कपोल का तिल सूफियों के प्रिय विषय रहे हैं जायसी ने भी इसका वर्णन किया है तथा दूसरे कवियों ने भी परन्तु उस्मान की कल्पना अपूर्व है, कपोल का वर्णन करते हुए उसका ध्यान केवल उसके रंग पर जाता है—

ई गुर केसर जानु मिलाए। दोऊ मिलाइ कपोल बनाए॥ (पृ० ७१)

और उसका तिल, मानो पुष्प के भीतर मधुकर बैठा हो, अथवा चित्र बनाते-बनाते विधि की लेखनी से एक बूँद उस कपोल पर गिर गयी हो—

कै विधि चित्र करत कर धरे। करत उरेहु बूँद खसि परे॥ (पृ० ७१)

नूर मुहम्मद ने इसी भाव को इस प्रकार अधिक स्पष्ट कर दिया है—

इन्द्रावति दुग लिखित कै, भा बिरचि मतवार।
मसि लगाउ लेखनी गिरेउ, सोभा भै अधिकार॥ (इन्द्रावती)

इस उदाहरण में अधिक चमत्कार है, यहाँ यह भी बतला दिया गया है कि कपोल के ऊपर जो बिंदु गिरा वह काला ही क्यों था, और विधि से इतनी असावधानी क्यों हो गई।

उस्मान ने उमग में अँगड़ाइयाँ लेती हुई युवती का चित्र तो सूक्ष्म बनाया ही है उसके लिए अप्रस्तुत भी परम उपयुक्त रखा है, यौवन में अँगड़ाकर जम्हाइयाँ लेना काम का चिह्न माना जाता है, दोनों हाथ सिर के ऊपर पहुँचकर एक दूसरे से मिल जाते हैं, नीचे चन्द्र के समान उज्ज्वलवदन और उनके घेरेवाली (एक दूसरे से जुड़ने के कारण) वृत्ताकार गोरी-गोरी कलाइयाँ, कौन इस शोभा को देखकर मुग्ध न बन जायगा—

नैन उघारि मारि जँभुआनी। दोऊ भुज पसारि अँगिरानी।
बदन सरूप देखि जग मोहा। जनु मयंक पारस मधि सोहा॥ (पृ० ४५)

दाँतों को मोती या अनारदाने, केशों को सर्प, नेत्रों को खंजन, नासिका को शुक, आदि और कवि भी कहते आये हैं परन्तु उस्मान ने सारी सामग्री में अपराभुत को मिलाकर एक सुंदर कल्पना की है; देवताओं ने शशि की क्यारी को अमृत से सींचा और उसमें अनार के दाने बो दिये, शुक, पिक तथा खंजन से चौबीसों घंटे भय बना रहता है, इसलिए सर्प-शिशुओं को वहाँ रखवाली करने के लिए नियुक्त कर दिया—

पाय लाल कछु भए उघारे। दिस्टि परे मंजुल रतनारे॥
जनु दुइ लर मुकुता रंग भरे। मंजन लागि आइ मुँह परे॥
कै देवतन्ह ससि कीन्ह कियारी। अमिरित सानि बारि अनुसारी॥

दाडिम बीज तहाँ लै बोए । रखवारे राखे अहि पोए ॥
निसि बासर ते निकट रहाहीं । मकु सुक पिक खजन चुनि जाहीं ॥
(पृ० ७२-३)

उसमान ने कुछ स्थलो पर सीधे-साधे शब्दो में भी बडी सफल भाव-व्यजना की है, सयोग में भी तथा वियोग में भी, सयोग में तल्लीन हो जाने का सर्वत्र सकेत है तथा वियोग में वेदना एव प्रलाप का। दो प्रेमी जब बीच की बाधा हट जाने पर मिल जाते हैं तो उनकी चिरसचित मनोकामना पूरी हो जाती है, उनके जीवन की यह एक अनोखी घटना है, एक-दूसरे को देखने से उनकी आँखें अघाती ही नहीं, न जाने कौन-सा भाव होता है उस निर्निमेष[1] दृष्टि में, एक की दृष्टि दूसरे के रूप की चिर-प्यासी है—

दोऊ उदधि पै दोऊ पियासे । पी पी जल पुनि रहहि पियासे ॥
देखत काहू होई न सांती । दिवस चारि बीते एहि भांती ॥
(पृ० ११०)

विरहिणी नायिका सोचती है कि यदि चन्द्र उसके लिए भी उष्ण होता तो क्या वह व्याकुल होकर मेरे पास न चला आता, जान पडता है कि विधि ने दो चन्द्र बना दिये हैं, एक शीतल दूसरा उष्ण, जो शीतल था वह उसके पास भेज दिया और जो जलाने वाला है वह मेरे पास छोड दिया—

कै विधि जग दो ससि निरमयो । एक तातो एक सीतल भयो ॥
सीतल हुत सो गा तुम्ह सगा । रहो उसन मम दाहत अगा ॥ (पृ० १६७)

जायसी की नायिका अपना सदेश भेजती हुई भ्रमर तथा काग से कह रही थी कि प्रिय से जाकर यह कहना कि तेरी प्रेयसी विरह में जलकर मर गई और उसी के धूम्र से हम काले रग के हो गये हैं। इस सदेश में यह स्पष्ट है कि नायिका का यह प्रलाप-वचन नहीं है; प्रत्युत 'चातुरी' है, वह पक्षियो को सिखाकर झूठ बुलवाती है और अपना काम बनाना चाहती है। चित्रावली ने ऐसा नहीं किया, उसको इतना होश ही कहाँ है वह तो देखती है कि जो भ्रमर उसका पीछा नहीं छोडता था वह उसके शरीर से डरकर न जाने क्यों भाग जाता है, शायद वह एक बार उसके विरह-ताप से जलकर काला पड गया है, अब शरीर के पास आने की भूल न करेगा—

एक दिन भूलि मधुप उर लागा ।
दहि भा स्याम तबहिं उडि भागा ॥ (पृ० १६८)

इन्द्रावती तथा अनुराग बाँसुरी

नूर मुहम्मद ने लोक-कहानियो के अनुकरण पर अपनी 'इन्द्रावती' लिखी, परन्तु जब मजहब ने उनके मानस में जोर मारा तो उनको 'अनुराग-बाँसुरी' लिखनी

---

१. बिहारी की नायिका मध्या है इसलिए वह निर्निमेष दृष्टि से प्रिय को देख भी नहीं सकती, उसका प्रेम गुप्त है, परन्तु सूफी नायिका अपने प्रेम के कारण प्रसिद्ध हो चुकी है अब कैसी लज्जा और कैसा सकोच।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाइ ॥ (बिहारी)

पड़ी। इन्हन के 'सुनासोर', 'दुं मानुद', 'समना', 'अभिवाल', 'आसीविख', 'कारमुक', 'तिरविन्दिप', 'अध्वत', तथा 'अस्तनु ड' जैसे शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि वे संस्कृत भी अवश्य जानते होंगे। इनके काव्य में प्रचार ही मुख्य उद्देश्य है, फारसी की कामुकता भी इसीलिए काफी आ गई है। फारसी का कवि प्रेयसी (माशूक) के अंग का कोई आभूषण या उसके नित्य व्यवहार की कोई वस्तु बनने की कामना करता रहता है, नूरमुहम्मद की भी यही अभिलाषा है परन्तु 'बाँसुरी' में उन्होंने इस कामना को भी उचित नहीं समझा, यदि अंजन बन जाऊँ तो मेरा तो जीवन सफल हो जावेगा परन्तु उसके नेत्रों को कष्ट होगा, जावक बनना भी ठीक नहीं उसके कोमल चरण मेरा भार सहते हुए परेशान हो जायेंगे—

(क) जावक होउँ, होइ दुख मेटउ। तो वह कमल चरन कहँ भेंटउ।
काजल होउँ नयन लगि रहऊँ। होइ पवन लट ऊपर बहऊँ॥ (इन्द्रावत)

(ख) अंजन होउँ सखी भल नाहीं। वह कजरारे नयन दुखाहीं।
जावक होउँ तबौ नहि नीको। भार सहै पद बा रमनी को॥ (अ० बाँसुरी)

कवि नारी-मात्र को 'प्यारी' शब्द से सबोधन करता है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। उसने नारी के कटाक्ष तथा उसके मधुर अधरों पर अपने को निछावर कर दिया है, 'अधरन के मिठाई' का जितना वर्णन इसने किया है उतना दूसरे ने नहीं। नेत्रों की तीक्ष्णता[1] वह एक सामान्य वाक्य द्वारा भी बतला सकता है और उत्प्रेक्षा[2] (हेतूत्प्रेक्षा) की सहायता से भी, परन्तु दोनों स्थलों पर उसकी कामुकता स्पष्ट है। अधरों के वर्णन में तो कवि आवश्यकता से अधिक आगे बढ़ जाता है, उसकी संभावना गंभीर न बनकर हास्यास्पद बन गई है—

ता अधरन कै पाइ मिठाई। रीझि रहा यह जग हनुआई।
सखी संग जब बात निसारै। मानहु मिसरी चीनी झारै।
पीना के उर बेधे, ता अनुराग।
ता बच आगे यह मधु, मधुर न लाग॥ (पृ० ५१)

शेष रचनाएँ

सूफियों की शेष रचनाएँ बहुत ही सामान्य स्तर की हैं, उनमें न तो कोई स्वस्थ विचार-धारा है न काव्य-सौन्दर्य ही। समस्त साहित्य में से केवल जायसी के काव्य का ही कुछ प्रचार हो सका, वह भी सामाजिक दृष्टि से नहीं केवल साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ही। आलम ने 'माधवानल-कामकंदला' की 'प्रेमकथा' लिखी है, जिसमें 'जगतरस' ही मुख्य है, और उसके पाठक 'कामी पुरिष रसिक' ही सोचे गये हैं। निसार ने प्रेमकथा 'अमनवी' लिखी है, जिसमें झूठी कथाओं से घृणा और 'यह साँच कथा' का आग्रह है, यद्यपि धार्मिक प्रचार का दृष्टिकोण मुख्य है, फिर भी 'जुलेखा-वरनन-खंड' में नायिका का लपटता से भरा हुआ नखशिख-वर्णन ही मिलता है।

---

१. जब काजल दै बान चलावै। लौना ऊपर टोना लावै। (अनु० बाँ० ५१)

२ तुव तोमर ले मिरग डेराने। फिर न रहें, बन बीच छपाने।
तुव तोमर के डर तें सजन। चपल रहैं, थिरै नहिं ता तन (वही ७५-६)

नुजानुप्राणित रामानन्द का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव माना जाता है, परन्तु सूफी कवि न तो परम्परा से भक्त है और न यह अपने को कहीं भक्त कहता है, उसमें ज्ञान और प्रेम है, फिर भी हिन्दी-आलोचकों ने उसको भक्ति के भवन में ही बसा दिया है, कदाचित् उसकी आस्तिकता, समर्पण तथा अनुराग को दृष्टि में रखते हुए ही। शास्त्र परम्परा की दृष्टि से तो सूफियों को भक्त कहा ही नहीं जा सकता, काव्य-परम्परा, समसामयिक तथा उत्तरकालीन प्रमाण और प्रतिपाद्य विषय के आधार पर भी इनको भक्त मानना अनुचित है, सूफी-कवि भक्ति-काल के प्रेम-कहानीकार ही हैं, उस प्रवाह के उज्ज्वल रत्न या दृढ़ आधार नहीं। सूर और तुलसी से भेद करते हुए कबीर और जायसी का काव्य-माध्यम 'बोली' था 'भाषा' नहीं—तुलसी अपने माध्यम को 'भाषा'[1] कहते हैं, इनके सम्मुख संस्कृत तथा भाषा दो[2] ही समकालीन माध्यम थे, कबीर ने अपने माध्यम को 'बोली'[3] नाम दिया है, जायसी की परम्परा के नूरमुहम्मद भी अपने माध्यम को 'बोली'[4] कहते हैं, यद्यपि उत्तरकालीन सूफी भी बोली के स्थान पर 'भाषा' का प्रयोग करने लगे थे[5]। 'बोली' और 'भाषा' के भेद से यह निष्कर्ष तो अनुचित होगा कि कृष्णकाव्य तथा रामकाव्य साम्प्रदायिक-मात्र हैं, और सूफीकाव्य और सन्तकाव्य लोकप्रिय साहित्य है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भाषाकवि और बोली-कवि के पाठक एक ही नहीं थे—केवल सामाजिक भेदभाव की स्थूल दृष्टि से ही नहीं, प्रत्युत पूर्व-संस्कार, शिक्षा-दीक्षा आदि सूक्ष्मता को ध्यान में रखकर भी। इसीलिए भाषा-काव्य का सौन्दर्य बोली-काव्य की रमणीयता से नितान्त भिन्न है, उसकी पृष्ठभूमि में युगों की परम्परा है, सूक्ष्मता तथा गम्भीरता है, इसका सम्पर्क केवल चलती-फिरती दुनिया से है, वर्ग विशेष के दैनिक जीवन से है।

सामान्य विशेषताएँ

वीरकाव्य के अनन्तर हिन्दी-साहित्य में जो लहर उठी उसको 'भक्ति-काव्य' कहा जाता है। भक्ति-काव्य की कई शाखाएँ हैं और स्वकीय परम्पराओं के अनुसार उन शाखाओं के स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इस काव्य की सामान्य भाव-धारा में उस युग की परिस्थितियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं। हम उन्हीं के विश्लेषण का प्रयत्न करते हैं।

राजपूती तलवार के साथ कवि का हृदय भी भग्न हो गया और उत्साह एवं माया के स्थान पर करुणा एवं वैराग्य के गीत सुनाई पड़ने लगे। राजपूती शासन ने प्रजा में आत्मवाद का जो स्वर भरा था वह अभी परमात्मा तक तो दृढ़ था परन्तु स्वात्मा पर लड़खड़ा रहा था।

---

१. भाषा-निबन्धमतिमञ्जुल मातनोति।
२. का भाषा, का संस्कृत प्रेम चाहिए साँचु।
३. मेरी बोली पूरबी।
४. यह मुहम्मदी जन की बोली।
५. भाषा बाँधि चौपही जोरी। (आलम)
भाषा माँ काहू ना भाखा। (निसार)

विदेशी आक्रमणकारियों ने अपनी कपट-नीति से जब वीर और उत्साही व्यक्तियों पर विजय प्राप्त कर ली तो जनता फिर एक बार बिदक गई, परन्तु वह नास्तिक न बन सकी। इसके दो कारण थे। प्रथम तो जनता में आत्मविश्वास न था। दूसरे समाज के नेताओं ने उसको यह सुझाया कि उसकी दुर्दशा का कारण देव का असामर्थ्य नहीं प्रत्युत उसके स्वकीय (ज्ञात या अज्ञात) कुकर्म हैं। अस्तु, उस अन्धकारी शासन में एक ओर ईश्वर-भक्ति का प्रचार बढ़ा दूसरी ओर अपने दुःख का निदान न खोजकर उसको कर्मों का भोग समझ लिया गया, नेताओं ने प्रचार किया कि सुख तो मिथ्या है, दुःख ही वरेण्य है[1], क्योंकि दुःख से ही ईश्वर प्राप्ति हो सकती है। इस दुःखवाद का उद्‌गम परम्परा में था, परन्तु इस युग में इसको विशेष प्रश्रय मिला—इस तथ्य की अवहेलना नहीं हो सकती।

भक्ति-काव्य का मुख्य स्वर आस्तिकता है, परन्तु यह आस्तिकता उत्साहवर्द्धक न होकर करुणामूलक है, इससे निर्बाध गति की प्रेरणा नहीं मिलती प्रत्युत नीरव सहन का धैर्य प्राप्त होता है। जिस युग में स्वयं शासन ही अत्याचारों का केन्द्र हो, उसमें उत्साह या आशा कहाँ रह सकती है, जहाँ चाटुकारी करनेवाले गुलाम ही शासक बन जाते हों वहाँ व्यक्तित्व के विकास का क्या प्रसंग है, जहाँ राजकुल में सोदर ही परस्पर शोणित के प्यासे हों वहाँ सद्‌भावना के लिए स्थान कहाँ, और जिस युग का प्रमुख शासक दूसरे की विवाहिता पत्नी को छीनने के लिए दल-बल-सहित चढ़ आता हो वहाँ न्याय का परिहास ही है। भक्ति-काव्य इसीलिए संसार से निराश, वैभव से विरक्त, अधिकारियों से उदासीन तथा समाज से असन्तुष्ट है। शासक को स्वामी तथा पिता मानने के स्थान पर इसीलिए भक्ति-काव्य ने ईश्वर को जगदीश तथा परमपिता घोषित किया, राजा से न्याय न माँगकर उसने ईश्वर के न्याय में विश्वास रखा, प्रत्यक्ष को सुधारना संभव न जानकर भविष्य (परलोक) को बनाना अधिक उचित समझा और राजा तथा राजपुरुष के स्थान पर हरि तथा हरिजन के प्रति अनुराग दिखाया।

भक्ति-काव्य की माया देखने में तो अद्वैतवादी माया की अनुजा प्रतीत होती है, परन्तु वस्तुतः वह उसकी शिष्या थी, उन दोनों का बाह्यरूप समान है, परन्तु जन्म-योग एक नहीं। अद्वैतवादी सन्यासी अज्ञानात्मजा माया के मिथ्यात्व को ग्रहण कर जब उसको छोड़ जाता है तो उसको असीम आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे आगे और पीछे आनन्द का ही उल्लसित पारावार दिखाई पड़ता है, वह पूर्ववृत्त पर पश्चात्ताप करता हुआ आत्मग्लानि से अश्रु-विमोचन नहीं करता प्रत्युत मिथ्या को सारहीन समझकर निस्संग भाव से मन्द-मन्द मुस्काया करता है। भक्ति-काव्य में सर्वत्र पूर्ववृत्त पर पश्चात्ताप है, दृश्यमान की निस्सारता नहीं प्रत्युत उसके प्रति घृणा है, आत्मोल्लास कम परन्तु आत्म-ग्लानि अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी भक्त कवि युवावस्था में बिगड़कर जरा की ललकार से सुधरे थे, वे भोगों को निस्सार जानकर

---

१. सुन सो पलटू भेद यह, हँसि बोले भगवान।
दुख के भीतर मुक्ति है, सुख में नरक निदान॥

उनसे विरक्त नहीं हुए प्रत्युत अपनी असामर्थ्य के कारण उससे त्यागने लगे, उनकी ईश्वर-भक्ति किसी आत्म-लाभ का सात्विक परिणाम नहीं प्रत्युत अनतिदूर अनागत विजीगिषा की तामसिक प्रवृत्ति है। सम्भव है इस प्रकार की भावना भक्तकवियों की फैशन हो, परन्तु यह विद्यमान सब में है इसमें सन्देह नहीं। पूर्वकृत के फल, संसार की स्वार्थपरता, वृद्धावस्था की दुर्दशा और यम की विकराल मूर्ति का ध्यान आते ही कवि का हृदय काँपने लगता है और उसके नेत्रों से अश्रु तथा कण्ठ से वाणी स्वत एव प्रवाहित होने लगते हैं—

> जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
> ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
> या देही को गरब न करियै स्यार-काग-गिध खैहैं।
> × × ×
> जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि घिनैहैं।
> घर के कहत सबारे काढ़ौ, भूत होइ धरि खैहैं॥
> × × ×
> अजहूँ मूढ़ करौ सतसंगति, संतनि में कछु पैहैं।
> नर-वपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहैं॥ (सूर-सागर)

भक्त-कवि को संसार से नितान्त विरक्त नहीं कहा जा सकता, कवि विरक्त हो भी कैसे सकता है—कवित्व (अनुरक्ति) तथा विरक्ति परस्पर विरोधी प्रकल्प हैं; उसने संसार से असन्तोष प्रकट करके एक नवीन आदर्श की कल्पना की है। यद्यपि राजक्षेत्र उस समय हिन्दू-जनता के लिए वन्द्य था फिर भी भक्त-कवि उसको भूले नहीं हैं, यदि एक कवि सीकरी के प्रति उदासीन है तो इसीलिए कि वहाँ उनको सलाम[1] करनी पड़ती है जिनका दर्शन भी अशुभ है। राजसभा ऐसी हो जिसके प्रत्येक व्यक्ति को जनता आदर देती हो—भगवान् राम की सभा ऐसी ही है जिसमें तुलसीदास स्वयं तो जाते ही हैं पाठक को भी बार-बार पहुँचाते हैं, उसका सुन्दर से सुन्दर चित्र खींचकर। सूर एक ओर तो गोपियों के शब्दों में राज्य को कृत्रिमता का केन्द्र ठहराते हैं दूसरी ओर स्वयं अपने को 'पतितन कौ राजा' तथा 'पतितन पतितेस' बतलाकर राज्य को 'दुःख, अन्याय, अधर्म' का स्थान तथा 'पाप कौ गढ़' सिद्ध करते हैं। कबीर ने 'राजा, रंक और फकीर' को समभाव से नश्वर बताकर राजा की अवहेलना की है, और खजूर के पेड़ के समान बड़े बने हुओं, कुमार्गगामी अहंकारियों तथा धन-यौवन के गर्व में झूमनेवालों को घृणापूर्वक फटकारा है —

> नाम सुमरि, पछतायगा।
> धरमराय जब लेखा माँगे क्या मुख लेके जायगा॥

---

१. संतन कौं कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम।
जिनको मुख देखें दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम॥ (कुंभनदास)

राजा ही नहीं राज शक्ति के दूसरे केन्द्र नायक, योद्धा, मन्त्री आदि भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखे गये। जनता की पहुँच न राजनीतिक जीवन में थी और न सैनिक जीवन में, उसके हाथ केवल धर्म तथा घर ही आ सकता था, फलत जिन कवियों ने विरक्ति का उपदेश नहीं दिया, वे धर्मभाव के प्रचार तथा घरेलू जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करते रहे। सूर ने अपना मन ससार के सभी क्षेत्रों से हटाकर घरेलू जीवन को सुखमय दिखाने में लगाया है, और शासक के अत्याचारों से उदासीन गृहस्थ को आँगन में ही स्वर्ग-सुख प्राप्त करा दिया है। निवृत्ति तथा प्रवृत्ति दोनों ही मार्गों के भक्तकवि शासन से असन्तुष्ट अत उदासीन थे।

निर्गुनिए या सन्त

भक्ति-काव्य की चार धाराएँ मानी जाती हैं, जिनमें से सूफी काव्य-धारा को भक्ति-काव्य मानना उचित नहीं—यह ऊपर कहा जा चुका है। शेष तीन धाराओं में से सगुण धाराओं का नाम तथा रूप निश्चित है। परन्तु निर्गुणियों या सन्तों के विषय में विद्वानों का एकमत होना कठिन है। इस प्रवाह के कवियों को 'सन्त' या 'निर्गुणी' कहा जाता है, ये बोली कवि थे भाषा-कवि नहीं—यह हम कह चुके हैं। 'सन्त' नाम में अतिव्याप्त दोष है, समकालीन तुलसी में इसका बहुत[1] प्रयोग है, फिर केवल कबीर-वर्ग के कवियों के लिए इसको व्यवहार्य किस प्रकार मानें, तुलसी के अतिरिक्त सगुणोपासक भी[2] इस शब्द के प्रति अनुरक्त हैं। तब इन कवियों को 'निर्गुणी' कहना अधिक उपयुक्त है? परन्तु स्वय कबीर ही अपने को 'निरगुण सरगुन तें परे' कहते हैं तो उन पर अविश्वास कैसे हो? फिर भी 'सन्त' से तो 'निर्गुणी' नाम ही अधिक ग्राह्य है, क्योंकि सन्त किसी भी साधु को कह सकते हैं, परन्तु निर्गुण भक्ति का शास्त्रीय अर्थ ईश्वर के गुणातीत (मूर्ति, अवतार आदि से रहित) स्वरूप की उपासना है, जो इस वर्ग के सभी भक्तों में प्राप्त होती है।

हिन्दी आलोचना के प्रारंभिक दिनों में इस वर्ग के साहित्य को अधिक गभीर दृष्टि से नहीं देखा जाता था, परन्तु फिर एक ऐसी लहर आई कि विद्वान् जितने श्रद्धालु इस साहित्य के प्रति हैं उतने कदाचित् तुलसी के प्रति भी नहीं। हिन्दी में इस लहर का प्रमुख श्रेय स्व० डॉ० पीताम्बरदास बर्थ्वाल को है, जिनकी 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नाम्नी शोधपूर्ण कृति अद्यावधि अद्वितीय है। परन्तु उधर अवैदिक मतों का विस्तृत अध्ययन और श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तिगत प्रभाव भी इस लहर के लिए उत्तरदायी हैं। फिर तो शोधकों ने नाथ, योगी, सिद्ध, सहजिया, निरजन, धर्म-

---

१ मुद मगलमय सत समाजू।
बदौं सत समान चित, हित अनहित नहिं कोउ।
सत हस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।
तुलसी सत सुअम्ब तरु, फूलि फरहिं परहेत॥ आदि॥

२, सतन को कहा सीकरी सों काम। (कुमनदास)

ठाकुर आदि के सम्प्रदायों से इस निर्गुण काव्य का सीधा सम्बन्ध मिलाना प्रारम्भ कर दिया। शोधक का काम पुरानी खोई हुई चीज को झाड़-पोंछकर सजा-बजाकर प्रदर्शित करना तो है ही, कदाचित् मरम्मत करना और विलुप्त अंगों का कल्पना से निर्माण करना भी है। अस्तु, हम यहाँ उन्हीं बातों को दुहराना ठीक नहीं समझते।

वैदिक विचार-धारा के साथ हमारे देश में कुछ इतर विचारबिन्दु भी अवश्य बिखरे रहे होंगे अन्यथा 'संस्कारों' द्वारा 'आर्य' बनने का कोई अर्थ ही नहीं होता, परन्तु इन बिन्दुओं का एकत्र होकर धारा-रूप ग्रहण उस समय तक सम्भव न हो सका जब तक कि स्वयं वैदिक विचारधारा में ही कुछ बाह्य विकार न आये। इतिहास में इन सुधारवादी अब्राह्मण विचारधाराओं के शिरोमणि जैन और बौद्ध आन्दोलन माने जाते हैं। इन दोनों का मुख्य लक्षण वेद और ब्राह्मण में अविश्वास है। जैन मत ब्राह्मणों की विचारजन्य हिंसा-प्रवृत्ति के उन्मूलन के निमित्त आया था, और उसको पर्याप्त सफलता भी मिली, कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदाय ने उसके सारे विश्वास पचा लिये और जैन मत देश के कुछ कोनों में सम्प्रदाय बनकर हो रह गया, उसको स्वतन्त्र जीवन-दर्शन न प्राप्त हो सका, जैन मत और ब्राह्मण धर्म साथ-साथ फूलते-फलते रहे हैं, उन्होंने परस्पर को प्रेरित किया है, उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण व्यवहार में अधिक भिन्न नहीं है। ब्राह्मणों के वेद में अविश्वास रखकर जैनों ने ब्राह्मण पुराणों के समानान्तर अपने पुराण बनाये, ब्राह्मण मन्दिरों के समान अपने मन्दिर तथा ब्राह्मण उत्सवों के समान अपने उत्सव चलाये। साथ ही जैन लोग ब्राह्मणों की समाज-व्यवस्था को भी स्वीकार करते रहे, उनमें गृहस्थ-जीवन वरेण्य माना जाता है, अध्ययन का महत्त्व है, त्याग और तप का सम्मान है, और किसी-न-किसी रूप में वर्ण-व्यवस्था भी है—उनमें 'पण्डित' तथा 'सेठ' हैं, सरकारहीनों का प्रवेश जैन मत में अवरुद्ध ही है। हिन्दी के विकास में जैनों का ब्राह्मणों से कुछ ही कम योग है, विशेषतः प्रारम्भिक दिनों में।

बौद्ध मत की प्रवृत्ति कुछ भिन्न बन गई। बौद्ध मत ब्राह्मण और जैन दोनों के प्रतिवाद में मध्यम मार्ग बनकर आया था, इसलिए उसने चिन्तन पर अधिक जोर दिया और चिन्तन की कसौटी थी बहुजन-हित। राजनीतिक शब्दावली में यह लोकतन्त्रीय आन्दोलन था। बुद्ध भगवान् तक तो ठीक रहा वे प्रबुद्ध थे, उनकी गति सूक्ष्म थी, फिर भी उन्होंने औरों के कहने से अपने सिद्धान्तों में अत्याचार किया—आनन्द के आग्रह से संघ में भिक्षुणियों को प्रवेश की आज्ञा मिल गई। वेद और ब्राह्मण में अविश्वास के साथ साथ बौद्ध मत की दो विशेषताएँ और थीं—शब्द-प्रमाण की अस्वीकृति तथा लोक को कसौटी मान लेना। वेद के विरोध में लोक को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करने में ही बौद्ध मत का ह्रास निहित था, धर्म का निर्णय मतदान से नहीं हो सकता, मन की रुचि से भी नहीं, इसका तो एकमात्र सबल शास्त्र, महापुरुष तथा शुद्ध अन्तःकरण ही हैं। गौतम के निर्वाण-लाभ करते ही सभा बुलाई गई और 'सद्धर्म' के संचालन की व्यवस्था पर विचार हुआ, 'तीन संगीतियों' तक बौद्ध मत छिन्न भिन्न हो गया, महायान तथा हीनयान शाखाओं के अतिरिक्त अनेक छोटे-मोटे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए, जिसके जितने अधिक चेले वह उतना ही ऊँचा तथा पहुँचा हुआ, शिष्यों को आकृष्ट

करने के लिए एक ओर तो कन्फेशन दिये गये दूसरी ओर गुरु की महत्ता को एन्लार्ज करके उसके चमत्कारी फिल्म दिखाये गये, और क्योंकि मूल में वेद का विरोध निहित था इसलिए असंस्कृत समाज का ही इधर आगमन हुआ और इस समाज को गिरलोदर की पूरी सुविधा देनी पड़ी। जब बौद्ध मत भारत से लुप्त हो गया तो लंका तथा पूर्व देशों में इसकी 'पीठ' बनी और भारत की मूढ़ जनता की श्रद्धा का दुरुपयोग गुह्यमन्य-मानियों ने खूब किया। अष्टम शती तक भारत की मूढ़ जनता इन्हीं बखेड़ों में पड़ी हुई थी। शंकर के अजन से अभिजात-वर्ग के नेत्र खुल गये परन्तु शताब्दियों से बिछुड़े हुए समाज का फिर वेद-मार्ग पर चलना एकदम एवं संभव न था। प्रतिक्रियाएँ दो हुईं—एक तो वेद के नाम पर किसी को भी बहका देना, दूसरी वेद का नाम लिये बिना ही सदाचार आदि वेदोक्त गुणों पर ज़ोर देना। यद्यपि सगुण तथा निर्गुण के भेद वेद के महत्त्व को दृष्टि में रखकर नहीं किये गये फिर भी संयोगवश सगुण काव्य वेद के नाम पर ही सब कुछ कहता है और निर्गुण काव्य वेदोक्त सदाचार का प्रचार करता हुआ भी वेद नाम के प्रति उदासीन है।

हिन्दी का निर्गुण सम्प्रदाय इन्हीं परिस्थितियों का मध्यकालीन परिणाम है। खोजने पर तो उसका कोई न कोई सम्बन्ध प्राचीनतम अवैदिक संस्कृति से मिलाया जा सकता है, और सिद्धनाथ, निरंजन, धर्मठाकुर आदि के प्रभावों का तो विवेचन विद्वानों ने किया भी है, परन्तु कबीर की जाति के लोग साम्प्रदायिक रूप में वेद-विरोधी मान न रहे होंगे—वेद से उदासीन रहना तो स्वाभाविक है। शंकर के प्रभाव से एक झकझोर इनमें भी आगई थी, और ये ब्राह्मणों की अवहेलना पर भी अपने को सुधारना चाहते थे, वेद और ब्राह्मण का विरोध इन्होंने स्वयं तो न किया परन्तु इनको चेले बनानेवालों ने इनकी हीनता से लाभ उठाकर अपनी गद्दी सुदृढ़ बनाने के लिए इनके मन में विष के बीज बो दिये। विदेशी इनको मुसलमान बनाना चाहते थे, ब्राह्मण इनका तिरस्कार कर रहे थे, निर्गुणी ने वहां जमकर खड़े रहो, तुम क्या किसी से कम हो, मैं तो तुम्हारे ही उद्धार के लिए निरंजन निराकार द्वारा भेजा गया हूँ, और जब उसने ब्राह्मणों की खिल्ली उड़ाते हुए उनके दो-एक दोष पर व्यंग्यात्मक आक्रमण करके भक्त को ऐसा मार्ग दिखा दिया जिसकी ब्राह्मणों को सूचना भी नहीं थी तो भक्त ने गद्गद् होकर उसके चरणों में मस्तक झुका दिया—'गुरुदेव, आप धन्य हैं, आप ईश्वर से महान् हैं, यदि आप न होते तो ईश्वर को कौन पूछता।'

निर्गुणी का व्यक्तित्व

गतानुगतिक विश्वासों का विरोध करनेवाले सुधारकों का व्यक्तित्व बड़ा प्रखर होता है, असीम आत्मविश्वास, प्रचण्ड विध्वंस तथा निस्संकोच प्रतिपादन उसके मुख्य लक्षण हैं; यदि सुधारक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने लगा तो वह समाप्त हो गया, उसका काम समझाना है समझना नहीं, दिखाना है देखना नहीं, और यदि इस सुधारक को किसी महान् संस्कृति का विरोध करना हो तो उसको सफलता तभी मिल सकती है जब वह अपने काम के व्यक्ति और उस पर चोट करनेवाले शब्दों की छोट में सिद्ध-

हस्त हो। ऐसे सुधारक अधिक नहीं हुआ करते, परन्तु जो होते हैं वे ऊँचे उठ जाते हैं, अपने सामने अपने नाम से सम्प्रदाय चला जाते हैं, उनके बाद भले ही उस सम्प्रदाय में ठगविद्या का ही बोलबाला रहे। इन महापुरुषों की कथनी और करनी में भेद नहीं हुआ करता, इनमें व्यक्तिगत प्रन्थियों का अस्तित्व अनिवार्य है, ये आचार के शुद्ध तथा मन के पवित्र होते हैं।

निर्गुण सम्प्रदायों के आदिगुरु इन्हीं गुणों के भाण्डार थे। यद्यपि इनका उद्देश्य मन में भक्तिभाव को जगाकर सदाचारपूर्ण जीवन का प्रसार ज्ञात होता है, फिर भी ये खण्डन में अधिक लगे रहे और मूल से इन्होंने वेद और ब्राह्मण का विरोध अपना लक्ष्य बना लिया परन्तु भारत-भूमि में वेद और ब्राह्मण की महत्ता का उन्मूलन उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कि दिन से दिवाकर का लोप—जब तक वेद की मान्यता तथा ब्राह्मणत्व का आदर है तभी तक आर्यावर्त्त के निवासी आर्य हैं और भारत में भारतीयता है, बर्बर से बर्बर शासकों ने इस उन्मूलन का प्रयत्न किया और अपनी अपकीर्ति की दुर्गन्ध छोड़कर स्वयं विलुप्त हो गये।

ये आदिगुरु अक्खड़ तथा फक्कड़ थे। जाति के प्रायः हीन[1], शिक्षा में शून्य, अनुभव के धनी, आत्मविश्वास से अहंकारी, आस्तिकता में पूर्ण। यदि ये शिक्षित, अभिजात या संस्कृत समाज के बीच जाते तो इनकी अटपटी बातों से कौन अपना समय नष्ट करता। अस्तु, इन्होंने उस समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया जो प्रत्येक दृष्टि से कोरा, नहीं, हीन था और उसकी जन्मजात हीनता[2] को उभारकर उनको भगवान् तक पहुँचने का मार्ग दिखाने लगे। इनका उपदेश था कि भगवान् तो दीन-हीन को ही अधिक प्यार करते हैं, क्योंकि उसका और कोई सबल नहीं होता। इनके उपदेशों में एक ओर मन को आग (व्यंग्य) है दूसरी ओर हृदय का अनुराग (भक्ति-भाव), एक ओर ब्राह्मण से घृणा है और दूसरी ओर भगवान् से प्रेम। इनका जीवन ही इनके विचारों का प्रतिफलन है। मानव ही नहीं कुंजर से कीड़ी तक के जीवों को ये समभाव से देखते थे। इन्होंने किसी पर विश्वास नहीं किया—सारा संसार झूठा तथा बनावटी है, वेद झूठे हैं, ऋषि, योगी, ब्राह्मण, पंडित सब झूठे तथा स्वार्थी हैं। इनका विचार था कि प्रेम की गली ही सच्ची है, क्योंकि उसमें बाहर कुछ और तथा भीतर कुछ और की आशंका नहीं। राजपथ पर मदमाती गति से चलनेवाले कुंजर के समान निर्भय अपने कार्य-क्षेत्र में बढ़ते हुए इन्होंने श्वान[3] के समान भूकनेवाले विरोधियों की कभी परवाह नहीं की।

---

१ मध्ययुग के अधिकतर सन्त उसी श्रेणी से आये थे जिन्हें हिन्दू समाज में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। (११३, दादू) (विचार और वितर्क)

२. नीचे नीचे सब तरे, जेते बहुत प्रवीन।
चढ़ बोहित अभिमान की, बूड़े ऊँच कुलीन॥

३. हस्ती चढ़िए ज्ञान का, सहज दुलीचा डारि।
स्वान-रूप संसार है, भूकन दे झख मारि॥

निर्गुणियों की प्रतिभा में अविश्वास नहीं किया जा सकता। अशिक्षित तथा हीन होते हुए भी वे इतने शिष्य इकट्ठे कर सके, यही उनकी महत्ता का प्रमाण है। यह जान लेना साधारण बात नहीं कि इनकी पूछ एक विशेष वर्ग में ही हो सकती थी और उस वर्ग को एक विशेष दृष्टिकोण के द्वारा ही अनुयायी बनाया जा सकता था। विद्याहीन होकर भी सभी सम्प्रदायों का कामचलाऊ ज्ञान इनको था, और हर चीज में अपने मतलब की बात निकालना ये जानते थे। आधुनिक सम्प्रदायों में इनमें नेतागिरी का स्वाभाविक गुण था। इनके साहित्य में दूसरों की बहुत सारी बातें मिलती हैं। कारण दो हैं। या तो इनको सत्य के प्रकाशन से मतलब था साहित्य के निर्माण से नहीं, इसलिए किसी भी साधु के पद को अपने नाम से जोड़कर अपने शिष्यों को प्रभावित किया करते थे। या अच्छी चीज दूसरों से लेकर अपने नाम से चलाना इनकी शिष्य बटोरने की कला का एक गुण है। जो भी हो, निर्गुणी-साहित्य पर व्यक्तित्व की छाप कम है, कौन-सा पद किसका है यह निर्णय आसान नहीं, और एक व्यक्ति के नाम से चलनेवाला पद उसी का है या उसके शिष्यों का—इसका निर्णय तो असम्भव है। गुरु तो अशिक्षित थे इसलिए उनकी 'बानी' उस समय तक मौखिक रही जब तक कि किसी साक्षर शिष्य ने नमक-मिर्च मिलाकर उसको लिपिबद्ध न कर दिया। इसलिए निर्गुण-साहित्य प्रामाणिक नहीं है, न भाषा की दृष्टि से और न विचारों के लिए। सारे निर्गुणी-साहित्य में एक ही प्रकार के विचार, उनके स्पष्टीकरण के लिए एक ही दृष्टान्त तथा रूपक और उनको बाँधने के लिए प्रायः एक ही सी बोली पाई जाती है। यदि कबीर पर विचार कर लिया जाय तो फिर दादू, पलटू आदि ही क्यों नानक तक पर विचार पुनरुक्त-सा ही लगता है।

एक दृष्टि से सूफियों को जैनों का तथा निर्गुणियों को बौद्धों (बौद्धानाम सिद्धों तथा नाथों) का एकरूपी भिन्न कहा जा सकता है, परन्तु यह दृष्टि स्थूल है सूक्ष्म नहीं, इसमें शरीर की गठन को ही ध्यान में रखा गया है मन, बुद्धि और हृदय को नहीं। क्योंकि जैनों की चरित-शैली को अपनाकर भी लोक-कहानीकार सूफी मुसलमान वैष्णवानुकूल जैनों की अपेक्षा वेदद्वेषी नाथों का अधिक प्रचारक है, उसकी काव्यवर्ण्य नायिका को वाममार्गियों की सुरावादिनी योगिनी का समयोचित रूप ही समझना चाहिए। इसी प्रकार निर्गुणियों ने सिद्ध नाथों से हटकर समाज को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया, इड़ा-पिंगला के ताने-बाने पूर दिये, और उसी परम्परा के दृष्टान्त तथा उलट-फेरन से अपने विचारों को स्पष्ट किया, फिर भी निर्गुणियों का आदर्श कुछ और ही था। शंकर के अद्वैतवाद के साथ-साथ नाथ-सम्प्रदाय का उदय हुआ, ये इन्द्रियों के दास न रहकर मन के स्वामी 'मास्टर'[1] बनना चाहते थे। इसलिए गोरखनाथ का प्रचार और प्रतिष्ठा बढ़ी परन्तु शीघ्र ही इन नाथों में अहंकार और दम्भ मुख्य हो गया मनोविरुद्ध गौण। भक्ति-सम्प्रदाय ने नाथपन्थ से भिन्न एक दास-धर्म का प्रचार किया,

१ इन्स्टेड ऑव स्लेव्ज टु दि नायर् वान्टेड मेन टु बिकम मास्टर्स ''(२२)
(एन इन्ट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर)

परन्तु यह दासत्व मन या इन्द्रियों का न होकर गुरु या हरि का था। निर्गुणियों तक यह भक्ति नाथ-धर्म को छोड़कर दास धर्म की ओर अग्रसर हो रही थी, सगुण भक्तों ने नाथ-धर्म बिल्कुल फेंक दिया और भूर्व दास-धर्म की सुदृढ़ नींव जमा दी, आगे चलकर सखा-धर्म, पत्नी-धर्म आदि भी विकसित हुए जो नाथ-धर्म के महकार से नितान्त निःशक थे। अस्तु, वेष-भूषा में सिद्ध-नाथों का अनुकरण करते हुए भी निर्गुणी काव्य आचार-विचार में उनसे भिन्न है।

महात्मा कबीर

सन्त-मत नामक सम्प्रदाय के पूर्व प्रवर्तक महात्मा कबीर थे। उनके पश्चात् जो सन्त महात्मा हुए उनमें गुरु नानक, दादूदयाल, जगजीवन साहब, पलटू साहब, हाथरस वाले तुलसीदास, गरीबदास, मुलमदास, चरणदास, नाभा जी, दरिया साहब रामदास, सूरदास आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] सन्त-मत एक व्यापक नाम है, गुरु-विशेष का सम्प्रदाय उसके व्यक्तित्व तथा देशकाल की परिस्थितियों के कारण, सन्त-मत से अनुप्राणित होता हुआ भी, विशेष नाम से विख्यात हुआ, यहाँ तक कि राधास्वामी सम्प्रदाय का नाम तो उस परम्परा से बिल्कुल अलग है ही 'राधा' का सयोग भी निर्गुणियों को अजीब लगेगा, नानक का पथ परिस्थितियों के कारण अध्यात्म की अपेक्षा ससार को अधिक प्रश्रय देने लगा। फिर भी कबीर की प्रत्यक्ष या परोक्ष मान्यता इन सभी सम्प्रदायों में है, उत्तर-पश्चिम में नानक, पश्चिम-दक्षिण में दादू, दक्षिण में नामदेव-तुकाराम[2], और पूर्व में अच्युतानन्द दास, (उड़ीसा) जैसे दिग्गजों पर कबीर का प्रभाव है; अपने क्षेत्र में तो उनके बहुत से शिष्य तथा अनेक उपसम्प्रदाय हैं।

कबीर की तुलना के लिए सर्वप्रथम हमारा ध्यान तमिल-वेद तिरुक्कुराल के रचयिता तिरुवल्लुवर[3] (ईसा से पूर्व शती) पर जाता है। दोनों के जन्म पर एक-सी जनश्रुतियाँ हैं, दोनों जाति के हीन थे, जुलाहे का व्यवसाय करके अपने गृहस्थ का निर्वाह करते थे, दोनों की शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में कोई प्रामाणिक वक्तव्य सम्भव नहीं। वल्लुवर का 'कुराल' तथा कबीर की 'साखी' आकार-प्रकार में समान हैं। वल्लुवर के युग में जिस श्रद्धा का साम्राज्य या उसका प्रभाव उनके गभीर तथा व्यापक जीवन-दर्शन में है, परन्तु कबीर का युग खडन से लाञ्छित है, इसलिए कबीर-साहित्य में अखडता की रक्षा नहीं हो सकी है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है अलवाड सन्त ही नहीं, दादू (धुनिया), रैदास (चमार), नामदेव (दर्जी), सभी शूद्र थे और नेनाओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश में शूद्र-भक्तों की बाड़ सी आ गई थी, श्री दिवेकर ने महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में गोरा और राका कुम्हार, सावता माली, नरहरि सुनार,

१. राधास्वामी सम्प्रदाय, (सरस्वती, जनवरी १६१७)।

२. कबीरदास के दोहे तो उन्होंने पार किये थे। इस बात का वर्णन महीपति जी ने किया है। इन दोहों की छाप इनके अभगों पर कई स्थानों पर पड़ी हुई नजर आती है। (सत तुकाराम, ६६)

३ तमिल-वेद। (भावना और समीक्षा, पृ० १६२)

जोगा तेली, सामा चूड़ीवाला, बका और चोखा महार, तथा कान्होपात्रा वेश्या के नाम गिनाये हैं[१], उड़िया के अच्युतानन्द दास प्रभृति 'पचसखा' शूद्र ही थे। शूद्रों के इस भक्ति-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने से दो स्वत सभव लाभ हुए—एक, अभिजात-वर्ग का अहकार दमित हो गया, दूसरा पतित समाज में सांस्कृतिक उच्छ्वास फैल गया।[२] इसी दोमुखे प्रयत्न से भक्तों ने मध्यकालीन समाज में सांस्कृतिक शान्ति उपस्थित कर दी।

हिन्दी में कबीर ही प्रथम भक्त हैं, इसलिए भक्ति-आन्दोलन की युगव्यापिनी विशेषताओं से कबीर के व्यक्तित्व का बहुत कुछ अनुमान लग जाता है, कुछ बड़े-बड़े सम्प्रदायों को छोड़कर शेष का कबीर मत से सम्पर्क रहा है—भले ही कबीर-मत अखड रूप में कबीर की ही उद्भावना न हो। कबीर की बहुत सी बातें मानकर भी कुछ सम्प्रदाय जब सगठित रूप में चले तो उनको मन्दिर, तीर्थ, व्रत, तथा 'कागद की लेखी' में विश्वास करना पड़ा। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र के 'वारकरी' सम्प्रदाय में 'पढरपुर' तथा 'विट्ठल' का महत्त्व है, और आषाढ तथा कार्तिक की एकादशियों को पढरपुर में वारी करनेवाले विट्ठल-दर्शन से अपने को धन्य मानते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के 'महिम' धर्म ने अनेक सम्प्रदायों को पचाकर सगुण द्वारा निर्गुण की उपासना चलाई, इसके प्रवर्त्तक 'पचसखा' थे, इसमें पुरी-प्रतिष्ठित देवाधिदेव जगन्नाथ की उपासना की जाती है, और इन पचसखाओं ने मूर्ति पूजा, तीर्थ-यात्रा तथा तान्त्रिक एव यौगिक साधनाओं को धिक्कारा भी है। सिक्ख-सम्प्रदाय ग्रन्थविशेष की पूजा करता है और उसके कथनों को कट्टरतापूर्वक पवित्र मानता है, राधास्वामी सम्प्रदाय में मन्दिर तथा समाधियाँ पूजा के लिए ही हैं। स्वय कबीरपथ मे प्रधानुसरण तथा अपने को ठीक और दूसरों को झूठा समझने की पर्याप्त प्रवृत्ति है। अस्तु, इन बाहरी आडम्बरों की विभिन्नता में भी निर्गुण उपासना कुछ आन्तरिक विशेषताओं के कारण अलग छाँटी जा सकती है। इन विशेषताओं में मुख्य हैं ब्राह्मण धर्म के पूज्य ग्रन्थ वेद, उपनिषद् आदि की प्रमाण्यता और उनके स्थान पर सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के भाषा निबद्ध वचनों को आदर-प्रदान, ज्ञानेश्वर आदि भी सन्त हैं परन्तु वे इस प्रवाह से बाहर हैं इसीलिए उनमें गीता का महत्त्व है, वस्तुत प्रस्थानत्रयी को निर्गुणिये आदर नहीं देते। इसी विशेषता के कारण आधुनिक पुनरुत्थान के दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द, गान्धी आदि न कोरे सन्त हैं और न सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक। दूसरी विशेषता है अपनी पद्धति को धर्म का रूप न देकर सम्प्रदाय का रूप देना, अर्थात् इसमें सामाजिक जीवन की व्यापक व्यवस्था न करके केवल व्यक्तिगत उपासना आदि का मार्ग निकालना, फलत साम्प्रदायिक विश्वासों में समान होते हुए भी निर्गुणिये सन्त सामाजिक जीवन में एक दूसरे से बहुत दूर हैं। प्रारंभिक दिनों में निर्गुणियों ने शास्त्र और अध्ययन में अविश्वास दिखलाया,

---

१ सत तुकाराम (पृ० ७)।

२ ऑफ पुलिंग डाउन दि हेजेमनी ऑफ दि सोशल बिगोट्स एण्ड ऑलसो ऑफ अपलिफ्टिंग दि लोअर स्ट्रेटा ऑफ सोसाइटी विद दि मीन्स ऑफ कल्चरल इन्नोवेशन्स। (स्टडीज इन मेडीवल रिलीजन एण्ड लिट्रेचर ऑफ उड़ीसा, १६)

परन्तु सम्प्रदाय चल जाने पर प्रवर्तक के वचन ही शास्त्र बन गये और धीरे-धीरे अनुभव का स्थान साक्षरता ने ले लिया, फिर भी साधन तथा अनुभव से ही महत्ता की माप इस आन्दोलन की तीसरी विशेषता माननी चाहिए। चतुर्थ विशेषता बाह्य आडंबरों का त्याग तथा सदाचारी जीवन है, इस जीवन में गृहस्थ भी सम्मिलित हैं क्योंकि घर-बार त्यागकर उपासना में निर्गुणियों का अधिक विश्वास नहीं। रूप की अपेक्षा नाम को अधिक महत्व, जाति-पाँति का त्याग, अहिंसा तथा प्रेम, और सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता भी उस युग में सामान्यत. सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

कबीर की साखियाँ

रूप तथा गुण की दृष्टि से कबीर के काव्य को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—दोहा (साखी) तथा गीत (सबद, रमैनी, पद आदि)। इन दोनों वर्गों की *आत्मा भले ही एक हो परन्तु मन और हृदय अर्थात् कल्पना तथा भावना में घना* अन्तर है अत इनके सौन्दर्य का पृथक् विवेचन ही अधिक उपयुक्त है।

साखीकार कबीर जनता के सूक्तिकार अनुभवी कवि हैं, साखी में लोक का अनुभव ही नहीं, शास्त्र की अच्छी-अच्छी बातें भी भरी हुई हैं, महात्मा जी ने स्वयं ही अपनी साखी को चारों वेदों का सार[1] बताया है, अनुमान से ज्ञात होता है उस समय बहुत से लोग साखी लिखते होंगे, परन्तु कुछ कच्चे थे इसलिए आगे न चल सके, कबीरदास ने ऐसे अनुभवहीन सममार्मिक साखीकारों को जूठी पत्तल चाटनेवाला[2] कहा है। 'कुरान' के समान 'साखी' छन्द का नाम नहीं है और न इस शब्द से वर्ण्य-विषय का बोध होता है, 'साखी' 'साक्षी'[3] का देशीय रूप[4] है, अत जो कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निषेध में प्रमाण-स्वरूप बनकर निर्णय कर सके वही साखी है, वस्तुत यह धर्म-शास्त्र या उपदेशामृत का ही पर्यायवाची नाम है, यह आश्चर्य की बात है कि कबीर के अनन्तर सूक्तिकारों ने अपने नीति के दोहे-सोरठों को साखी नाम नहीं दिया, कदाचित् 'साखी' बनने के लिए साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी अनिवार्य है। हाँ, तो साखी दोहे में ही हो, यह आवश्यक नहीं, कुछ साखियाँ सोरठे में हैं, और कुछ छन्दोबन्धन-रहित पंक्तिबद्ध सूक्तिमात्र हैं, इनका अल्पाकार तथा सरल कथन ही इनको साखीत्व दिला सका है —

---

१ बलिहारी वहि दूध की, जामैं निकरै घीव।
आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव॥

२ साखी लाया जतन करि, इत-उत अच्छर काटि।
कहि कबीर कब लगि जिवै, झूठी पत्तरि चाटि॥

३ तुलना कीजिए—
सूरदास प्रभु की महिमा अति साखी वेद-पुरानो। (सूरसागर, विनय, ११)
गर्भ परीच्छित रच्छा कीन्ही, वेद-उपनिषद् साखो। (वही, ११२)

४. जो हम कही, नहीं कोउ मानै, ना कोइ दूसर आया।
वेदन-साखी सब जिउ अरुझे, परम धाम ठहराया॥

(क) सुखिया सब संसार है, खायें अरु सोवें ।
दुखिया दास कबीर है, जागें अरु रोवें ॥
(ख) जो मोहिं जानें, ताहि में जानौं ।
लोक वेद का, कहा न मानौं ॥

साखी के वर्ण्य-विषय ३ हैं—विधि, निषेध तथा निरूपण । विधि और निषेध तो धर्म तथा नीति के अंग हैं, निरूपण साम्प्रदायिक है । विधि और निषेध की तुलना में कबीर ने निरूपण की साखियाँ बहुत कम लिखी हैं, क्योंकि साम्प्रदायिक कार्यवाही के लिए वे गीतों को अधिक उपयुक्त समझते थे । कबीर का समस्त निरूपण प्रधानतः हिन्दूशास्त्रों से आया है, अतः निरूपण की साखियों में सौन्दर्य की अखिल झलक कबीर ने दूसरों से ही ली है । उदाहरण के लिए कर्त्ता की पूर्णता, निराकारत्व, सर्वव्यापकता आदि का निरूपण उसी पुरानी धार्मिक शब्दावली में देखिए :—

(क) अछै पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार ।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार ॥
(ख) जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप ॥
(ग) तेरा साँई तुज्झ में, ज्यों पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास ॥

अक्षय-वट, तथा ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख अश्वत्थ वृक्ष की चर्चा हिन्दू शास्त्रों में प्रसिद्ध है, बृहदारण्यक उपनिषद् में "यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा । तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ।" द्वारा पुरुष को वृक्ष ही माना गया है, मुण्डकोपनिषद् ने "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।" आदि के प्रसंग में 'क्षेत्रसंज्ञक अश्वत्थ वृक्ष' की कल्पना की है । कबीर के वृक्ष-रूपक में इसी प्रकार की परम्पराओं का सुना-सुनाया परिचय है । इसी प्रकार अणु से भी अणु, अग्नि में तेज, वायु में गति, तथा जल में शीत के समान ब्रह्म को अपने भीतर खोजने का आदेश हिन्दू-परम्परा में चला आ रहा है । कबीर ने इस निरूपण में, जहाँ भी आवश्यक समझा है, हिन्दू-परम्परा से सौन्दर्य का सम्पादन किया है । उपनिषद् के कुछ अन्य दृष्टान्त भी कबीर में आ ही गये हैं —

(क) अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा ।(मुण्डकोपनिषद्)
अन्धे को अंधा मिला, राह बतावै कौन ॥
अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्यू कूप पड़त ॥
(ख) तिलेषु तैलं, दधनीव सर्पि—
राप स्रोत स्वरणीषु चाग्नि (श्वेताश्वतरोपनिषद्)
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चक्मक में आगि ।
तेरा साँई तुज्झ में, जागि सकै तो जागि ॥
(ग) अपाणिपादो जवनो गृहीता,
पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णं (श्वेताश्वतर)

बिनु मुख खाइ, चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुन गावै।
आछे रहै ठौर नहिं छाँडै, दस दिसहूँ फिरि आवै॥

(घ) पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतस। (कठोपनिषद्)
दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन॥

(ङ) प्रणव धनु, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य, शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मुण्डकोपनिषद्)
शब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा॥
सोवत हो मैं अपने मंदिर में, सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा॥

(च) यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रे। (मुण्डकोपनिषद्)
समुदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।

कबीर के काव्य से इन स्थलों को उद्धृत करके उपनिषद् से सादृश्य दिखाने का न तो यह अर्थ है कि कबीर ने उपनिषद् सुने थे या वे उनके उन स्थलों से परिचित थे, और न यह है कि एक दृष्टान्त का जो उपयोग उपनिषद् में है ठीक वही कबीर में भी है। हमारा अभीष्ट केवल यही दिखाना है कि उस युग की सुनी सुनाई बातों में उपनिषद् का ज्ञान या अज्ञात रह था, कबीर में अनायास ही उसके छींटे आ गये हैं।

अब विधि और निषेध की साखियों में से विधि की साखियाँ देखिए। कबीर ने अपने अशिक्षित शिष्यों के लिए जो नीति के दोहे कहे हैं, उनमें से बहुत सों के चरण आज लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त मिलते हैं, इस लोकोक्तिपन का श्रेय कबीर को है या कबीरत्व का उत्तरदायित्व लोकोक्ति पर है—यह ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकता, हमारा अनुमान है कि इनमें से अधिकतर लोकोक्तियाँ उस समय किसी न किसी वेष में प्रचलित थीं, कबीर ने उनको अपना साधन बनाकर अमर कर दिया है —

(क) आपुहि खारी खात है, बेचत फिरै कपूर॥
(ख) कहवे को चदन भये, मलयागिर ना होय॥
(ग) बहुत रसिक के लागते, बेस्वा रहि गई बाँझ॥
(घ) जाका घर है गैल में, क्या सोवे निचींत॥
(ङ) बुंद पड़ भीतर आप के, साबुत गया न कोय॥
(च) केते दिन लों राखि हो, काँचे बासन नीर॥
(छ) कोयला होय न ऊजरा, सौ मन साबुन लाय॥
(ज) प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाय॥
(झ) दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम॥
(ञ) अब पछतावा क्या करें, चिड़िया चुग गईं खेत॥
(ट) पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ॥
(ठ) बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय॥
(ड) जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास॥

इन लोकोक्तियों के उपरान्त नीति की इस वाणी में दूसरा आकर्षण सहज गुण था है, शास्त्रीय दृष्टि से उसमें कोई सौन्दर्य न हो परन्तु अपने भोलेपन में वह हृदय को

मुग्ध कर लेती है, वाणी का यही रूप कबीर की लोकप्रियता का भी कारण है :—

(क) जाको राखै सांइयाँ, मारि न सक्कै कोय।
बाल न बांका करि सकै, जो जग बैरी होय॥
(ख) दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करैं, दुख काहे को होय॥
(ग) देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय॥
(घ) चाह गई, चिंता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहंसाह॥
(ङ) साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥
(च) सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप॥
(छ) बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

इन साखियों की संख्या अपार है। इनमें *काव्य का सौन्दर्य उतना नहीं, जितना कि सत्य* का, फिर भी ये साहित्यिक को उतना ही आकृष्ट करती हैं जितना कि शिष्य को, इसी प्रकार की साखियों के आधार पर कबीरदास को हिन्दी का श्रेष्ठ सहज कवि माना जाता है।

कबीर की साखियों का सबसे बड़ा आकर्षण तो मौलिक अप्रस्तुत-योजना है। कबीर का समाज कौनसा था, उनके शिष्य किस वर्ग के थे, उनकी कितनी योग्यता थी, उनका रहन-सहन रीति रिवाज क्या थे—इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमको कबीर की वह अप्रस्तुत-योजना देखनी पड़ेगी जो किसी दूसरे से नहीं आई, प्रत्युत कबीर से जन्मकर कबीर तक ही सीमित रह गई। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का समाज धोबी और कुम्हार, रँगरेज और लुहार, संक्षेप में उस वर्ग का था जिसकी ब्राह्मण ने अवहेलना कर दी थी और जो साक्षर तो था ही नहीं मानसिक स्तर की दृष्टि से भी अत्यन्त हीन था। ब्राह्मण और कबीर में तो पानी और अग्नि का-सा बैर[1] है, क्षत्री भी प्रत्यक्ष तो नहीं मिलते उनके शूर-धर्म की निन्दा करते हुए कबीर ने एक नये[2] शूर-धर्म की स्थापना की है, वैश्य[3] की साखियाँ

---

१ जो तोहरा को बामन कहियै, काको कहिये कसाई।
जो बामन तुम बामनी जाये।
और मारग काहे नहिं आये॥ (आदि अनेक कथन)

२ तीर तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।
माया तजि भगती करै, सूर कहावै सोय॥

३ साँई मेरा बानिया, सहज करै व्योपार।
बिन डांडी, बिन पालरे, तौलै सब संसार॥

एक-दो हैं वह भी संसारी लोगों के प्रसंग में नहीं, शूद्रों में भी दर्जी, सुनार, नाई आदि अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के लोग भुला दिये गये हैं, उनके स्थान पर मगहर-निवासी रँगरेज, लुहार, कुम्हार, धोबी आदि का बहुश: स्मरण है :—

(क) जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान।
बिना जीव की स्वांस सो, लोह भसम ह्वै जाय॥

(ख) गुरु कुम्हार, सिष कुंभ है, गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥

(ग) गुरु-धोबी, सिष-कापड़ा, साबुन-सिरजनहार।
सुरति-सिला पर धोइए, निकसै जोति अपार॥

(घ) धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥

(ङ) कबिरा मन पर्वत हता, अब मैं पाया जानि।
टाँकी लागी शब्द की, निकसी कंचन खानि॥

(च) पंडित और मसालची, दोनों सूझै नाँहि।
औरन को कर चाँदना, आप अँधेरे माँहि॥

इन स्थलों पर साहित्यिक सौन्दर्य तो है नहीं परन्तु अपने प्राकृत रूप में ही यह सामग्री पाठक के मन पर प्रभाव डालती है, नित्य-प्रति की वस्तुओं के प्रति हमारे मन में एक प्रच्छन्न मोह होता है, साथ ही जिस व्यापार से हम सुपरिचित होते हैं उसका रहस्य हमारे मन में बैठ भी जाता है। पंडित और मसालची की तुलना में एक तो 'मसालची' शब्द में ही व्यंग्य है 'ची' प्रत्यय 'बाज' प्रत्यय की तरह (दे० अफीमची, तबलची, मुलफेबाज, दगाबाज आदि) बुरे गुण के अधिकार में प्रयुक्त होता है, अतः 'मसालची' शब्द को सुनते ही हमारा ध्यान उन निरीह 'दीवटों' की ओर जाता है जो प्रकाश-स्तम्भ को अपने सिर पर धारण करके, उसके बोझ से दबते हुए, सजीव होकर भी निर्जीव के समान केवल उस स्तम्भ को टेकने के चलते-फिरते आधार-मात्र बनकर दूसरे की 'रोशनी' में योग देते हैं। 'मसालची' 'टोर्च-बियरर' नहीं है जो प्रकाश दिखला सके, वह तो साधन बना हुआ स्तम्भ है—जितना लम्बा उतना ही अधिक लाभदायक, उससे आप 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' नहीं कहते बल्कि उसको अपने हुक्म पर नचाते हैं। कबीर ने उपनिषद् के उस वाक्य पर कैसा असांस्कृतिक व्यंग्य किया है, यह उनकी प्रतिभा और क्षोभ दोनों का ही द्योतक है, 'चिराग तले अँधेरा' वाली कहावत सत्य होते हुए भी संसार की सभी संस्कृतियाँ तो प्रकाश का उल्लासपूर्वक स्वागत करती हैं, फिर ज्ञानी पण्डितों की इस भर्त्सना का क्या अर्थ ! और उपनिषद् पर इस व्यंग्य में कौनसी उदारता !!

अब कबीर जी के समाज के गुणों को भी देख लीजिए। शिष्यों में जो विशेषताएँ उनको बार-बार दिखाई पड़ रही थीं उनके एक बार ही निवारण का उपदेश इन शब्दों में है—

जुआ, चोरी, मुखबिरी, ब्याज, घूस, पर-नार ।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार ॥

कबीर के समय में वाममार्गी छाया में सोता हुआ वह समाज जिन दुर्गुणों को अपने जीवन का अग बना चुका था उनके निवारण का उपदेश इस प्रकार की शब्दावली में अनेक स्थानों पर मिलता है, सभव है ये दुर्गुण किसी न किसी मात्रा में अभिजात-वर्ग में भी रहे हो परन्तु कबीर उस वर्ग के तो अहकार और आडम्बर की ही चर्चा करते है। परकीया का उस युग में वामाचारियो ने बडा प्रचार कर रखा था, कबीर इसी लिए सबसे अधिक जोर इसी अवैध सम्बन्ध के त्याग पर देते है और शिष्यो के मन में परकीया-त्याग की भावना को बैठाने के लिए उन्होने हिन्दू इतिहास के सबसे प्रसिद्ध दृष्टात का उपयोग किया है—

पर-नारी पैनी छुरी, मति कोऊ लाग्रो अग ।
रावन के दस सिर कटे, पर-नारी के सग ॥

परकीया के प्रति घृणा उत्पन्न करते-करते वे नारी-मात्र का तिरस्कार करने लगते है (ध्यान रखना होगा कि परकीया गमन हिन्दू-समाज में नितात त्याज्य घोषित किया गया है, इसीलिए इतिहास के किसी भी काल में परकीया-गमन अभिजात-वर्ग ने स्वीकार नही किया, परन्तु धर्म के आवरण में हीन जनता इसको वाममार्ग के उपदेश से अपना चुकी थी, कबीर अपने शिष्यो की इसी दुर्वृत्ति से अत्यन्त दुखी थे, उनकी दृष्टि में अभिजात-वर्ग तो कदापि[1] नही है)—

---

१ स्त्री-पुरुष के जिस सम्बन्ध का कबीर में सकेत है वह अभिजात-वर्ग में कभी स्वीकार नहीं किया गया। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

(क) तेरह दिन तक तिरिया रोवै, फेर करै घर वासा ।
(द्विजो में न तो विधवा-विवाह होता है, और न कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष का घर बसा सकती है इतर जातियों में आज भी 'घर बसाने' की प्रथा पाई जाती है।)

(ख) राम मोर बडा, मैं तन की लहुरिया ।
(यह असम विवाह इतर जातियो में प्रचलित ही था।)

(ग) धन भई बारी, पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय ।
(यह भी अनमेल विवाह का परिणाम है।)

(घ) बिछुवा पहिरिन, औंठा पहिरिन, लात खसम के मारिन जाय ।
('खसम' शब्द 'पति' का पर्यायवाची नही, उससे कुछ कम का द्योतक है, सस्कार के बिना किसी स्त्री के साथ घर बसानेवाले कामचलाऊ पुरुष को खसम कहते हैं। लात मारना भी पतिव्रता के लिए असभव है।)

(ङ) श्रौ नयन गयल मोर कजल देत ।
औ वयस गयल पर-पुरुष लेत ॥
(यह व्यभिचार-व्रत भी द्विज-जाति में असभव है।)

(क) छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि।
बैरी मारे दाँव दै, यह मारै हँसि-खेलि॥
(ख) साँप बीछि को मन्त्र है, माहुर झारे जात।
बिकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात॥

इतना ही नहीं कबीर ने नारी को भी उपदेश दिया कि तुमको एक पुरुष तक ही सीमित रहना चाहिए, तुम मैली रहती हो, या गरीब हो इससे कोई अन्तर नहीं आता, यदि तुम पतिव्रता हो तो गरीबी में भी तुम आदरणीय[1] हो, इसलिए अन्य की आशा[2] छोड़कर पति पर विश्वास[3] करती हुई तुम आठ पहर चौंसठ घड़ी[4] अपने पति का ही ध्यान करो, यदि तुम ऐसी बन गईं तो पति से कह सकोगी कि मैं किसी अन्य को नहीं देखती तुमको भी दूसरी को न देखने दूँगी[5], और तब तुमको रण्डा[6] का सा जीवन न बिताना पड़ेगा, तुम्हारा पति तुम्हारे लिए कमाकर तुमको देगा। इन उपदेशों के साथ-साथ कबीर ने दुर्गुणों के उदात्तीकरण का भी प्रयत्न किया है, लुटेरे से वे बोले—भाई लुटेरे, अगर तुम लूट सकते हो तो राम नाम को क्यों नहीं लूटते[7], अगर तुम सांसारिक चीजों की ही लूट करते रहे तो पीछे पछिताना होगा। कबीर की नायिका अपने यार[8] से मिलने में इसलिए सकुचाती है कि वह मैली है, बुरा काम करते हुए उसके मन में भय नहीं उत्पन्न होता।

कबीर का समाज सामान्य से कुछ कम ही था। वे नगर, ऐश्वर्य, संस्कृति तथा सौन्दर्य का चित्र न खींच सके; राग-रंग को देखकर उनके मुख से आहें[9] ही निकलती है। प्रकृति भी इस कवि को आकृष्ट न कर सकी, वृक्ष है तो खजूर[10], और उपवन में

---

१. पतिबरता मैली भली, गले काँच की पोत।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की ज्योति॥
२. सुन्दरि तो साँई भजै, तजै आन की आस॥
३. पतिबरता पति को भजै, पति पर धर विश्वास॥
४. आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय॥
५. ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देउँ॥
६. सती न पीसै पीसना, जो पीसै सो राँड॥
७. राम नाम की लूटि है, लूटि सकै तो लूटि।
अन्त काल पछितायगा, जब प्रान जायगा छूटि॥
८. यार बुलावै भाव सों, मो पै गया न जाय।
धनि मैली पिउ ऊजला, लागि न सकौं पाय॥
९. पाँचो नौबत बाजती, होत छतीसों राग।
सो मंदिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग॥
१०. बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर॥

सौरभ-मदमाता पुष्पदल नहीं प्रत्युत शकाकुल[1] कली है, कोयल[2] का शब्द कवि के मन में कोई भाव नहीं जगाता, न पावस की घनघोर घटा है न शरद् का चन्द्रातप, सारा वन उनको जलता हुआ-सा[3] लगता है। घरेलू जीवन में कबीर का मन अवश्य लगा है और चक्की-चूल्हे की बातें उनकी कविता में अप्रस्तुत बनकर आ गई हैं, कहीं चींटी चावल[4] ले जा रही है, तो कहीं किसी के उपदेश में कुत्ते का भौंकना[5] सुनाई पड़ता है, वर्षा में जलनेवाली गीली लकड़ी[6], अन्न फटकने का सूप[7], सायंकाल खाने का चबैना[8], अनार की कली[9], खरबूजा[10] का दोष, पानी का बुदबुदा[11], झरता हुआ पात[12], और मदिरा की दुकान[13] इन साखियों में अप्रस्तुत बनकर आये हैं। इन अप्रस्तुतों के विषय में पहली बात तो यह है कि ये मौलिक हैं—कदाचित् प्रथम और अन्तिम बार ही प्रयुक्त, दूसरे, इनका परिचय पाठक के मन में बड़ा प्रभावशाली चित्र खींच देता है, और तीसरी तथा सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि इस अप्रस्तुत योजना के लिए जिन शब्दों का प्रयोग है वे इतने स्वाभाविक और सधे हुए हैं कि अभीष्ट अर्थ में पूर्ण सफल हैं। चबैना खाने वाला कुछ गोद में रख लेता है, कुछ हाथ में और कुछ मुँह में—गोद और हाथ, हाथ और मुँह में अन्तर ही कितना है, इसी प्रकार जो मर रहे हैं उनसे बचे हुओं को अधिक दूर नहीं समझना चाहिए, 'गोरस फिरै' में 'गोरस मारा-मारा फिरै' का अर्थ है, पेड़ से अलग होकर गिरता हुआ पत्ता जिस प्रकार वायु के ववंडर में पड़कर अपने मूल से अति दूर न जाने किस अज्ञात देश में पहुँच जाता है, अपनी खड़-खड़ से कुछ कहता हुआ, गिरता-पड़ता बेसुध-सा अभागा, उसी प्रकार उस अक्षय-वृक्ष से अलग होकर दुनिया की हवा में भूला हुआ मायामुग्ध

---

१. माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकार।
फूली फूली चुनि लिए, कालि्ह हमारी बार॥
२. आम की डार कोइलिया बोलै, सुवना बोलै वन में॥
३ दव की दाही लाकड़ी, ठाढी करै पुकार॥
४. चींटी चावल लै चली, बिच में मिलि गइ दार॥
५ कूकर ज्यों भूँकत फिरै, सुनी सुनाई बात॥
६ बिरहिन ओदी लाकड़ी, सपचे औ धुँधुआय॥
७ साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाइ॥
८ जगत चबैना काल का, कछु मुख में, कछु गोद॥
९. जानो कली अनार की, तन राता, मन स्वेत॥
१० खेत बिगारी खरतुआ, सभा बिगारी कूर॥
११. पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥
१२ पात भरता यों कहै, सुनु तरवर बनराय।
अबके बिछुरे ना मिलें, दूर परेंगे जाय॥
१३ गली-गली गोरस फिरै, मदिरा बैठि बिकाय॥

जीव न जाने कितना भूलकर कहाँ-का-कहाँ पहुँच जाता है। कबीर ने 'साकतजन अरु स्वान'[1] को एक साथ रखकर शाक्तों के प्रति कितनी घृणा दिखलाई है—यह किसी को 'कुत्ता' कहकर देखिए, आपको पता लग जायगा, अगर कुत्ता भूँकेगा तो क्या आप अपना रास्ता बन्द कर देंगे, उस नीच का तो काम यही है—टुकड़खोर, खुशामदी, इन्द्रियों का दास, नीचातुनीच !!

निषेध की साखियों में उपदेश कम है, व्यंग्य अधिक। व्यंग्य की रचना दृष्टान्त की सामग्री को विपरीत रूप देकर ही होती है, फिर भी दृष्टान्त की अपेक्षा व्यंग्य में अधिक शक्ति है, वह जिस बात को रोकना चाहता है उसके विरोध का बीज श्रोता के मन में चुपचाप बो जाता है। कबीर का उद्देश्य था मूर्ति-पूजा का विरोध, वे इसके लिए यही साधन अपनाते हैं, अगर उपदेश देने लगें कि भाइयो पत्थर मत पूजो तो उनकी बात कौन सुनेगा, अतः वे कुछ जिज्ञासुपन की भावना से बोले—'सुना है, भाई, कि पत्थर की मूर्ति पूजने से ईश्वर मिल जाता है। यदि यह ठीक है तो आज से मैं भी पत्थर पूजा करूँगा—मैं एक बड़े से पहाड़[2] को पूजूँगा जिससे कि ईश्वर और भी शीघ्र प्राप्त हो जाय'। यह पत्थर पूजने पर एक व्यंग्य था, पत्थर के गुण (बड़ा-छोटा, अच्छा-बुरा) से उपासक सोचने लग गया, उसके मन की श्रद्धा कपूर बन गई, यही कबीर का उद्देश्य था, उन्होंने भगत को सोचने का कुछ अवसर दिया, स्वयं भी मानो कुछ सोचने लगे मन्द-मन्द मुसकान के साथ, और फिर बोले—'संसार कितना भोला है, बाहर पत्थर पूजने जाता है, घर की उस चक्की[3] को क्यों नहीं पूजता जो खाने को अन्न देती है—वह भी पत्थर है और बड़ा उपकारी'। व्यंग्य की यह शैली सिद्धों और नाथों में तो प्रचलित थी ही, कर्मकाण्ड का विरोध उनसे पूर्व भी होता था, सम्भव है कबीर को ये चुटकियाँ परम्परा से ही प्राप्त हुई हों—

(क) नाम न रटा तो क्या हुआ, जो अन्तर है हेत।
पतिवरता पति को भजै, मुख से नाम न लेत॥

(ख) मूँड मुड़ाए हरि मिलें, सब कोइ लेहि मुँड़ाय।
बार-बार के मूँडने, भेड़ न बैकुंठ जाय॥

(ग) न्हाए धोए क्या भया, जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोए बास न जाय॥

(घ) पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय॥

(ङ) आसन मारे क्या भया, मुई न मन की आस।

यद्यपि कबीर को शब्दों की खिलवाड़ से प्रेम न था फिर भी जब वे देखते कि थोड़ा-सा खेल उनके प्रचार में समर्थ हो सकेगा तो अवसर को हाथ से जाने न देते थे,

---

१. साकत-जन अरु स्वान को, फिरि जवाब मति देय।

२. पाहन पूजत हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़।

३. दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥

साखियों में इस प्रकार के कतिपय सुन्दर उदाहरण हैं—

(क) माला तो कर में फिरैं, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनवाँ तो दस दिसि फिरैं, यह तो सुमिरन नाँहि।

(ख) करका मनका छोड़ के, मन का मनका फेरि॥

(ग) तिन का तिनका से मिला, तिन का तिन के पास॥

(घ) घर की नारी को कहै, तन की नारी नाँहि॥

(ङ) कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर-पीर॥

स्वाभाविक एवं सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिस अप्रस्तुत सामग्री का चयन किया है वह शास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त न भी हो परन्तु उससे यह सिद्ध अवश्य होता है कि रूप-रंग तथा गुण के सादृश्य के बिना भी प्रभाव-साम्य तुलना की मनोहर सामग्री प्रदान कर सकता है। निम्नलिखित उदाहरण हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर सकेंगे—

(क) तंबोली के पान ज्यूं, दिन-दिन पीला होय।

(ख) फाटा फटिक पषाण ज्यों, मिला न दूजी बार॥

(ग) काल खड़ा सिर ऊपरें, ज्यों तोरण आया बींद॥

(घ) काल अच्यता झड़पसी, ज्यों तीतर को बाज॥

(ङ) यह संसार कागद को पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है॥

(च) रचक पवन के लागते, उठे नाग-से जागि॥

तम्बोली के पान और राम-वियोगी में रूप-रंग तथा गुण का तो कोई साम्य नहीं, परन्तु परिपाक दोनों का एक ही होता है—पीला पड़कर नष्ट हो जाना। स्फटिक पाषाण तथा मन, काल तथा वर, काल तथा बाज, संसार तथा कागज की पुड़िया और नाग तथा बनावटी साधु में रूप-रंग का साम्य नहीं परन्तु गुण-साम्य तथा परिपाक-साम्य है, कवि का उद्देश्य उस गुण की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी है जिसके लिए अप्रस्तुत वस्तु जगत् में प्रसिद्ध है, काल को एक स्थान पर बाज के समान भयानक तथा हिंसक बनाया गया है दूसरे स्थान पर वर के समान पूर्णता प्राप्त कराने वाला अनन्य आधार, कवि का उद्देश्य एक स्थान पर बाज के समान त्वरित तथा प्रबल कहकर साथ ही काल को दुलहा के समान प्यार करने वाला अनन्य आधार भी बतलाना है। कबीर एक स्थान पर पर-नारी प्रेम को लहसुन के समान कहते हैं, उसके आरोग्यप्रद गुणों को दृष्टि में रखकर नहीं, प्रत्युत उसकी अवश्य फैलने वाली गन्ध की ओर संकेत करके—भाप भरसक बचाइए, वह संसार को प्रगट हो जायगा—

पर-नारी को राचणो, जिसी ल्हसण की खानि॥
खूंणें बैसि रखाइए, परगट होइ दिवानि॥

कबीर के गीत

'रमैनी', 'सब्द', 'चौंतीसा', 'विप्रमतीसी', 'कहरा', 'बसंत', 'चाँचर', 'बेलि', 'बिरहुली', 'हिंडोला' आदि गीतों के लेखक कबीर धर्मोपदेशक की अपेक्षा सम्प्रदाय-

(क) महि अकास दुइ गाड खँदाया। चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया॥
सहस तार तें पूरिन पूरी। अजहूँ बिनै कठिन है दूरी॥
कहहि कबीर करम सों जोरी। सूत कुसूत बिनै भल कोरी॥
(ख) गज नव, गज दस, गज उनइस की, पुरिया एक तनाई॥
सातसूत, नौ गड बहत्तर, पाट लागु अधिकाई॥
(ग) लम्बी पुरिया पाई छीन। सूत पुराना, खूटा तीन॥
सर लागे तेहि तीन सौ साठि। कसनि बहत्तरि लागु गाँठि॥
खुर खुर खुर खुर चलै नारि। बैठि जुलाहिन पालथि मारि॥

इस प्रकार के गीतो से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि कबीर ने जुलाहे का जीवन निकट से देखा था, आगामी शताब्दी में इन गीतो से भारतीय बुनकरो से सुन्दर चित्र लिये जाया करेंगे, वस्तुत अनभिजात समाज का जितना सुन्दर चित्र कबीर में मिलता है उतना हिन्दी के किसी और कवि में नहीं। इन गीतो का कोई अर्थ है या नहीं, और जो है वह कितनी खीचतान से आया है—यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है। जुलाहे के बाद कबीर का दूसरा दृश्य 'रहँटा' है, काल भी एक 'चक्र' है, और दैनिक जीवन भी एक चरखा है—वही पुरानी चीजो का फिर से आना-जाना, इसलिए रहँटा का चित्र देखकर कबीर 'रहँटा न होय मुक्तिकर दाता' लिखकर पाठक को कुछ सोचने की सामग्री देते हे। 'ओढन मेरा राम-नाम मै रामहि का बनजारा हो', 'खसम बिनु तेली के बैल भयो', 'अब हम जाना हो हरि-बाजी को खेल', 'अरे मन समझ के लादु लदनियाँ', साधो यह तन ठाठ तँबूरे का, 'गगन घटा घहरानी, साधो गगन घटा घहरानी', 'मोरी चुनरी में पड गयो दाग पिया', 'नैहर में दाग लगाय आई चुनरी', 'कौन रँगरेजवा रँगे मोर चुनरी' आदि गीतो में भिन्न-भिन्न पेशो के सुन्दर सुन्दर चित्र है। इनमें रूपक अलकार नहीं है, परन्तु मुद्रा रूपक जैसा एक काव्येतर सौन्दर्य अवश्य है, अलकार भाव के अतिशय तथा स्पष्टीकरण के निमित्त प्रयुक्त होता है परन्तु यह सौन्दर्य, वातावरण तथा विस्मय का ही सहायक है। इन व्यवसायो के अतिरिक्त घरेलू जीवन, विशेषत दाम्पत्य जीवन, की सामग्री से भी कुछ साम्प्रदायिक भावनाओ को सातिरेक बनाने का प्रयत्न है। दाम्पत्य जीवन का एक चित्र देखिए—

माई मोर मनुस अति सुजान, धधा कुटि कुटि करै बिहान।
उठि बडे भोर आँगन बुहार, ले बडो खाँच गोबरहि डार।
बासी भात मनुस ले खाय, बड धैला लै पानी जाय।
अपने सैयाँ बाँधौ पाट, लै रे बेचौं हाटै हाट।

यह प्रौढावस्था के जुलाहे दम्पत्ति का चित्र है। अब सौभाग्य-रात्रि को सखी-प्रेरित सकोचशीला नवोढा के मन का द्वन्द्व देखिए —

पिया-मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढि जाय, मने लज्जा भरी॥

पांव नहीं ठहराय, चढ़ूँ गिर-गिर परूँ।
फिर-फिर चढ़हुँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥
अंग-अंग थहराय तो बहुविधि डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरितो भ्रम में परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइहै॥

अस्तु, ये मुद्रा-रूपक काव्य की दृष्टि से अधिक सुन्दर न भी हों, परन्तु समाज का मनोहर चित्र उपस्थित करने में सफल हैं और कबीर के वातावरण का एक निश्चित परिचय भी इनसे मिलता है।

मुद्रा-रूपक और उलटबाँसी के बीच का एक सौन्दर्य और भी है जिसको अति-शयोक्ति की सामग्री से निर्मित कह सकते हैं, मुद्रा-रूपक में वर्ण्य तथा अवर्ण्य दोनों साथ-साथ रहते हैं, परन्तु प्रस्तुत सौन्दर्य में अवर्ण्य का अस्तित्व तो प्रत्यक्ष है, वर्ण्य को व्यंग्य समझा जाता है। इस सौन्दर्य की सामग्री भी कबीर के उसी समाज से आकर पाठक को उनके विषय की उपर्युक्त धारणा के लिए ही वाध्य करती है। सबसे अधिक चित्र विवाह के हैं। कहीं स्वामी के संग श्वसुरालय आते-आते चौके[1] पर ही विधवा होने-वाली नायिका है, कहीं नगर की कोतवाली से परेशानी है, तो एक नायिका अपनी ननद को दोष दे रही है कि तू मेरे पति के साथ सौभाग्यवती बन गई, परन्तु उसे सन्तोष इसी बात का है कि वह स्वयं भी तो अपने पिता की एक पत्नी है —

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निदले संसारा गे।
आवत देखि एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे।
मोरे बाप के दुइ मेहररुआ, मैं औ मोर जेठानी गे।
जब हम अहलीं रसिक के जग में तबहिं बात जग जानी गे।

अवैध योनि-सम्बन्ध की यह अप्रस्तुत सामग्री कबीर में बहुत उपलब्ध होती है, कहा जाता है कि यह परम्परा का प्रभाव है, जिसमें 'गोमांस[2]', 'अमर-वारुणी', 'बाल-रंडा' के साथ 'बलात्कार'[3] तथा माता, बहिन, पुत्री, भागिनेयिका आदि के साथ भोग[4] की बार-बार चर्चा आई है और इन प्रसंगों के बड़े ज्ञान-ध्यान[5] के अर्थ किये गये हैं। यदि यह सत्य भी हो कि कबीर तथा उनके गुरुओं का इन अश्लील बातों में कोई गहरा

---

१ साँई के संग सासुर आई।
× × ×
अधं दै लै चलो सुवासिनि, चौके राँड़ भई संग साँई।

२. गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमर-वारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः॥ (हठयोग प्रदीपिका)

३ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥ (वही)

४ जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥ (प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि)

५. दे० डॉ० ह० प्र० द्विवेदी : कबीर, पृ० ४६ तथा ८० से ८४ तक।

अभिप्राय है तो भी इस विषय में मतभेद का कोई कारण नहीं कि अप्रस्तुत रूप में आगत इस सामग्री से कबीर आदि के समाज तथा वातावरण का वास्तविक चित्र उपलब्ध होता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिष्य बटोरने के लिए ये लोग किस सीमा तक झुक सकते थे। अस्तु, इन अटपटी बातों का मुख्य स्वर यही वामाचारी अवैध योनि-सम्बन्ध है, 'पुत्र बियाहल माता', 'बिटिया ब्याहल बाप', 'मातृ धरं पुत्र', 'मादरिया गृह बेटी जाई', आदि प्रशस्तियों से कबीर का मन अघाता ही नहीं।

इसी प्रसग में वे उलटवाँसियाँ हैं जिनका अटपटापन शिष्यों को चमत्कृत कर देता था और "अवधू सो जोगी गुर मेरा, जो यहि पद का करै निबेरा" कहनेवाले कबीर की सभा में धाक जम जाती थी। इस सौन्दय के लिए पशु-पक्षी तथा वनस्पति ही अधिक बुलाये गये हैं, और प्राकृतिक वस्तुओं में अप्राकृतिक व्यापारों का गहरा वर्णन है। कहीं 'मूस बिलाई एक सग' है, कहीं 'हस्ती सिंघहि खाय', कहीं 'बाँझ के कोख पुत्र औतरिया' कहीं 'तरवर एक मूल बिन ठाढा' है, चींटी के पद में हस्ती बँधा है, बिल्ली श्वान से बिवाही गई है, सिंह सियार से डरता है—यह 'अद्भुत ज्ञान' इतना अधिक है कि बकरी और बाघ में विवाह होते देखकर मक्खी बरात में जाने के लिए सिर मुंडा रही है। कवि के शब्दों से ही हमको सहमत होना पड़ता है कि 'देखि देखि जिय अचरज होय, यह पद बूझे बिरला कोय।' इन सकेतो में कितना सार है और इनको साहित्य में कौनसा स्थान मिलना चाहिए, यह विवादास्पद नहीं, साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही इन अटपटी बातों का कुछ मूल्य हो, आश्चर्य-भावना को जगाने मात्र के लिए प्रयुक्त होकर साहित्य में इनको आदर नहीं मिल सकता।

जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है इन उलटवाँसियों में दो प्रकार का अटपटापन है—प्रकृति विरोध तथा विधि-विरोध, प्रकृति विरोध से हमारा अभिप्राय पशु-पक्षी तथा वनस्पति में उन व्यापारों के दर्शन से है जो उनके स्वभाव के प्रतिकूल है, जैसे बन्ध्या के पुत्र-जन्म, समुद्र में आग लगना, कुत्ते-बिल्ली का विवाह आदि, हमारा अनुमान है कि जो दृष्टान्त ब्राह्मण-शासन में असभव प्रमाण के लिए प्रयुक्त होते रहे होंगे उन्हीं को सभव दिखाने की कला, परम्परा से प्रभावित होकर, कबीर में आई है—श्रोता को आश्चर्य-मग्न करने मात्र के लिए। विधि-विरोध से यहाँ अवैध योनि-सम्बन्ध मात्र समझना चाहिए, इसका एकमात्र आधार नारी है, जो इतनी उच्छृङ्खल बन गई है कि योनि-सम्बन्ध में वह कुतिया या भैंस के समान ही स्वतन्त्र है, विवाह से पूर्व ही अनेक पुरुषों से उसका यह सम्बन्ध प्रारम्भ होता है—भाई तथा पिता आदि भी उसके लपेट से नहीं बच पाते। यह आश्चर्य की ही बात है कि कबीर ने गोमास, वारुणी आदि को, अटपटे अर्थ के लिए ही सही, नहीं लिया—पच मकार में से केवल मैथुन ही अप्रस्तुत बनकर आया है। कारण कदाचित् यह हो कि मास-मदिरा आदि का यदि अप्रस्तुत सकेत भी रहता तो कबीर का पथ बदनाम हो जाता, क्योंकि उस समय जनता इन मकारों का सकेतार्थ ग्रहण न करके प्रचलितार्थ ही लिया करती थी, और वामाचार के विरोध में सदाचार की दुन्दुभी उस युग का एक उच्च स्वर था, स्त्री और पुरुष के विभिन्न सम्बन्ध कबीर के शिष्य समाज में उस समय हेय न समझे जाते थे,

रीति-सम्बन्ध पर जो नियन्त्रण अभिजात वर्ग में है वह इतर वर्ग में आज भी दिखाई नहीं देता।

अस्तु कबीर की उलटबाँसियाँ अब पहेली भी बन गई हैं, अमीर खुसरो की पहेलियों के समान ही कठिन परन्तु उतनी रोचक नहीं—

चली जात देखी एक नारी। तर गागरि ऊपर पनिहारी॥
चली जात वह बाटहि बाटा। सोवनहार के ऊपर खाटा॥
जाड़न मरै सपेदी सौरी। खसम न चीन्हे धरनि भो बौरी॥
साँझ सकार दिया लै बारै। खसम छाँडि, सँवरै लगवारै॥
वाही के रस निसुदिन राची। पिय से बात कहै नहिं साँची॥

और उनका शास्त्र वही प्रबंध सम्बन्ध ज्ञात होता है। कबीर के गीतों की यह विशेषता है कि वे जनता को चमत्कृत तथा आकृष्ट करने के लिए शुद्ध साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से रचे गये हैं, नीति तथा उपदेश उनमें अपवाद रूप से ही मिलेंगे।

अन्य निर्गुणी कवि

कबीर के अनन्तर हिन्दी में जो दूसरे निर्गुणी कवि दिखलाई पड़ते हैं वे कबीर से कम प्रतिभाशाली थे इसलिए उन्होंने कबीर के अनुकरण का ही कुछ प्रयत्न किया है, नानक, दादू, सहजो, धरनी आदि कबीर के उपजीवी ही हैं। इन कवियों की दो विशेषताएँ हैं। प्रथम, वे गीतों से ही अपने शिष्यों को समझाया करते थे, द्वितीय इनमें साहित्य के वे पेच नहीं हैं जिनसे कबीर की धाक जमी थी। इनके गीतों का सामान्य स्तर एक उदाहरण से जाना जा सकता है —

जीवन है दिन चार, भजन करि लीजिए।
तन मन धन सब वार सन्त पर दीजिए।
सन्तहि तें सब होइ जो चाहै सो करै।
अरे हाँ, पलटू सग लगे भगवान् सन्त से वे डरै॥

इन कवियों के अधिकतर विचार और भाव कबीर से ही आये हैं :—

(१) दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाइ।
घर की चकरी कोइ न पूजै, जेहि का पीसा खाइ॥ (कबीर)
साधो दुनिया बावरी, पत्थर पूजन जाइ।
मलूक पूजै आतमा कछु माँगै, कछु खाइ॥ (मलूकदास)

(२) साकत बामन ना भला, बैस्नो भला चंडाल।
अंकमाल दै भेंटियै, मानो मिले गोपाल॥ (कबीर)
धरनी पार उतारि हैं, धरनी कियो पुकार।
साकत बामन ना भला, भक्ता भला चमार॥ (धरनी)

(३) पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जात।
देखत ही छिपि जायँगे, ज्यों तारा परभात॥ (कबीर)
जगत तरैया भोर की, सहजो ठहरत नाहिं।
जैसे मोती ओस को, पानी अंजुल माहिं॥ (सहजोबाई)

(४) गुरु धोबी, सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार॥ (कबीर)
सतगुरु धोबी जो मिलै, दिल दाग छुड़ावै। (दादू)

(५) कौन रँगरेजवा रँगै मोर चुँदरी।
पाँच तत्त कै बनो चुँदरिया चुँवरी पहरि के लगै बडी सुंदरी। (कबीर)
साहेब मोरे दीन्हीं चोलिया नई।
तीन पाँच मोरि चोलिया कै घुडो, लागी कुमति सुमतिया की पाती।
(धरमदास)

(६) एकै हाड त्वचा मल मूत्रा, रुधिर गुदा एक मुद्रा।
एक बिन्दु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूद्रा॥ (कबीर)
एकै बाम्हन एकै सूद्र। एकै हाड चाम तन गूद॥ (गरीबदास)

इस प्रकार के प्रसगो की कोई इति नहीं हो सकती, क्योंकि निर्गुणियों में दूसरे से सुनकर स्वय वह सुनाने की कला विशिष्टता को प्राप्त हुई थी।

लम्बे-लम्बे रूपको की छटा भक्तिकाल की एक मुख्य प्रवृत्ति है, सगुण कवियो के समान कबीर के रूपक तो किसी साम्य पर आधारित है, परन्तु पलटू आदि के रूपको को देखकर हँसी आती है, सौन्दर्य का तो प्रश्न ही नहीं कोरी दिमागी कसरत ही दिखाई पडती है, पलटू अपने एक रूपक में रामायण की कथा की सहायता से यह बतला रहे हैं कि साधक किन-किन गुणो के द्वारा अपना आचरण अच्छा बनाता हुआ दशम द्वार पर ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है —

सील का अवध, सनेह का जनकपुर,
सत्त की जानकी ब्याह कीता।
मनहि दुल्हा बने आपु रघुनाथ जी,
ज्ञान के मौर सिर बाँधि लीता।
प्रेम बरात जब चलि है उमगि कै,
छिमा बिछाइ जनवास दीता।
भूप हकार के मान को मदि कै,
धीरता धनुष को जाय जीता।
सुरति और सबद मिलि पाँच भावरी फिरै,
माग सिन्दूर दिया राग बीता।
सन्तोष दे दायजो, सत्त पुण्याजली,
जनक जी बुद्धि विनवन्त कीता।
बिहा है बिदा यह दिहा असीस है,
लोभ और मोह से रहो रीता।
दसएँ महल पर अवधपुर कोहबरे,
दास पलटू सूनै राम सीता॥

इस रूपक में मुद्रा का चमत्कार अवश्य है परन्तु साहित्यिक औचित्य का ध्यान नहीं

रखा गया; 'सत्त' को 'जानकी' तथा 'बुद्धि' को 'जनक जी' कहने में भारी लिंग-दोष है; धीरता' को 'धनुष', 'छिमा' को 'जनवास', तथा 'सन्तोष' को 'दायजो' कहने का कोई सादृश्य या आधार नहीं है, 'स्नेह का जनकपुर', 'जनक जी बुद्धि' तथा 'सत्त की जानकी' कहने का अभिप्राय यह होगा कि स्नेह पर बुद्धि का शासन है और स्नेह से सत्य की उत्पत्ति होती है, परन्तु ये दोनों ही निष्कर्ष गलत हैं। यह सौन्दर्य शिष्यों को चमत्कृत भले ही कर सके भावक की दृष्टि से भी निर्दोष नहीं।

निर्गुणी सन्तों में दैनिक जीवन की ही सामग्री प्रायः उपलब्ध होती है; कबीर तक में शासन की शब्दावली से रूपक बनाने की रुचि नहीं, फिर भी इस 'अप्रतीत्व' दोष की कुछ सामग्री मिल जाती है—

संत-दरबार, सहसील-सन्तोष की,
कचहरी ज्ञान, हरिनाम-डंका।
रिद्धि और सिद्धि दोउ हाथ बांध खड़ी,
बिवेक ने मारिके दिहा धक्का।
मुक्ति सिर खोलि कै करै फरियाद को,
दिहा दुत्कार यह अदल बंका।
मारि माया कहे अमल ऐसा किहा,
दास पलटू कहै हरीफ धक्का॥

आध्यात्मिक रहस्यों के स्पष्टीकरण के लिए ये रूपक कहाँ तक सफल हैं, यह कहना आसान नहीं। कठोपनिषद् में 'रथ-रूपक' द्वारा शरीर-रहस्य की व्याख्या की गई है—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

यूनानी दार्शनिक भी 'रथ-रूपक' की सहायता से अपने विचार स्पष्ट किया करते थे, प्लेटो का 'रथ-रूपक' प्रसिद्ध ही है।

कबीरेतर निर्गुणियों से साहित्यिकता की अधिक आशा भी नहीं की जा सकती, उनमें न वाणी का माधुर्य है और न राग और तुक का ही ध्यान है, है केवल भाव या सच्चा प्रेम, जिसके सहारे ही वे प्रिय को रिझाने का विश्वास रखते हैं—

कहाँ से लाऊँ मधुरा बानी,
रीझे ऐसो लोक बिरानो।
गिरधरलाल भाव का भूका,
राग कला ना जानत तुका॥

: ५ :

कृष्ण काव्य

तामिल सन्तों द्वारा प्रादुर्भूत भक्ति-तरंगिणी जब रामानुजाचार्य की छाप से पवित्र घोषित हो गई तो आगे चलकर अद्वैतवाद में ग्रत्याधान करने वाले सभी आचार्यों द्वारा इसकी स्वीकृति अनिवार्य थी। निम्बार्क तथा कृष्णस्वामी ने इस धारा को राधा-कृष्ण के गौरव से विभूषित किया। दक्षिण से इसका प्रवेश उत्तर में भी हुआ और देववाणी के साथ साथ लोकभाषा को इसने पुन मण्डित किया। हिन्दी में, अद्यावधि अनुसन्धान के आधार पर, कृष्ण काव्य के प्रथम रचयिता भक्त सूरदास हैं, परन्तु उनके काव्य में इतनी प्रौढता है कि उसको प्रथम रचना स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुत कृष्ण काव्य की तरंग ने सर्वप्रथम पूर्वी लोक-भाषाओं को आर्द्र बनाया था, सूर से पूर्व मैथिली में विद्यापति और बंगाली में चण्डीदास शिरोमणि कवि हो चुके थे, इनसे भी पूर्व जयदेव कवि देववाणी के माध्यम से राधा कृष्ण की सरस लीलाओं का रसास्वादन करा चुके थे। अत कृष्ण लीला के सरस प्रचार का श्रेय पूर्व देश को है। परन्तु कृष्ण लीला का क्षेत्र ब्रज है अत लीला कवि ब्रज में प्राय आया करते थे और तद्देशीय संस्कृति को अनुकरणीय समझा करते थे, फलत उनकी प्रादेशिक कविता में भी 'ब्रज' की अमिट छाप है—भाषा तथा संस्कृति दोनों की दृष्टि से। वंग देश में 'ब्रज बोली' का जो नवीन साहित्य अनुसन्धान के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है उसे हिन्दी कृष्ण काव्य से विच्छिन्न न मानकर सूरकाव्य की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकार करना चाहिए। उत्तर भारत के समस्त कृष्ण काव्य पर ब्रज की भाषा तथा संस्कृति की स्पष्ट छाप है, कोई आश्चर्य नहीं कि दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी तथैव प्रवृत्ति दृगत हो।

निर्गुणी माया-काव्य के प्रतिकूल सगुण साहित्य लीला-काव्य है अत इसमें नैराश्य तथा निरसन के स्थान पर आशा-उत्साह तथा स्वीकृति का साम्राज्य लक्षित होता है। कृष्ण काव्य ने तो जीवन की सामान्य-से-सामान्य घटना को नारायण की लीला समझकर उसका सोल्लास गान किया है। कृष्ण काव्य जिन परिस्थितियो में विकसित हुआ वे विस्तार के अनुकूल न थीं अत उसमें वस्तु और दृष्टिकोण दोनो की सकीर्णता आती गई—यदि कवि घर से बाहर जाता है तो केवल सुखभोग के लिए ही विषमता का सामना करने के लिए नहीं—फिर भी उसमें इतना उल्लास है कि पाठक एकरसता का अनुभव नहीं करता। प्रस्तुत की सीमा तथा अप्रस्तुत के वैविध्य ने ही कृष्णकाव्य को मुक्तक, मधुर तथा हृद्य बना दिया है। सौन्दर्य-विधान के लिए कृष्ण-काव्यकार प्रत्यक्ष तथा शास्त्र दोनों का आश्रय ग्रहण करते है और अपेक्षाकृत शास्त्र अथवा परम्परा में निहित सौन्दर्य इस क्षेत्र में अधिक कृतकार्य हुआ है। परन्तु कृष्ण काव्य का सौन्दर्य अप्रस्तुत योजना तक ही सीमित नहीं, संगीत की सान्द्रध्वनि तथा उक्तियों के निरभ्र चमत्कार उसको मनोरम अत बहुश्रव्य बनाते हैं। यदि कृष्ण काव्य

के रचयिता लीला में इतने तन्मय न रहते तो उनकी कृति इतनी हृद्य तथा संवेद्य न बन पाती।

जयदेव

जयदेव कवि का 'गीतगोविन्द' अभिधेय 'प्रबन्ध' संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है, परन्तु इस काव्य में संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमों का आग्रह नहीं है। द्वादश सर्गों के इस 'उज्ज्वल गीत' में रचना का मुख्य कलेवर संस्कृत वृत्तों के स्थान पर राग-ताल-समन्वित लोकगीतों का है। कवि का उद्देश्य है यमुनाकूल पर राधा-माधव की रह-केलियों का वर्णन, आगे चलकर 'वासुदेव-रति केलि-कथा' कहकर यह स्पष्ट कर दिया है कि 'रहःकेलि' का अभिप्राय 'विलास-कला' ही है। दशावतार वन्दना में जयदेव ने 'हल कलयते' द्वारा बलरामावतार के गीत गाये हैं कृष्णावतार के नहीं। अनुमान से ज्ञान होता है कि उस युग में 'आभीर-वामभ्रुवाओं' के सम्मुख ही प्रेमान्धा राधा का निर्भर आलिंगन करनेवाले, 'अनेक नारी परिरम्भण' लालची हरि की कामीजनोचित क्रीडाओं के 'केलि-रहस्य' की व्याख्या का प्रयत्न ही हो रहा था, इनको 'अद्भुत' बताकर इनके मंगलपरक अर्थ किये जाते थे, भक्ति-भाव का प्रवाह कुछ पीछे आया और लोककृष्ण तथा धर्मकृष्ण का समन्वय शनैः शनैः ही पूरा हो सका। जयदेव ने 'दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः' लिखकर कृष्ण को 'जगदीश' माना है, परन्तु कृष्ण को स्पष्टतः कृष्ण वे उस समय न कह सके। उनके हरि 'मुग्ध' हैं, वे चुम्बन से लेकर 'शिथिलीकृत जघनदुकूल' तक की क्रियाओं में 'साधारण प्रणय' का निर्वाह करते हुए 'अनङ्गशरणशरणखिन्नमानस' होकर 'संसार-वासना-बद्ध शृङ्खला' राधा को हृदय पर धारण करते रहते हैं, 'गोपी-पीन पयोधर-मर्दन चञ्चल-करयुगशाली' विरह-विह्वल होकर धरिणी पर लोटते हुए वनमाली कामदेव के साथ प्रलाप-विस्मृत हैं। समस्त काव्य में 'वासकसज्जा', 'कलहान्तरिता', 'अभिसारिका', 'मुग्धा', रतिप्रौढा, 'क्रीडावती' आदि नायिकाओं के भेद एवं संयोग के नग्न तथा वियोग के आक्रन्द चित्र देखकर इस काव्य को शृंगार का लोककाव्य कहने की ही इच्छा होती है। 'गीतगोविन्द' का मुख्य आकर्षण है 'मधुर कोमलकान्त पदावली' एवं राग-ताल-समन्वित गीत, इन विशेषताओं ने इसकी 'मनसिजप्रेङ्खत् कटाक्षानल ज्वाला' को भी कुछ सह्य बना दिया है। वर्णन रति-केलि तथा उसकी आधार एवं सहायक सामग्री का ही है, अतः नायिका के अंगों का कल्पनापूर्वक मण्डन यहाँ उपलब्ध है, 'रतिविपरीत' में नायक के हृदय पर नायिका ऐसी लगती है जैसे घन पर चपला[1], राधा के अनुकूल[2]-वचन अमृत हैं क्योंकि वे वदनसुधानिधि से निकले हैं, नायक एक ही साथ नायिका के पयोधररोधक[3] दुकूल और उसके विरह को दूर कर देता है। कवि का निष्कर्ष है 'कामस्य वामा गतिः', और यह

---

१. उरसि मुरारेरुपहितहारे घन इव तरलबलाके।
तडिदिव पीते रतिविपरीते राजसि सुकृतविपाके॥

२ वदन-सुधानिधि गलितममृतमिव रचय वचनमनुकूलम्॥

३ विरहमिवापनयामि पयोधर-रोधक-मुरसि दुकूलम्॥

कि रात्रि के अन्धकार में रतिविमुग्ध दम्पति' को अपूर्व रस की उपलब्धि होती है। अतएव उसने दम्पति-रस के ही गीत गाये हैं भले ही वे 'रहस्यमय' हो, क्योंकि यह हरि की केलि-क्रीड़ा है, शृगार द्वारा भक्ति का यह प्रयत्न वस्तुत 'रहस्यमय' ही है। इस प्रकार जयदेव कवि के प्रयत्न से 'मूर्तिमान् शृङ्गार' अर्थात् हरि की 'रह केलि' अन्ततोगत्वा 'केलि-रहस्य' में परिणत हो गई।

विद्यापति

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने जयदेव कवि से आगे एक कदम रखा और लोक-रस के गीतो की रचना लोक-भाषा में ही की। उनकी पदावली जयदेव के समान मधुर और कोमल-कान्त है अथवा नही, यह एकपद एव नही कहा जा सकता परन्तु यह निश्चय है कि उसका प्रचार अनुकार्य से अधिक है और इस प्रचाराधिक्य का रहस्य 'भाषा' है, कवि इस रहस्य से अपरिचित न था, 'कीर्तिलता' में उसने अपनी भाषा पर सोल्लास गर्व प्रकट किया है—बालचन्द बिज्जावई-भाषा। दुहु नहि लग्गई दुज्जन-हासा॥ जयदेव की सरस्वती राधा-माधव की 'रह केलि' तक ही सीमित रही, उसमें 'सहचरी' का स्थान है और 'मुग्धवधूनिकर' की भी चर्चा मात्र आ गई है। वस्तुत 'गीतगोविन्द' में अलौकिक लोकरस है अर्थात् लोकरस का वर्णन तो है परन्तु उसकी भौतिक परिस्थितियाँ किसी काल्पनिक जगत् की है—मानस के निभृत निकुञ्ज में रूप और वासना के चिरविलास से ही नित्यवृन्दावन की कल्पना हुई है। इसके विपरीत विद्यापति में पार्थिवता का समावेश होता गया है, 'रतिलम्पट कान्ह' और 'अपूर्व बाला' के 'सुरति-विहार', 'केलि-कलावती' के अभिसार, 'गुप्त स्नेह', तथा 'प्रेम के मन्द परिणाम' के द्रावक गीत हैं। कुछ पद तत्कालीन मैथिल समाज की कुदशा के चित्र उपस्थित करते हैं, 'कुल-गुन-गौरव' तथा 'यश-अपयश' की तृण के समान अवहेलना करने वाले नायक नायिका यहाँ राधा-माधव का स्वाँग करते हैं, यमुना-तट, वृन्दावन, वशी-ध्वनि, नवल रास आदि का वर्णन अधिक नही, इनके स्थान पर वय सन्धि, सद्य स्नाता, नखशिख, आदि की बहुश चर्चा है। उनका नायक वस्तुत 'रसिया' है, वह चोरी-चोरी नायिका के पलँग पर पहुँच गया परन्तु उसकी आशा[2] पूरी न हो सकी क्योंकि वधू के पास सोने वाली सास जग गई थी, कभी वह 'देवदेयासिन'[3] का वेष बनाकर जटिला सास को ठग लाया, कभी नवीना विदेशिनी[4] बनकर राधा के द्वार पर पुकारने लगा। अनमेल विवाह का आभास अनेक पदो में मिलता है, कोई आश्चर्य नही कि परकीया-प्रेम या

१ दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रस ॥

२ जागल सास चलल तब कान।
न पूरल आस विद्यापति भान ॥

३. गोकुल देवदेयासिनि आओल, नगरहि ऐसे पुकारि।
अदन वसन पंन्हि, जटिल बस धरि, कान्ह द्वार माझ ठार॥

४. राइक निश्ट बजाओल सुन्दरि, सुनइत भइ गेल साधा।
ए नव-यौवनि नबिन विदेसिनि, आओ पुकारइ राधा॥

अधिकांश उत्तरदायित्व अनमेल विवाह पर ही हो, 'मलयपवन' की नायिका और 'तरुण-कान्ह' की केलि का तो सोल्लास अंकन है, परन्तु शिशुतम को गोद में लेकर बाज़ार जाने वाली नायिका से जब हाट के लोग पूछते हैं कि यह तुम्हारा देवर है या छोटा भाई, और नायिका 'पुरुब लिखल छल बालमु हमार' कहती हुई ठंडी साँसें लेने लगती है, तो पाठक उल्लसित नहीं होता, सहानुभूतिवश वह 'धीरज धरहु त मिलत मुरारि' कह कर उसको पर-पुरुष से मिलने का आश्वासन देने लगता है। अस्तु सामयिक परिस्थितियों ने विद्यापति के काव्य में जीवन के विविध चित्र बना दिये हैं, फलतः उनके पद जयदेव के गीतों के समान शुद्ध या देशकालातीत नहीं रह सके और तद्‌गत वासना अखण्ड रूप में प्राह्य नहीं बन पाई।

लोक-जीवन के समन्वय से इन पदों में अनेक उत्तेजक चित्र तथा मार्मिक स्थल समाविष्ट हो गये हैं। जयदेव ने 'रह केलि' का चित्रण किया है, यह ऊपर कहा जा चुका है, उनका पाठक नायक-नायिका को 'निभृत-निकुञ्ज-गृह' में ही चुम्बन, नृत्य, विलास, परिरम्भण या सम्भोग में तत्पर देखता है। उनमें जीवन की विविधता नहीं है, अत अभिव्यक्ति उल्लास या खेद से उत्पन्न केवल उन भावों की है जो 'मदनमनोरथ' या 'कन्दर्पज्वरजनित' हैं। परन्तु विद्यापति में पश्चात्ताप भी है तथा नीति भी, यदि यह नीति प्रेम की भावना से असम्पृक्त न मानी जाय तो भी इसमें मनोदशा की चित्रता तो अंगीकार करनी ही पड़ेगी—

१. समय न बूझय अचतुर चोर।
२ ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि वर नारि।
आसा लुबुधल न तेजए रे, कृपनक पाछु भिखारि॥
३. कुलवति धरम काँच समतूल।
४ भल मन्द जानि करिअ परिनाम।
जस अपजस दुइ रहत ए ठाम॥
५ हठ तज माधव जाएबा देह।
राखए चाहिए गुपुत सनेह॥
भमर कुसुम रति न रह अगोरि।
कैओ नहि येकत करए निअ चोरि॥
६ जनिक एहन धनि काम-कला सनि
से किअ कर व्यभिचार॥
७. अधिक चोरी पर सयँ करिअ
एहे सिनेह क सोन॥
८ पर-नारी पिरित क ऐसन रीति।
चलत निभृलभय, न मानय भीति॥
९. काम प्रेम दुहु, एकमत भए रहु,
कखने की न करावे॥

१०. एहि संसार सार वथु एक।
तिला एक सगम, जाव जिव नेह ॥

विद्यापति में पश्चात्ताप दो प्रकार का है—कवि का तथा पात्र का। कवि ने —

(क) तातल सैकत बारि-बिन्दु सम,
सुत-मित-रमनि-समाज।
तोहे विसारि मन ताहे समरपिनु,
अब मझु हब कोन काज ॥
माधव, हम परिनाम निरासा ॥

(ख) जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु,
जुबती मति मयें मेलि।
अमृत तजि हलाहल किए पीतल,
सम्पद अपदहि भेलि।।

आदि पदों द्वारा अपनी शृंगारपरक जीवन-चर्या पर अन्त में खेद प्रकट किया है जो इस बात का सूचक है कि उसकी पदावली में भक्ति-लेश नहीं प्रत्युत शृंगार-प्रवाह ही है। कुछ पद नायिका के मुख से निकले हैं, दूती के बहकाने में आकर[1] निज सर्वस्व लुटा देने के उपरान्त—जब कुलटा सहचरी के फुसलाने पर मुग्धा नायिका ने किसी पिशुन[2] के हाथ अपना कुल स्त्री धर्म बेच दिया प्रेमाभिधेय काम के बदले। इन गीतों में मौन रोदन है, पश्चात्ताप है प्रायश्चित्त मात्र नहीं, क्योंकि कर्म-प्रधान हिन्दू संस्कृति में प्रायश्चित्त-मात्र से ही पूर्वकृत का शमन नहीं हो सकता उसका दारुण फल भोगना ही पड़ता है—विशेषतः कुलकामिनी तो पहली ही भूल में कुलटा[3] बन जाती है और तब न तो वह किसी को दोष दे सकती है और न किसी को अपना मुख ही दिखा सकती है। समस्त पदावली का पार्थिव सार केवल एक पद में ही संकलित मिल जाता है—

कबहु रसिक सयें दरसन होए जनु
दरसन होए, जनु नेह।
नेह बिछोह जनु काहुक उपजए,
बिछोह धरए जनु देह ॥

---

१ तोहर वचन सखि, कएल आँखि देखि,
अमिअ-भरम विष-पाने।

२ मधु सम वचन, कुलिस सम मानस,
प्रथमहि जनि न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल,
गरुअ गरब दुर गेला।
सखि हे मन्द प्रेम-परिनामा ॥

३ कुल कामिनी छलौं, कुलटा भए गेलौं, तिनकर वचन लोभाई।
अपने कर हम मूँड मुड़ाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई ॥

सजनी दुर कए ओ परसाए।
पहिलहि उपजइत प्रेमक अकुर
दारुन विधि देल भंग ।।
दैवक दोष प्रेम जदि उपजए
रसिक सयँ जनु होय।
कान्ह से गुपुत नेह करि अब एक
सबहु सिसाग्रोल मोय ।।

गुप्त स्नेह का यह पश्चाताप विप्रलम्भ श्रृंगार कहकर नहीं टाला जा सकता, इसमें संचारी निर्वेद ही नहीं है प्रत्युत सामयिक समाज का एक अशोभन दृश्य भी दिखाई पड़ता है।

श्रृंगार के संभोग पक्ष में विद्यापति का मन अधिक रमता है, मिलन और मिलन से पूर्व की साधन-सामग्री जितनी आकर्षक है उतना विरह या पश्चात्ताप नहीं। मिलन या संभोग के चित्र जयदेव के 'गीतगोविन्दम्', लीलाशुक के 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' तथा रामानन्द के 'श्री जगन्नाथवल्लभ नाटकम्' में भी अपूर्व हैं, 'वल्लभीकुच-कुम्भ-कुङ्कुम-पंकिल' 'मदव्रजवधूवसनापहारी' प्रभु तथा 'प्रतिपद समुदित मनसिज बाधा', 'केलिविपिन' में प्रवेश करती हुई राधा की लीला के मधुर गीत उन सभी कृतियों में उपलब्ध है। परन्तु विद्यापति-पूर्व रचनाओं में राधा और कृष्ण के पारस्परिक परिचय की आवश्यकता नहीं हुई अतः एक-दूसरे को आकृष्ट करने के लिए उनके रूप का वर्णन नहीं किया गया। इसके विपरीत विद्यापति के राधा और कृष्ण तो एक दूसरे को बिलकुल नहीं जानते, कृष्ण परपुरुष हैं और राधा परकीया नारी (भले ही राधा अनूढा हो, क्योंकि परकीया का अर्थ 'परकीय पत्नी' नहीं, प्रत्युत 'अ-स्वकीय' नारी है), उनकी लीलाओं का समस्त श्रेय (सहचरी नहीं) दूती को है, यदि वह न होती तो 'नवरति' की सारी कहानी असम्भव थी। दूती ने कृष्ण से राधा के रूप की भरसक प्रशंसा की, उद्दीप्त करके उसके मन को राधा के प्रति लुब्ध कर दिया, और दूती ने ही राधा के सामने कृष्ण के संभाव्य प्रेम का अत्युक्तिपूर्ण चित्र उपस्थित किया। अतः विद्यापति में उद्दीपन सामग्री का ही प्राचुर्य है, रति-पूर्व, रत्यारम्भ, रति तथा रत्यन्त के चित्रों में से पूर्व-पूर्व के चित्र विद्यापति को पसन्द आये उत्तरोत्तर के नहीं। 'कुरु यदुनन्दन चन्दन-शिशिरतरेण करेण पयोधरे' जैसा रत्यन्त का एक भी गीत विद्यापति ने नहीं लिखा। रत्यारम्भ में मन की साध[1] के विरल चित्र हैं, राधा का कमल-पत्र[2] के समान थर-थर काँपना और वसनापहरण करते ही राधा की साश्रु नहीं-नहीं[3] वस्तुतः रमणीय है,

---

१ सुतइ सेजोपरि नागरि-नागर, बइसल नवरति साधे।
अति अग चुम्बन, रस अनुमोदन, थर-थर काँपय राधे।।

२. जइसे डगमग नलिनिक नीर। तइसे डगमग धनिक सरीर।।

३ नहिं नहिं कहइ नयन भर नोर। सुति रहलि राहि सयनक ओर।।

प्राय तो राधा अपनी लज्जा[१] को दोष देती हुई *अपना मन मारकर रह जाती है।* अभिसार के वर्णन में कवि ने नायिका के साहस का अकन किया है, उसके मन की साध नायक को उद्दीप्त करने के लिए पर्याप्त है, मन के मदन-महोदधि-वेग ने कुल-मर्यादा को डुबा दिया और 'कुल-गुन-गौरव[२] तथा 'सति-जस-अपजस' की तृणवत् अवहेलना करके नवयौवना कोमलांगिनी राधा ने ग्रीष्म के असह्य ताप में अभिसार किया, गुप्त प्रेम की ऐसी ही विचित्र गति है।

रति पूर्व के चित्रो में विद्यापति अद्वितीय है, नायक और नायिका के रूप और यौवन के जितने उद्दीपक चित्र इन्होने प्रस्तुत किये हैं उतने इनके पूर्व या समकालीन किसी कवि ने नही, सस्कृत के कवि विशिष्टलोक के विलासी चित्रण में सिद्धहस्त थे, परन्तु इन पदो में लोक-सामान्य का कामोल्लास दर्शनीय है, यदि सामाजिक पक्ष पर विचार न किया जाय तो लोकरस के ये चित्र कोमल कल्पना तथा मधुर अनुभूति में अपूर्व स्वीकार करने पडेंगे। नायिका के नखशिख का समस्त वर्णन नायक की मन स्थ भावना को उद्दीप्त करने के ही लिए है, और इस कार्य में उसको पर्याप्त सफलता मिली है। उद्दीपन के उद्देश्य से विद्यापति ने नायिका के उन्ही अगो का मुख्यत वर्णन किया जो कामोद्दीपक हैं, उन अगो का सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खीचकर। सकृद्दृष्टि से तो *समस्त नखशिख इन पदो में उपलब्ध है परन्तु ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि यौवन के* मुख्य प्रतीक—काम को अनन्य उद्दीपक—वक्षोज युगल के अपूर्व चित्रो में विद्यापति की लेखनी कृतकार्य हुई है—

(१) एके तनु गोरा, कनक-कटोरा।
(२) कनक-कमल हेरि काहिन लोभ।
(३) कनक-सभु-सम अनुपम सुन्दर।
(४) बेकत कएल सुमेरु।
(५) भसम भरल जनि सकर रे।
(६) नाल कमल दुइ आधा।
(७) बाल पयोधर, गिरिक सहोदर।

---

१ पहिलुक परिचय, प्रेमक सचय, रजनी-आध समाजे।
सकल कला रस सँभरि न भेले, बैरिनि भेलि मोरि लाजे॥

२ तपनक ताप तपत भेलि महितल, तातल बालू दहन समान।
चढ़ल मनोरथ भामिनि चलु पथ, ताप तपत नहिं जान।
प्रेमक गति दुरबार।
नविन जौवनि धनि, चरन कमल जिनि, तइओ कएल अभिसार।
कुल-गुन-गौरव सति-जस-अपजस, तृनकरि न मानए राधे।
मन मथि मदन महोदधि उछल, बूड़ल कुल मरजादे॥

(८) केहरि जनि गज कुम्भ विदार।

(९) से गिर धम्भ पयोधर भार।

(१०) धराधर उलटल।

(११) फल उपहार पयोधर देई।

(१२) कनक-बेलु जनि पडि गेल हीमा।

(१३) कुचभय कमल कोरक जल मुदि रहु,

घट परवेस हुताशे।

दाड़िम सिरिफल गगन बास कह,

सभु गरल कर ग्रासे॥

इन १६ अप्रस्तुतों को निम्नलिखित ५ वर्गों में रखा जा सकता है—

(क) गौरवर्ण के लिए—कनक

(ख) विशालता „ „—गिरि, गजकुम्भ

(ग) उभार „ „—घट

(घ) आकार „ „—श्रीफल, कटोरा, शम्भु

(ङ) कोमलता „ „—कमल

यद्यपि 'बाल-पयोधर, गिरिक सहोदर' में श्रत्युक्ति ही मुख्य है, और 'पहिल बदरि-सम पुन नवरंग' कहकर कवि ने स्वागत से प्रतिष्ठा तक यौवन का चित्रण मात्र किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि नायिका के अंग-प्रत्यंग के वर्णन में उसकी दृष्टि रूप, रंग, आकार तथा स्पर्श सभी गुणों पर है—रस तथा गन्ध का प्रश्न नहीं आता। पयोधर के उभार को यौवन की माप मानकर विद्यापति ने सबसे अधिक रुचि इसी गुण के वर्णन में दिखाई है। अप्रस्तुत के लिए पुराण से जो सामग्री आई है उसमें पाठक का ध्यान 'कनक-सम्भु' पर अवश्य जायगा। ऐसा प्रतीत होता है मानो 'कनक-सम्भु सम अनुपम सुन्दर' तथा 'सभु गरल कर ग्रासे' आदि चरणों द्वारा पयोधर-द्वय को शम्भु से अधिक बताकर इस कवि ने दैवों पर एक चलता हुआ व्यंग्य भी किया है—यहाँ दो-दो शम्भु हैं तुम्हारे शम्भु अधिक सुन्दर (कनक), अधिक सुडौल, सजीव तथा रसप्रद।।

नखशिख में सर्वाधिक वर्णन तो 'पीन पयोधर' का है, रुचि की दृष्टि से दूसरा स्थान 'हरिलहीन हिमधामा' (=मुख) को मिला है क्योंकि विद्यापति रूप के कवि हैं और नारी का रूप उसका 'आनन पुनिम ससी' है और युवती का रूप 'कनक गिरि' को लजानेवाला 'कुच-मंडल'। यदि रूप के साथ-साथ रस में भी कवि का अनुराग होता तो 'सारंग-नयन' बहुधा चित्रण के विषय बनते, परन्तु विद्यापति का शृंगार प्राकृत है बिहारी के समान नागर नहीं, अतः कुच-कुम्भ के चित्रण में वे जितने विशिष्ट हैं उतने ही 'नयन-पंकज' के चित्रण में मन्द। हिन्दी के कवियों में विद्यापति की प्रतिष्ठा 'कुच युगल' के चित्रण के लिए है।

विद्यापति का अप्रस्तुत-विधान बहुत उपयुक्त है, इसमें मन को उद्दीप्त करने

की पूरी योग्यता है; पुरानी सामग्री को नवीन रूप से सजाकर मन लुभाने की कला में विद्यापति दक्ष थे—

(क) यौवन का प्रकाशन नेत्रों की मादकता से होता है। कवियों ने नेत्रों को मधुप बतलाया है और मादक लोचन को मदसिक्त मधुप भी कहा जाता है, विद्यापति ने उस रूप का चित्र ही खींच दिया उनकी मादकता को सक्रिय दिखाकर—

मधुप मातल उड़ए न पारए,
तइग्रग्रो पसारए पाँखि ॥

वे उड़ने के लिए पंख फैलाते हैं परन्तु उड़ नहीं पाते, मादकता से छके हुए।

(ख) नायिका ने विपरीत रति में नायक का मुख चूम लिया। नारी का मुख चन्द्र होता है और पुरुष का सरोज, चन्द्र आकाश में स्थित है अधोमुख, और सरोज पृथ्वी पर निवास करता है ऊर्ध्वमुख, प्रतिदिन ही तो सुधानिधि उल्लसित होकर सरसिज के चुम्बन को लालायित रहता है—उसका अधरामृत पान करने के लिए। एक दिन उसकी आशा पूरी होगई, नायिका ने अपने उपरिस्थ अधोमुख चन्द्रानन से नायक के अधस्थ ऊर्ध्वमुख सरसिज-वदन का चिर चुम्बन किया—

पिय-मुख सुमुखि चूमि तजि ग्रोज।
चाँद ग्रधोमुख पिबए सरोज ॥

रूप और यौवन के वर्णन की समस्त सामग्री पुरानी है, प्राय साहित्यिक परम्परा से सम्प्राप्त, उसमें न तो लौकिक प्रभाव है और न मौलिकता, क्योंकि विद्यापति किसी विशेष परम्परा के कवि हैं, अपना ही मार्ग निकालकर उस पर चलनेवाले नहीं। परन्तु वे पुरानी सामग्री को नवीन ढंग से सजाना जानते हैं, यही कवि की सफलता का रहस्य है। विद्यापति ने एक अंग की समानता एक प्रसिद्ध अप्रस्तुत मे कम बताई है, कई अंगों का संश्लिष्ट चित्र पाठक के मन को मोहने के लिए प्राय उपस्थित किया है। यह उनके सफल वर्णन की एक शैली है —

(क) मुग्धा नायिका ने अंचल से अपने स्तनों को ढक लिया, फिर भी वे अध-खुले रह गये—कामी-जन के मन को कचोटने के लिए। कवि की कल्पना है कि सुमेरु पर्वत पर शारदीय घन-राजि को पवन ने अस्त-व्यस्त कर दिया—

उरहि ग्रंचल झाँपि चचल, ग्राध पयोधर हेरु।
पौन पराभव सरद घन जनि, बेकत कएल सुमेरु ॥

(ख) लज्जावती नायिका ने बाहुलता से अपना चन्द्रानन छिपा लिया, परन्तु उस गोरी-गोरी भुजाओं से न तो उसका मुख छिप ही सका और न उघरा ही रहा—हाँ, लज्जा की लालिमा तथा सहज सौन्दर्य अवश्य दर्शकों को लुभाने लगे—

ग्राध बदन-ससि विहँसि दिखाग्रोलि,
ग्राध पीहलि निग्र बाहू।
किछुएक भाग बलाहक झाँपल,
किछुए गरासल राहू ॥

(ग) मुग्धा नायिका शरीर पर केवल एक वस्त्र धारण किये हुए खड़ी थी।

अकस्मात् उसकी चार आँखें नायक से हो गईं, लज्जा आई और उसके मन को अस्त-व्यस्त करने लगी, कमनीय कलेवर से उसका रेशमी वस्त्र खिसक गया। अब क्या करे, उसकी छाती खुली हुई है, नेत्र मूंदकर झटपट सकोचशीला ने दोनो हथेलियों से अपनी छाती को ढकने का प्रयत्न किया। उस समय ऐसी शोभा हुई जैसे स्वर्ण के शम्भु पर किसी भक्त ने दो कमल और दस चन्द्र, समर्पण में, चढ़ा दिये हों —

अम्बर विघटु अकामिक कामिनि,
कर कुच झाँपु सुछन्दा।
कनक-सभु सम अनुपम सुन्दर,
दुहु पकज, दस चन्दा॥

विद्यापति में इस प्रकार के चित्रों की लड़ी लगी हुई है, इनको उत्प्रेक्षा अलकार कहकर टाला नहीं जा सकता, ये इस कवि की सफलता के रहस्य तथा उसकी कल्पना की रमणीयता एव सम्पन्नता के मापक हैं।

यौवन के प्रति विद्यापति में भोग की लालसा चित्रित है, इसलिए उसका वर्णन उद्दीपक है, परन्तु रूप से कवि के मन में वासना भी जगती है तथा वह प्रभाव-मुग्ध भी हो जाता है। वासना के जगने से उन वर्णनों का आविर्भाव समझना चाहिए जिनमें अगों का सादृश्य दिखाकर उनके दर्शन से मन की व्याकुलता का उल्लेख किया गया है—

(क) तनसुक सुबसन हिरदय लागि।
जे पुरुष देखब तैकर भाग॥
(ख) तिन बान मदन तेजल तिन भुवने
अवधि रहल दओ बाने।
विधि बड़ दारुन बधए रसिकजन,
सोंपल तोहर नयाने॥
(ग) जिनकर एहनि सोहागिनि सजनि गे,
पाओल पदारथ चारि॥
(घ) एहनि सुन्दरि गुनक आगरि पुने पुनमत पाव।
(ङ) हेरितहि हृदय हनए पचबाने।
(च) मेघ माल सयँ तड़ित-लता जनि,
हिरदय सेल दई गेल॥

जो मन युवती-मात्र के आलोक से व्याकुल हो जाता है वह कभी चिरद्विग्न नहीं रह सकता, क्योंकि ससार में रूप की कोई इयत्ता नहीं, अत रूप और यौवन के अकुश में रहने वाला मन सदा प्रजागर से व्याकुल रहेगा। इसीलिए विद्यापति ने, कदाचित् अभ्यास द्वारा मन में सौन्दर्य मुग्ध होने की प्रवृत्ति जगाई और वे नायिका को देखकर उसके प्रति वासना-निर्मुक्त आश्चर्य तथा उल्लास के भाव रखने लगे—

(क) कतेक जतन विहि आनि समारल, देखत नयन सरुपे।
(ख) आज देखल जनि, के पतिआएत, अपुरब विहि निरमान रे।
(ग) कामिनि कोनें गढ़लो।

(घ) ए सखि पेखल एक अपरुप ।
सुनइत मानबि सपन-सरूप ॥

(ङ) सपन कि परतेख, कहिए न पारिए, किए तियरे किए दूर ॥

ऐसे स्थलो पर प्राय वह सौन्दर्य है जिसको रूपकातिशयोक्ति कहते है। परन्तु विद्यापति आलकारिक चमत्कार से ही सन्तुष्ट नही रहे, अप्रस्तुतो के प्रयोग से भी वे एक अपूर्व भाव व्यञ्जना कर सके हैं, 'पल्लवराज चरण जुग सोभित गति गजराज क भाने' का तो पीछे अनुकरण हुआ परन्तु विपरीत रति के 'कुतूहल' पूर्ण निम्नाकित चित्र की सरसता आज तक अतुलनीय बनी हुई है—

तडित-लता तल जलद समारल, आतरि सुरसरि-धारा ।
तरल तिमिर ससि-सूर गरासल, चौदसि खसि पडु तारा ॥
अबर खसल, धराधर उलटल, धरनी डगमग डोलै ।
खरतर बेग समीरन सचरु, चचरिगन कर रोले ॥

मानो एक तूफान आ गया। बिजली (नायिका) के नीचे जलधर (नायक) और बीच में आकाश-गगा (मुक्ताहार), सूर्य (नायक का मुख) और चन्द्र (नायिका का आनन) को अधकार (नायिका के केशपाश) ने ग्रस लिया, चारो दिशाओ से तारे (शृगार के मोती तथा कुसुम) टूट-टूटकर गिरने लगे, अम्बर (वस्त्र) लुप्त हो गया, पर्वत (स्तन-युग्म) उलट गये, पृथ्वी (नायिका के नितम्ब) डगमगाने लगी, वेगवती झझावात (दीर्घ श्वास) चल रही है, और चचरीक-गण (करधनी) कोलाहल कर रहे है।

रूप-वर्णन की विद्यापति ने यही एक शैली नही अपनायी। चमत्कारी कवि यह तो कहा करते है कि उपमान नायिका के आगे से सौन्दर्य में लज्जित हो गये और यदि सभव हो सका तो कही छिप भी गये, परन्तु विद्यापति का रूप मुग्ध नायक स्वयमेव नायिका के प्रति इस प्रकार का प्रलाप करने लगता है तो उसकी भावना में अनुभूति की सचाई कुछ अधिक जान पडती है—

कबरी-भय चामरि गिरि-कन्दर, मुख-भय चाँद अकासे ।
हरिन नयन-भय, सर-भय कोकिल, गति-भय गज बनबासे ।
सुन्दरि, किए मोहि सँभासि न जासि ।
तुअ डर इह सब दूरहि पलायल, तुहुँ पुन काहि डरासि ॥

यद्यपि अप्रस्तुत सामग्री परम्परा-प्राप्त ही है, फिर भी प्रलापानुभूति के कारण उसकी योजना अधिक निखर आई है। इसी प्रकार विरहिणी नायिका का सारा रग फीका पड गया, उसकी कान्ति मन्द है, उसका अग प्रत्यग मुरझाया हुआ है, सखी-मुख से इस विरह का अपूर्व वर्णन सुनिए, विरह में भी उद्दीपन की सज्जा छिपी हुई है—

सरदक ससधर मुखरुचि सोंपलक, हरिनक लोचन-लीला ।
केसपास लए चमरि के सोंपलक, पाए मनोभव-पीला ।
माधव जानत न जीवति राही ।
जतबा जकर लेले छलि सुन्दरि से सब सोंपलक ताही ।

यदि अप्रस्तुतों की मौलिकता पर विचार किया जाय तो विद्यापति की रचना में उनकी अधिकता नहीं है, लोक-जीवन से उन्होंने प्रस्तुत सामग्री ली है अप्रस्तुत नहीं, अप्रस्तुत के लिए तो वे परम्परा के ऋणी हैं—यद्यपि इस सामग्री का उपयोग कवि ने मौलिक शैली पर किया है। लोक-जीवन के कुछ ही अप्रस्तुत देखे जा सकते हैं—

(क) साओन-घन सम झरु दु नयान।
(ख) कुलवति-धरम काँच सम तूल।
(ग) नलिनी दल निर, चित न रहत थिर।
(घ) सुजनक प्रेम हेम सम तूल।
(ङ) जइसे डगमग नलिनिक नीर।
तइसे डगमग धनिक सरीर।।
(च) अमिय-सागर तुहु से राहि।
(छ) चोर-रमनि धनि मन-मत रोअई अबर बदन छिपाई।

विद्यापति की रचना में कुछ चमत्कारी साग रूपक भी है। अनुभूति-प्रवाह में कल्पना का केवल चित्रोपमता के लिए स्थान मिला है, परन्तु संकल्पों की सृष्टि अप्रस्तुत-योजना में अधिक तत्पर रही है। यथा प्रेमोदधि में हिलोरें जानेवाली नायिका अनुभूतिमयी होने के कारण यह समझती है कि अद्यावधि उसने प्रेमरस का आस्वादन ही नहीं किया—

सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए, तिल-तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।
से हो मधुबोल स्रवनहि सूनल, स्रुति-पथ परस न भेल।

ऐसा समझना भूल है कि वह अतृप्ता है, परन्तु यह अनुमान लगाना होगा कि वह प्रेमलीना है, तृप्ति के साथ उसकी अनुभूति का भी विस्तार होता जाता है। इसके विपरीत दूसरी नायिका प्रिय की प्रतीक्षा में कामना करती है कि उसके आगमन पर अपने शरीर से ही वह उसका मंगल-स्वागत करेगी, यहाँ संकल्पों की सघनता ही साग रूपक का कारण बन गई है—

पिआ जब आओब ई मझु गेहे।
मंगल जतहु करब निज देहे।।
कनक कुंभ करि कुच जुग राखि।
दरपन धरब काजर देइ आँखि।।
बेदि बनाओब हम अपने अंकमे।
झाड़ करब ताहे चिकुर बिछोने।।
कदलि रोपब हम गरुअ नितम्ब।
आम-पल्लव ताहे किंकन-सुझम्प।।

'त्रिबलि-तरंगिनि पुर दुगम जानि, मनमथ पन पठाऊ', 'किनल कन्हाई लोचन आधे', 'कंचन गढ़ल हृदय-हथिसार', 'लोचन-नीर तटिनि निरमाने' आदि में रूपकों का

कारण मनोरथ-सकलन या सकल्प-सघनता नहीं प्रत्युत कवि की चामत्कारिक प्रवृत्ति है, यहाँ नायक या नायिका के मुख से ये पद निसृत नहीं हुए प्रत्युत किसी अन्य (कवि या दूती) के द्वारा इसका प्रकटीकरण हुआ है। नायक-नायिका की सकल्प-सघनता में रूपक वस्तुत रमणीय बन जाते हैं, और यदि अनुभूति का सम्पर्क भी हो तब तो हृद्यता निस्सदिग्ध है, क्योंकि अनुभूति ही हृदय को स्पर्श करती है और हृदय स्पर्श का ही नाम रमणीयता, हृद्यता या सौन्दर्य है। युवावस्था एक अमरबेलि है और इसका आस्वाद्य फल[1] उरोज-युग्म है, नायिका ने इसी भावना को लेकर कितनी मार्मिक शिकायत की है—

आसक लता लगाओल सजनी, नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी, आँचर तर न समाय॥
सवकर पहु परदेस बसि सजनी, आयल सुमिरि सिनेह।
हमर एहन पति निरदय सजनी, नहि मन बाढय नेह॥

एक बार खिन्न होकर उसको अपने यौवन पर ग्लानि हुई, उस पद में रूपक तो नहीं परन्तु अप्रस्तुत सामग्री प्रस्तुत की अनुभूति को तीव्रतर करने में समर्थ है—

(क) सरसिज बिनु सर, सर बिनु सरसिज, की सरसिज बिनु सूरे।
जौबन बिनु तन, तन बिनु जौबन, की जौबन प्रिय दूरे॥
सखि हे, मोर बड दैव बिरोधी।
मदन-वेदन बड, पिया मोर बोलछड, अबहु देहे परबोधी।

(ख) अकुर तपन-ताप यदि जारब, कि करब वारिद मेह।
ई नव जौवन विरह गमाओब, कि करब से पिया गेह।
हरि हरि के इह दैव दुरासा।
सिन्धु निकट जदि कठ सुखाएब, के दुर करब पियासा॥

विद्यापति का एक पद 'कत न बेदन मोहि देसि मदना' निश्चय ही जयदेव के निम्नलिखित छन्द का छायानुवाद है—

हृदि विलसता हारो नाय भुजङ्गमनायक
कुवलय-दल-श्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युति।
मलयजरजो नेद भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग! मुधा किमु धावसि॥

अनुकार्य कृति में नायक की उक्ति द्वारा यह कल्पना की गई है कि कामदेव नायक पर इसलिए प्रहार करता है कि उसमें उसको 'हर' की भ्रान्ति होती है—नायक का हार, कुवलय-दल-श्रेणी, मलयजरज से क्रमश सर्पहार, विषच्छवि तथा भस्म का सादृश्यजनित अनुमान होता है। अनुकरण रचना में विद्यापति ने अनेक परिवर्त्तन कर

---

१. वक्षोज-युगल को विद्यापति ने अन्यत्र भी यौवन का फल बतलाया है—

(क) प्रथम सिरिफल गरब गमओलह, जों गुन गाहक आवे।
गेल जौवन पुनि पलटि न आवए, केवल रह पछतावे॥

(ख) फल उपहार पयोधर देअई॥

दिये। यह विरह नायिका का है नायक का नहीं—काम कामिनी को अधिक सताता है कामुक को कुछ कम। सतानेवाला देव 'अनंग' नहीं प्रत्युत 'मदन' है, विरह का सताप उद्दीपन से ही तो बढ़ता है। नायिका का चन्दन, चुनरी, बेनी, फूलमाला, माँग का टीका, सिन्दूर-बिन्दु, कस्तूरी-लेप, मुक्ताहार इन सबमें भस्म, बघछाल, जटाभार, सुर-सरि, इन्दु, ललाट-पावक, कालकूट तथा फणपति की भ्रान्ति मदन को हो सकती है, और दोनों का नाम एक है—वामा तथा वामदेव। नाम और रूप के सादृश्य से यदि मदन बहक गया और शक्तिभर सताने लगा तो आश्चर्य ही क्या है? विद्यापति के इस गीत में स्वाभाविकता है, पात्र-परिवर्तन से भ्रान्ति अधिक संभव लगती है, नाम की भ्रान्ति रूप की भ्रान्ति में अधिक सहायक है। वस्तुत चित्र के समान उक्ति में भी विद्यापति अपूर्व हे। उनकी लेखनी में अनुकरण को भी मौलिक बना देने की शक्ति है। अनु-भूति की सजीवनी ने उनकी रचना को अमर बना दिया है, उनके वर्णनों में पूर्वापर संगति भी सफल कला है, व्यग्यार्थ ने अभिधेयार्थ को चमका दिया है। नायिका ने अपांग से नायक को देखा—वाम अपांग से, काम का सचार हुआ और मन्मथ ने उसके मन को व्याकुल कर दिया, कुसुम शर भी प्राणों को पीडा पहुँचाने लगे, कान्ह को सभी तो देखते है परन्तु कामदेव अपने एक बाण का भी उन पर प्रयोग नहीं करता, फिर मुझ पर एक साथ पाँच-पाँच बाणो का यह निर्मम प्रहार क्यो? क्या मुझको अबला समझकर—

> मनमथ तोहे कि कहब अनेक।
> दिठि अपराध पराने पए पीडसि, ते तुम्र कोन विवेक।
> दाहिनि नयन पिसुन गन वारल, परिजन वामहि आध।
> आध नयन-कोने जब हरि पेखल, तँ भेल अत परमाद।
> पुर-बाहिर पथ करत गतागत, के नहिं हेरत कान्ह।
> तोहर कुसुम-सर कतहु न सचर, हमर हृदय पंचबान॥

विद्यापति की पदावली स्वर्गीय सगीत, माधुर्य तथा चित्राकन से पाठक को वशीभूत करने के साथ-साथ तत्कालीन समाज के भीने चित्र भी उपस्थित करती है, अनमेल विवाह के फलस्वरूप बालक-पति को झीकनेवाली तरुणी भार्या पर-पुरुष गामिनी बनी और कुरूपा तथा अल्पवयस्का पत्नी से असन्तुष्ट तरुण पनघट, राजवीथि एव झुरमुट में मन मसोसकर रह गया—"जितकर एहनि सोहागिनि सजनि गे, पाओल पदारथ चारि", "पुनमति धनि पुनमत जन पावे", "काहिक सुन्दरि के ताहि जान, आकुल कए गेल हमर पराण" "ततहि धाओल दुहु लोचन रे, जतहि गेलि वर नारि।" रीति-काल में पति की अनुपस्थिति (परदेश-गमन या अन्यत्र कार्य-व्यस्त रहने) में नारी पर-पुरुष की इच्छा करके विपथगामिनी बनती थी। परन्तु मिथिला के इस समाज में वय, रूप या गुण के कारण अनमेल विवाह को इस दुराचार का उत्तरदायी समझना चाहिए। बालक पति से असन्तुष्ट रमणी को कोई भी दूती 'धीरज धरहु त मिलत मुरारि' कहकर फुसला सकती थी। और पुरुष के व्यभिचारी स्वभाव का कारण पत्नी की असुन्दरता है, यदि घर में सुन्दरी युवती को छोडकर भी कोई पुरुष परनारी-गमन

करता है तो वह निन्दनीय माना गया है—'जनिक एहन, कामकला सनि, से किम्र करु व्यभिचार।' सम्प्रदाय के रूप में परकीया-प्रेम का प्रादुर्भाव अन्य परिस्थितियों में हुआ होगा, परन्तु सामाजिक आवश्यकता के रूप में इसका उत्तरदायित्व असम विवाह पर है। आयु रूप अथवा गुण के वैषम्य में जाया-पति परस्पर में दाम्पत्य-धर्म का पालन नहीं करते, अतः मन्मथ का वेग उनको विपथगामी बना देता है। पूर्व देश में परकीया का इसीलिए इतना महत्त्व रहा, पदावली साहित्य का तो प्राण ही परकीया है, पीछे उदात्त बनाने के लिए इस पर साम्प्रदायिक रंग चढ़ाया गया। जयदेव में सामाजिकता नहीं है इसलिए स्वकीया-परकीया का विचार व्यर्थ है, परन्तु चण्डीदास में विद्यापति की परम्परा की ही गहराई है। चण्डीदास ने वासना को सूक्ष्मतर बनाया है और परकीया-प्रेम में भी एकनिष्ठता पर जोर दिया है, कुछ कारणों से यदि परकीया (अनूढ़ा) प्रेम बन जाय तो एकनिष्ठा से उसका प्रेम ही दिव्य बन सकता है, क्योंकि स्वकीया का भी तो अभिप्राय अनन्यता ही है, चण्डीदास ने इसी अनन्यता को दिव्य-प्रेम का साधन माना है—परकीया-प्रेम का तिरस्कार करके वे प्रायश्चित्त नहीं करते प्रत्युत अनन्यता से सोधकर उसको पवित्र करने के वे पक्षपाती हैं। चण्डीदास का प्रीति-पथ इसीलिए एक साधना-पथ बन गया है, इसमें वासना नहीं रही, भौतिकता का अन्त हो गया, और पाप-पुण्य की भावना लुप्त हो गई, उनकी प्रेयसी उनकी गायित्री है वेदमाता के समान पवित्र, उनका प्रेम आत्मसमर्पण है—सभी संकल्प-विकल्पों से परे, स्थिर, अनन्य तथा तादात्म्यपूर्ण। सुखमूलक दुःखवसायी 'पिरीति' को 'धरम-करम, लोक-चरचा' से चंडीदास ने इसीलिए उच्चतर माना है कि इसमें निःशेष आत्मसमर्पण है—

> कलंकी बलिया डाके सब लोके, ताहाते नाहिक दुख।
> तोमार लागिया कलंकेर हार, गलाय परिते सुख॥
> सती वा असती तोमाते विदित, भाल मन्द नाहि जानि।
> कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम, तोमार चरण खानि॥

कविवर रवीन्द्र ने इसी प्रेम को आदर्श मानकर 'देवता रे प्रिय करि, प्रियेरे देवता' कहकर इसकी प्रशंसा की है। जयदेव में जो राधा 'संसार-वासना बद्ध-शृङ्खला' की ही मूर्ति थी वह विद्यापति में 'कुलकामिनी' होकर भी 'कुलटा' बनी, चण्डीदास ने उसको हृदयस्थ ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा बना दिया, सूर ने इसी चण्डीदासीय आदर्श को अपनाया है, क्योंकि उनके समय तक प्रेम का यह निराला पन्थ साम्प्रदायिक रूप धारण कर चुका था, इसलिए वासना तथा कलुष अपने प्रकृत रूप में अब स्थान न पा सकते थे।

सूरदास

अष्टछाप शिरोमणि सूरदास का व्यक्तित्व अनेक संभावनाओं का विषय है, अन्धत्व, संगीत-प्रियता तथा सम्प्रदाय-परिवर्तन उनके जीवन को कल्पनोर्वर बनाये हुए हैं, उनकी अनेक कृतियाँ मानी जाती हैं परन्तु प्रसिद्धि सूर-सागर के ही कारण है, समस्त जीवन व्रज प्रदेश में बिताने के कारण वे तत्कालीन व्रज-संस्कृति के अनन्य प्रतीक कहे जा सकते हैं।

सूरदास के जन्म-संवत् तथा जन्म-स्थान के विषय में अधिक वाद-विवाद को स्थान नहीं, वे १६वीं शती के प्रथम चरण में अवतरित हुए थे और अपने जीवन से उन्होंने परिचमोत्तर व्रज प्रदेश को मण्डित किया था। यद्यपि विद्वान उनका जन्म ब्राह्मण या कभी-कभी भट्ट कुल में मानते हैं, परन्तु एक स्थल पर कवि ने अपने को जाट कहा है—सम्भव है किसी प्रति में 'जाट' के स्थान पर 'भाट'[1] पाठ हो, यह निश्चय है कि उनको उच्च-शिक्षा का सौभाग्य न मिला था। अन्धे वे जन्म से थे या नहीं, इस विषय में भी एक निष्कर्ष नहीं है, परन्तु सूरसागर की रचना के समय वे नेत्र-हीन[2] थे।

विनय-खण्ड—यह प्रसिद्ध है कि आचार्य वल्लभ का शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व सूरदास भक्त के रूप में विख्यात हो चुके थे, उनका नाम सुनकर ही आचार्य ने उनको बुलाया था और मुग्ध होकर सम्प्रदाय में दीक्षित किया था। यह दीक्षा सूर का पुनर्जन्म है, आलंकारिक भाषा में सूर को पुन: दृष्टिलाभ हुआ। दीक्षा-पूर्व की जीवनी बड़ी रोचक है, इसके दो रूप हैं, दीक्षा से पूर्व भक्त जीवन, तथा भक्त-जीवन से पूर्व संसारी[3] जीवन।

संसारी जीवन के अनेक संकेत सूर-सागर के विनय-खण्ड में उपलब्ध हैं—

(क) अब कैसे पैयत सुख माँगे ?
जैसोइ बोइये तैसोइ लुनिऐ, कर्मन भोग अभागे ॥६१॥

(ख) श्री भागवत सुनी नहिं स्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनो।
भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया में दीनो ॥६५॥

(ग) जनम सिरानौई सौ लाग्यौ।
रोम-रोम, नख-सिख लौं मेरे, महा अघनि बपु लाग्यौ ॥७३॥

(घ) जग में जनमि पाप बहु कीन्हे, आदि-अन्त लौं सब बिगरी।
सूर पतित, तुम पतित-उधारन, अपने बिरद की लाज धरो ॥११६॥

(ङ) बालापन खेलत ही खोयौ, जुवा विषय-रस माते।
वृद्ध भए सुधि प्रगटी मोकौं दुखित पुकारत ताते।
सुतनि तज्यौ, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तें त्वच भई न्यारी।
स्रवन न सुनत, चरन-गति थाकी, नैन भए जलधारी ॥११८॥

(च) इन्द्री-रस-बस भयौ, भ्रमत रह्यौ, जोइ कह्यौ सो कीनौ।
नेम-धर्म-व्रत, जप-तप-संयम, साधु-संग नहिं चीनो ॥१२६॥

---

१. ऐसे कुमति जाट सूरज कौं प्रभु बिनु कोउ न धाय। (२१६ सूर सागर)

२ कुछ पदों में इस बात का संकेत है:—
यहै जिय जानि कै, अंध, भवत्रास तें, सूर कामी-कुटिल सरन आयौ। (५)
सूरदास सौं कहा निहोरो नैननि हूँ की हानि। (१३५)
सूरजदास अन्ध अपराधी, सो काहे बिसरायौ। (१६०)

३ भजनरहित बूड़त संसारी। (२१२)

(छ) जनम तौ बादिहि गयौ सिराइ।
हरि-सुमिरन नहिं गुरु की सेवा, मधुबन बस्यौ न जाइ ॥१५५॥

(ज) तीनौ पन मैं भक्ति न कीन्हीं, काजर हूँ तैं कारौ।
अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यौं जानौं त्यौं तारौ ॥१७८॥

(झ) ऐसौ अध, अधम, अविवेकी, खोटनि करत खरे।
विषयी भजे, विरक्त न सेए, मन धन-धाम धरे ॥१६८॥

(ञ) मैं कछू करिबे न छाँड्यौ, या सरीरहिं पाइ।
तऊ मेरौ मन न मानत, रह्यौ अघ पर छाइ ॥१६६॥

इन उदाहरणों से ऐसी भी गन्ध आ सकती है कि ये सूर ने दीनता के आवेश में लिख दिए हैं इनमें पद-संख्या[1] १८६ में गिनाये गये अवगुणों की पूर्वपीठिका ही है वास्तविकता नहीं, अन्यथा सब दोषों को अपने में बताकर भी कवि अन्त में "औगुन और बहुत हैं मो मैं, कह्यौ सूर मैं थोरौ" न कहता, अपने वास्तविक और सम्भाव्य दोषों की विस्तार तथा प्रसार से गणना दैन्य का मूल बनकर भक्ति का प्रथम सोपान कहलाती है क्योंकि इसमें अहंकार[2] का शमन होता है। किन्तु उक्त गन्ध आवश्यक नहीं। सूर की ये पंक्तियाँ आत्मकथात्मक ही हैं, भले ही इनमें ऐतिहासिक सत्य न हो। सूर जीवन के चौथेपन में ही भक्ति की ओर अग्रसर हुए थे, पिछले तीन[3] पनों के कर्मों से असन्तुष्ट होकर और अपने को चारों ओर से असहाय समझकर, उनकी स्त्री और पुत्र थे, सम्भवतः उनकी मृत्यु हो गई होगी—'तज्यौ' से ऐसी ध्वनि भी निकलती है, भाई-बन्धु भी अपने-अपने राग में मस्त थे, तब पतित सूरदास पतित-पावन की करुण शरण में गये। यदि इन पदों में आत्मचरित न होकर माया के सामान्य कुप्रभाव का ही वर्णन होता तो इनमें कबीर के पदों जैसी क्षणभंगुरता या तुलसी के विनयपत्रिकान्तर्भूत पदों जैसा पारमार्थिक चित्र ही रहता, जीवनी की अनुभूत्यात्मक छवि न मिलती। यह उसी विषयान्ध जीवन में विनृष्णा थी जिसने सूर के मन को मथ डाला और दीक्षा से पूर्व ही वे इतने प्रसिद्ध हो गये कि महाप्रभु बल्लभ को उनसे मिलने की आवश्यकता हुई।

सूर का भक्त-जीवन भी विनय के पदों में प्रतिफलित मिलता है। पतित-पावन की शरण में आते समय सूर वृद्ध थे, संसार को भोग चुके थे और फीका जानकर छोड़ चुके थे। 'सागर' के अतिरिक्त कृतियाँ यदि सूर की हैं तो इससे पूर्व के जीवन में रची गई होंगी, 'साहित्य-लहरी' का यौवन में निर्माण हुआ होगा—उस प्रवृत्ति का प्रच्छन्न प्रभाव अन्त तक चलता रहा। भक्त सूर ने शब्द या अर्थ के खिलवाड़ में मन लगाया हो, यह सम्भव नहीं। सूरदास विरक्त होकर भक्त बने और उनको निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण पथ अधिक पसन्द आया। विनय के पदों में भक्त-वत्सल भग-

---

(१) प्रभु जू हौं तो महा अधर्मी। (१८६)
(२) हमता जहाँ तहाँ प्रभु नाहीं, सो हमता क्यों मानौं। (११)
(३) तीनौ पन मैं भक्ति न कीन्ही ...। (१७८)

वानू के निर्गुण रूप को 'निरालम्ब'[1] बताकर सुगम सगुण रूप का ही गान है, इसलिए ये पद कबीर के पदों से स्पष्ट अलग हो जाते है, यद्यपि संसार की क्षणभंगुरता, लोक का स्वार्थ तथा माया का प्राबल्य कबीर की-सी शब्दावली में ही वर्णित है—

(क) वेश्या केरा पूतरा, कहै कौन सो बाप। (कबीर)
गनिका-सुत सोभा नहिं पावत, जाके कुल कोऊ न पिता रो (सूर, ३४)

(ख) सब कोउ कहै तुम्हारो नारी, मोको यहु सन्देह रे। (कबीर)
इहि लाजनि मरिए सदा, सब कोउ कहत तुम्हारो हो। (सूर, ४४)

(ग) एक कनक अरु कामिनी दुर्गम घाटी दोय। (कबीर)
अतर गहल कनक-कामिनि को, हाथ रहैगो पचिबो। (सूर, ५६)

(घ) गुरु गोविंद दोनो खड़े, काके लागूँ पाँय। (कबीर)
गुरु गोविंद नहि चीन्हों। (सूर, ६५)

(ङ) कस्तूरी हिरदय बसै, मृग ढूँढै बन माँहि। (कबीर)
ज्यौं मृगा कस्तूरि भूलै, सु तौ ताकै पास। (सूर ७०)

(च) माता, पिता, बन्धु, सुत, तिरिया सग न कोई जाइ सका रे। (कबीर)
माता, पिता, बन्धु, सुत तौ लगि, जौ लगि जिहिकौ काम। (सूर ७६)

(छ) कागद सब धरती करौं, लेखनि सब बनराइ। (कबीर)
कागद धरनि, करं द्रुम लेखनि, जल-सायर मसि घोरे। (सूर, १२५)

तुलसी के पदो से इन पदो का बहु मात्रा में साम्य है, क्योकि सूर और तुलसी दोनो ही सगुण उपासक थे, दोनो को ही वेद-शास्त्र की परम्परा सुलभ हो गई थी। इस समय तक सूर ने दशावतार के गीत गाये हैं, कृष्ण-मात्र का ही आग्रह उनमें नही, भक्ति मुख्यत तो दास्य भाव की है परन्तु यत्र तत्र दूसरे प्रकार भी सांकेतित हैं—

(क) ज्यौं दूती पर-वधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै। (४२)

(ख) ज्यौं बालक अपराध कोटि करै, मातु न मानै तेइ। (२००)

(ग) अनुभवी जानही, बिना अनुभव कहा प्रिया जाको नहीं चित चोरै। (२२२)

कृष्ण के गोपाल नाम का बहुत प्रयोग सूर ने इस खण्ड में किया है, परन्तु दूसरे अवतारो की भी प्रासगिक चर्चा है, भगवान् का पुराणोक्त पतित-पावन रूप उनको बार-बार याद आता है, कुछ मुख्य पद तो रामनाम[2] को लेकर ही है और भगवान्

---

१ रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातै सूर सगुन पद गावै॥ (२)

२ राम भक्तवत्सल निज बानौं। (११)
बड़ा कृपालु जाके राम धनी। (३६)
करत हैं भागे जपिहैं राम। (४७)
राम न सुमरियौ एक घरी। (७१)
अद्भुत राम नाम के अक। (६०)
हमारे निर्धन के धन राम। (६२)

का 'माधव'[1] नाम तुलसी के समान सूर में भी मिलता है विशेषत माया के प्रसग में—शायद इसलिए कि 'माधव' 'मा' (लक्ष्मी अर्थात् माया) के 'धव' (स्वामी) हैं, 'माया-पति' और 'माधव' समानार्थी नाम हैं।

भक्त सूरदास की विचार-धारा का सक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार होगा। भगवान् निर्गुण भी है, जैसा कि वेद-शास्त्रो[2] में कहा गया है, परन्तु उसका सगुण रूप अधिक ग्राह्य है, वह माया या लक्ष्मी का स्वामी है, वह अवतार लेता है भक्तो के उपकार के लिए, उन अवतारों में सबसे मनोहर कृष्ण अवतार है, दूसरे नम्बर पर राम-नाम है। यह कहना सम्भव नहीं कि यह क्यों रिघल[3] जाता है, परन्तु उसकी कृपा के बिना कुछ नहीं होता, वह अपने भक्तो की ढिठाई सहता है और स्वार्थ बिना मित्रता करता है, जाति, गोत्र, कुल, नाम[4] आदि का उसके सम्मुख कोई मूल्य नहीं, परन्तु जहाँ अहभाव है वहाँ भगवान् नहीं है। वेद-शास्त्र[5] में भगवान् के दीनदयालु तथा करुणानिधि रूप का वर्णन है। यह भगवान् भक्ति से प्रसन्न होता है, कर्म या ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता। यदि कनक और कामिनी का मोह छूट जाय तो मन की तृष्णा भगवान् में लग सकती है, अन्यथा प्रतिक्षण आयु बीत रही है—अवसर हाथ से चला जा रहा है। जीवन का यही फल है कि स्वकीय अह को त्यागकर उसी अनन्त[6] राशि में मिल जाय। इन पदों में वेद को प्रमाण भी माना गया है भगवान् के विषय में, परन्तु वेद की उपेक्षा भी है कर्मकाण्ड और ज्ञान को तुल्य समझकर। इस समय तक सूर-काव्य सामान्य भक्त—सामान्य सगुणोपासक कृष्ण-भक्त है, उसमें भगवान् की भक्त-वत्सलता, करुणा तथा दया है, भक्ति का सर्वोच्च स्थान है, स्वकीय दैन्य है और मोक्ष की कामना है।

यदि विनय के पदों को कला की दृष्टि से देखें तो हमारा ध्यान कुछ साग

---

१ माधौ जू यह मेरी इक गाइ। (५१)
माधौ नेकु हटको गाइ। (५६)
माधौ जू हौं पतित सिरोमनि। (१६२)

२ वेद-उपनिषद जासु कौं निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नद की दाँवरी बँधावै ॥(४)

३ यह गति-मति जानै नहिं कोऊ, किहि रस रसिक ढरै। (३५)
अविगत गति करुनामय तेरी, सूर कहा कहि गावै। (१०४)
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी, समुझी न परी। (११५)

४ जगत-पिता, जगदीस, जगत-गुरु, निज भक्तनि की सहत ढिठाई।
बिनु बदले उपकार करत हैं, स्वारथ बिना करत मित्राई ॥ (३)
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं रक होइ कै रानो। (११)

५ दीन-बन्धु हरि, भक्त-कृपानिधि, बेद-पुराननि गाए (हो)। (७)

६ सीत-उसन, सुख-दुख नहिं मानै, हर्ष-सोक नहिं खाँचै।
जाइ समाइ सूर वा निधि में, बहुरि जगत नहिं नाचै ॥ (८१)

रूपकों पर अवश्य जाता है, कबीर के निर्जीव रूपकों के समान भक्त सूरदास ने भी ऐसे रूपक लिखे जो उनके सामाजिक ज्ञान को तो अवश्य बताते हैं परन्तु महनीय व्यक्तित्व की झलक नहीं देते। इन रूपकों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग तो लोक-शास्त्र के शब्दों से बनाये गये रूपकों का है जो तत्काल ही कबीर का स्मरण करा देते हैं; "हरि के जन की अति ठकुराई" (४०), "तुम्हरी माया महाप्रबल, जिहिं सब जग बस कीन्हौं हो" (४४), "चौपरि जगत मड़े जुग बीते" (६०), "जनम साहिबी करत गयौ" (६४), "हरि, हौं सब पतितन पतिनेस" (१४१), "साँचो सो लिखहार कहावै" (१४२), "हरि, हौं ऐसौ अमल कमायौ" (१४३), "हरि, हौं सब पतितनि कौ राजा" (१४४), "हरि, हौं महा अधम संसारी" (१७३), "प्रभु जू यौं कीन्ही हम खेती" (१८५) आदि पद इसी वर्ग के हैं। इनका उद्देश्य तो भक्ति ही है, परन्तु साधन लोक ज्ञान है—लोक-शास्त्र का परिचय है, वेद-शास्त्र का अध्ययन नहीं, यही कबीर के रूपकों से समानता है। इनके विपरीत तुलसी के साथ रूपकों में वेद-शास्त्र की आधार-शिला सर्वत्र उपलब्ध है, विनय-खण्ड में कम-से-कम चार रूपक तुलसीय वर्ग के भी हैं, "माधौ जू, यह मेरी इक गाइ" (५१), "माधौ, नेकु हटकौ गाइ" (५६), "अद्भुत राम-नाम के अंक" (६०), "अब मैं नाच्यौ बहुत गोपाल" (१५३), अपनी धार्मिक परम्परा से सुपरिचय प्राप्त किये बिना इस कला को रचि सम्भव नहीं।

विनय-खण्ड में कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनका भाव-साम्य उत्तररचित पंक्तियों से है, परन्तु कला का रूप दोनों स्थलों पर एक ही नहीं है। यह वैषम्यनिष्ठ साम्य सूर के विकासमान व्यक्तित्व का ही सूचक है, विनय-खण्ड की रचना में सूरदास में और पुष्टिमार्गी सूरदास में अन्तर स्पष्ट है—यद्यपि दोनों व्यक्तित्वों में भक्ति उभयनिष्ठ है फिर भी भक्ति का मार्ग उभयत्र एक ही नहीं। उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) माया देखत ही जु गई।
ना हरि-हित, ना तू-हित, इनमें एकौ तौं न भई ॥ (५०) (विनय-खण्ड)
द्रुं मैं एकौ तौ न भई।
ना हरि मिले, न गृह सुख पाये, वृथा बिहाइ गई ॥ (विनयोत्तर खण्ड)

(ख) सूरदास भगवत-भजन बिनु ज्यौं अंजलि-जल छीजै। (६५) (विनयखण्ड)
अंजलि के जल ज्यौं तन छीजत, खोटे कपट तिलक अरु मालहिं। (७४) (तथा)
सिर पर मीच, नीच नहिं चितवत, आयु घटति ज्यौं अंजुल-पानी ॥
(१४६) (तथा)
रहिरी मानिनि, मान न कीजै।
यह जोबन अंजुरी कौ जल है, ज्यौं गोपाल माँगें त्यौं दीजै। (विनयोत्तर खण्ड)

(ग) मोह्यौ दुष्ट हेम तस्कर ज्यौं, अति आतुर मति-मंद।
लुबध्यौ स्वाद मीन-आमिष ज्यौं, अवलोक्यौ नहिं फंद ॥
ज्वाला-प्रीति प्रगट सन्मुख हठ, ज्यौं पतंग तन जार्यौ।
विषय-असक्त, अमित-अघ-व्याकुल, तबहूँ कछु न सँभार्यौ ॥
(विनय, १०२)

मोह्यौ जाइ कनक-कामिनि-रस, ममता-मोह बढ़ाई ।
जिह्वा-स्वाद मीन ज्यों उरझ्यौ, सूझी नहीं फँदाई ।। (विनय, १४७)

(घ) ऊधौ मनमाने की बात ।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात ।
बरषा बरसत निसदिन ऊधौ पुहुमी पूरि अघात ।
स्वाति-बूँद के काज पपीहा छनछन रटत रहात ।। (विनयोत्तर खण्ड)

विनय के पदों में माया से विरक्ति है, परन्तु उत्तरपदों में माया को जीना समझकर उसका स्वागत है। तीसरे उदाहरण में जिह्वा-स्वाद से आमिष की ओर आकृष्ट मीन का फन्दे में पड़ जाना, स्नेहासक्त पतंगे का दीपक पर जल मरना आदि विषयासक्त प्राणी जीवों की माया-मुग्ध दुर्वृत्ति को बताकर विरति का प्रयास करते हैं, विनयोत्तर काल में इस आसक्ति को वरणीय मानकर इसकी सराहना है—जिसका मन जिसमें लगा हुआ है वही उसके लिए परम प्रेय तथा अपूर्व श्रेय है, दूसरे की रुचि से उसके मन की आलोचना नहीं हो सकती। प्रथम उदाहरण में विनय तथा विनयोत्तर शब्दावली का अन्तर तो नहीं है, परन्तु विनयखण्ड के अनुसार माया न तो परमात्मा में लगने देती है और न जीवात्मा को शान्ति देती है इसके विपरीत विनयोत्तर काल में कवि की दृष्टि जीवन में दो ही उद्देश्य समझती थी—या तो भगवान् की लीला समझकर संसार में विचरण करना या सामान्य जीवों के समान संसार में वास करना—माया को यहाँ कोई भी स्थान नहीं मिला। दूसरा उदाहरण दृष्टिकोण को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है, जीवन अजलिगत जल के समान प्रतिक्षण छीजता चला जा रहा है इसका सदुपयोग कैसे हो, पहिले कवि समझता था कि 'भगवन्त-भजन' ही सर्वश्रेष्ठ उपयोग है, परन्तु अब उसका विचार बदल गया है जीवन या यौवन गोपाल ने हमको दिया है तब जिस प्रकार वे इसका उपयोग चाहें, करें, हमको क्या आपत्ति है, सम्भव है राधा के समान हमसे भी वे इस यौवन को विरह में बितवाना चाहते हों, ठीक है शायद यही उनकी इच्छा है, यही उनकी कृपा है, जिसे हम दुःख समझते हैं वह भी उनका विशेष दान है। 'त्वदीय वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये' की यह आस्तिक भावना लीला-काव्य का मुख्य स्वर है, जो सूर की विनयोत्तर रचना में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है परन्तु विनय के पदों में उसका अभाव है।

विनय के पदों में सूर की रुचि कुछ खिलवाड़ की भी रही है। सारंग राग में सारंगपाणि भगवान् की स्तुति में 'सारंग' शब्द का १२ बार प्रयोग है। भिन्न-भिन्न अर्थों में (पद संख्या ३३)। साग रूपकों में राज्य सम्बन्धी (पद संख्या ४०, १४१ तथा १४४), नारीजन के वस्त्र सम्बन्धी (पद संख्या ४४), पशु जीवन सम्बन्धी (पद संख्या ५१ तथा ५६), चौपड़ सम्बन्धी (पद संख्या ६०), 'साहिबी'-सम्बन्धी (पद संख्या ६४), 'निसहार' सम्बन्धी (पद संख्या १४२), 'अमल' सम्बन्धी (पद संख्या १४३) तथा सेनो सम्बन्धी (पद संख्या १८५), पारिभाषिक शब्दों पर कवि का अच्छा अधिकार लक्षित होता है, १४१ से १४४ तक के शब्द तो आलोचकों को इस निष्कर्ष के लिए भी प्रेरित कर सकते हैं कि सूरदास का मुगल अमलदारी से अवश्य ही कुछ सम्पर्क

रहा होगा—भले ही यह सम्पर्क सामान्य नैकट्य-मात्र ही हो। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ये रूपक तुलसीयता की अपेक्षा कबीरत्व के अधिक समीप हैं। तुलसी का व्यक्तित्व वेद-शास्त्र के मनन से निर्मित हुआ था इसलिए उनको माला पर दार्शनिक या धार्मिक शब्द नाचते थे, कबीर की इस प्रकार की कोई साधना न थी इसलिए उन्होंने लोक-जीवन के शब्दों से काम चलाया; सूर का सम्पर्क शासन से भी था, राज-कर्मचारी उनके पास आते-जाते रहते होंगे या 'ससारी' जीवन में उनका शासन से किसी रूप में निकट सम्पर्क रहा होगा, इसलिए कभी-कभी उनके सम्मुख शासन का पूरा चित्र आ जाता है। मुगलकालीन पारिभाषिक फारसी शब्दावली के वसनाभरण में—पदसंख्या ६४, १४२ तथा १४३ में—आये हुए फारसी शब्दों से मुगल-शासन के कानून पर भी कुछ विचार करने का अवसर मिलता है। जायसी में फारसी के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अवश्य है परन्तु केवल चौपड आदि के सम्बन्ध में 'अदल' के प्रसग में नहीं, उनके समय तक राज्य-भाषा फारसी न हुई थी।

जिस माया को कबीर ने समस्त दुखों का मूल कारण माना है वही माया सूर की हृदयेश्वरी बन गई थी, वह तरुणी उस वृद्ध को 'वृद्धस्य तरुणी विषम्' के रूप में रात-दिन संतप्त किया करती है, एक पद में यही भाव बड़े रोचक ढंग से वर्णित है—

> हरि, हौं महा अधम ससारी।
> आन समुझि मैं बरिया ब्याही, आसा कुमति कुनारी।
> धर्म-सत्त मेरे पितु-माता, ते दोउ दिये बिडारी।
> ज्ञान-बिबेक बिरोधे दोऊ, हुते बन्धु हितकारी।
> बांध्यो बैर दया भगिनी सौं, भागि दुरी सु बिचारी।
> सील-संतोष सखा दोउ मेरे, तिन्हें बिगोवति भारी।
> कपट-लोभ वाके दोउ भैया, ले घर के अधिकारी।
> तृष्ना बहिनि, दीनता सहचरि, अधिक प्रीति बिस्तारी।
> अति निसक, निरलज्ज, अभागिनि, घर-घर फिरत न हारी।
> मैं तो वृद्ध भयौ वह तरुनी, सदा बयस इकसारी ॥१७३॥

विनय के पदों में कुछ पक्तियां ऐसी अवश्य हैं जिनमें भगवान् के प्रति सूर का कथन साधिकार प्रतीत होता है, उसको सख्य-भाव तो नहीं कह सकते परन्तु दास्य की दीनता वहाँ नहीं मिलती, ऐसा जान पड़ता है मानो सूर का स्वभाव ही कुछ, अभिमानेरा में, खरी-खरी सुना देने का था—

> (क) नाहि काँचो कृपानिधि हौं, करौ कहा रिसाइ।
> सूर तबहुँ न द्वार छाँडै, डारिहौ कढ़िराइ ॥१०६॥
> (ख) सूरदास प्रभु हँसत कहा हौ, मेटौ बिपति हमारी ॥१७२॥
> (ग) जहाँ तहाँ तैं सब आवेंगे, सुनि सुनि सस्तौ नाम।
> अब तौ परयौ रहैगो दिन-दिन तुमकौ ऐसो काम ॥११३॥

✓(५) नाहक मैं लाजनि मरियत है, इहाँ आइ सब नासी।
यह तौ कथा चलैगी आगैं, सब पतितन मैं हाँसी ॥१६२॥

श्री भागवत-प्रसग

विनय-खण्ड को हमने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व की रचना माना है, कुछ प्रवृत्तियों के आधार पर ही, परन्तु विनय के पद न तो भाषा की दृष्टि से शेष पदों से नितान्त भिन्न है, और न इतने उत्कृष्ट है कि अदीक्षित सूर को विख्यात कर देते, 'सूर-सागर' पुस्तकाकार लिखा भी नहीं गया, अत दीक्षा-पूर्व तथा दीक्षोत्तर वर्ग प्रामाणिक वर्ग है भी या नहीं—यह किस प्रकार कहा जा सकता है ? फिर भी प्रस्तुत रूप में 'सूर-सागर' के आदि २२३ पद अलग सगृहीत माने जा सकते हैं, उनका 'मगलाचरण' अलग है, उनकी प्रणाली स्वतन्त्र है। २२४वें पद से 'श्री भागवत-प्रसग' का प्रारभ होता है। यहाँ निश्चय ही कवि के सामने एक आदर्श है[1] भागवत का, जिसकी छाया में उसने अपने शेष सारे पद लिखे है। प्रत्येक प्रसग में "हरि-हरि, हरि-हरि" का स्मरण करके कवि उस कथा को सुनाने लगता है जो व्यास ने शुकदेव[2] को सुनाई थी। यद्यपि सूरसागर में कथा को साथ ले चलने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है फिर भी इसमें प्रबन्ध का निर्वाह नहीं है, पदों में भावावृत्ति के साथ साथ क्रम-शैथिल्य भी है, प्रथम स्कन्ध में भी एक पद 'ऊधो' को सम्बोधित किया गया है—पूर्वापर क्रम की उपेक्षा तथा सव्यवधान भावावृत्ति प्रबन्ध काव्य के पीन दोष हैं।) ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के समक्ष भागवत का स्थूल आदर्श है, उसकी मुख्य प्रेरणा यही भक्ति-महोदधि है, परन्तु उसके सक्षम व्यक्तित्व ने इस भाषा-छाया को भी मौलिक रूप दे दिया है, सूरदास भाषान्तर नहीं कर रहे, भागवत् को स्वय पचाकर उसकी आत्मा का भाषा में अवतरण कर रहे हैं। वस्तुत श्रीमद्भागवत सगुण भक्त मात्र का आदर्श रहा है, विशेषत कृष्ण-भक्त तो इसके बिना चल ही नहीं सकते, फिर भी प्रति सम्प्रदाय ने स्वकीय रुचि के अनुसार इससे प्राण ग्रहण किया है, वल्लभ सम्प्रदाय ने भागवत् को जिस रूप में स्वीकार किया उसका भाषा-निदर्शन सूर के पदों में उपलब्ध है।

सूरसागर की यह एक विशेषता है कि अग्रे-अग्रे इसमें सौन्दर्य का समावेश अधिक होता गया है, कदाचित् इसका कारण कवि के व्यक्तित्व का तथा-विकास हो, प्रारम्भिक स्तर पर कवि से सामान्य भक्त का दैन्य लिपटा हुआ था, शनै शनै उसने माया को लीला के रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया, परिपाक-काल में उसे सर्वत्र गोपाल की क्रीडा ही आकृष्ट करने लगी—जीवन में रस मिल गया, अभिव्यक्ति में भी विनोद आ गया, वह स्वय प्रमुदित रहने लगा और अपनी रचना से समाज को भी मुग्ध करने लगा, एक भावी के शब्दों में—

"वे बातें कहि-कहि या दुःख में ब्रज के लोग हँसाये।"

[1] व्यास कहे सुकदेव सौं, द्वादस स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ ॥

[2] व्यास कह्यौ जो सुक सौं गाइ। कहौं सो सुनौ सत चित लाइ ॥

परन्तु, नवम स्कन्ध अर्थात् रामावतार तक के पदों में काव्य की अपेक्षा कथा का सौन्दर्य अधिक है, कवि का मन कहीं रमता हुआ नहीं मिलता, वह कलियुग के अमोघ ग्रन्थ 'भगवत-भजन' की प्रतिष्ठा के लिए ही इन अवतारों का चलता हुआ वर्णन करता जाता है। सूरसागर का वास्तविक प्रारम्भ तो दशम स्कन्ध से ही मानना चाहिए, सूरदास के सगुण दर्शन तो पाठक को यहीं से होते हैं।

दशम स्कन्ध का प्रारम्भ होते ही मानो दशम द्वार खुल गया और परम ज्योति की अपूर्व छवि दिखाई देने लगी। कवि ने कृष्ण का भी वर्णन किया है और कृष्ण की लीलाओं का भी, लीलाओं का वर्णन व्यक्ति के वर्णन से अधिक वाचाल है, उस 'शोभा-सिन्धु' को देखकर ही आनन्दमग्न हुआ जा सकता है, वर्णन नहीं हो सकता क्योंकि उसकी पृथ्वी पर कोई उपमा[1] ही नहीं मिलती—आलोक में कोटि चन्द्र-रवि लज्जित[2] हो जाते हैं, मोहकता में कोटि मन्मथ[3] निछावर कर दीजिए, फिर भी अनुभव बिना उस रूप का आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार जहाज का पक्षी[4] समुद्र में फँसकर किनारा खो बैठता है उसी प्रकार दर्शक का मन अंग-अंग की शोभा में डूबकर स्वयं अपने को भूल बैठा। जिस प्रकार जन्म का दरिद्र चोर[5] किसी भरे घर में घुसकर अनन्त वैभव को देखकर ही आश्चर्यचकित रह जाय, चोरी का उसको ध्यान ही न रहे, उसी प्रकार कवि का मन रूप की चोरी के स्वभाव से जब उस रूपराशि के निकट जाता है तो सुधि-बुधि भूल जाता है, वर्णन का उसको अवधान नहीं रहता। सांसारिक रूप के पीछे चोर के समान अतृप्त अकिञ्चन मन से भागने वाले कामुकों को वैष्णव भक्तों ने इसीलिए मन्मथ-मथन अनन्त रूपराशि का दर्शन कराया है कि वे उस अनन्त में अवर्णनीय तृप्ति का अनुभव कर सकें और अल्प के रूप को भूमा के रूप में भूल जायँ। सूर उस रूप में इतने मग्न हुए कि आकण्ठ तृप्ति के सातत्य में भी श्याम के रूप को वाणी द्वारा अधिक अभिव्यक्त न कर सके।

बालकृष्ण के रूप का कवि ने ऐसा ही अनिर्वचनीय वर्णन किया है, कृष्ण का स्थिर रूप (छवि) दर्शक को भी *गतिहीन बना देता है*—इन्द्रियों से उस आनन्द को ग्रहण करते हुए मन विभोर हो जाता है और शरीर स्तब्ध समाधिस्थ। परन्तु बालकृष्ण का गतिमय या क्रियाशील (लीला) रूप वर्णन का विषय बना है। यहाँ दर्शक

---

१. *यह सोभा नैननि भरि देखैं, नहिं उपमा तिहुँ भू पर री। ७१६॥*
२. जाकी रूप जगत के लोचन कोटि चन्द्र-रवि लाजत भै री॥
३ लटकन सीस, कंठ मनि भ्राजत, मनमथ कोटि वारने गै री।
४. जलधि थकित जनु काग पोत को कूल न कबहूँ आयौ री।
ना जानौं किहिं अंग मगन मन, चाहि रह्यो नहिं पायो री॥ (७५५)
५. सोभा सिंधु अंग अगनि प्रति, बरनत नाहिन ओर री।
जित देखौं मन भयौ तितहिं कौ, मनौ भरे को चोर री।
बरनौं कहाँ अंग अंग सोभा, भरी भाव जल-रास री।
लाल गोपाल बाल-छवि बरनत, कवि-कुल करिहै हास री॥ (७५७)

गोकुलवासी है, स्वयं कवि ही नहीं। बालकृष्ण की लीला-छवि को देखकर गोपी भाव-विभोर हो गई और जब उसको फिर चेतना उपलब्ध हुई, तो वह सखी से उस अपूर्व आनन्द का भाँति-भाँति की अप्रस्तुत-योजना द्वारा प्रकाशन करने लगी, शास्त्रीय दृष्टि से ऐसे स्थलो पर उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग हुआ है, इन स्थलो की तुलना योगियों की उस समाधिमय अवस्था से की जा सकती है जब साधक उस अलख की एक झलक पाकर एक बार तो अपने को भूल जाता है और फिर जगकर उसके लिए तड़पता रहता है, सूफियों में भी प्रेम की पीर जगाने के लिए इसी अस्त्र का प्रयोग विहित है, परन्तु सूफी मजाजी रूप से हकीकी रूप का आभास प्राप्त करता है जबकि भक्त ने जो रूप देखा वह आदित एवं नित्य है, वस्तुतः कृष्ण का गोकुल में आकर रहना और अपनी क्रीडाओं से सबको मन्त्रमुग्ध-सा बनाकर सदा के लिए तड़पता छोड़कर मथुरा चला जाना अलख का आभास पाकर व्याकुल साधक के समानान्तर-सा ही लगता है। अस्तु, आँगन के दो किनारो पर बैठे हुए दम्पति के लिए श्याम एक खिलौने[1] के समान है—अपनी क्रीडा से उनका मन बहलानेवाले। उसी श्याम को देखकर गोपी का मन श्याम-मय हो गया, वह आत्मविभोर हो गई—

> मैं देख्यौ जमुदा कौ नन्दन खेलत आँगन बारौ री।
> ततछन प्रान पलटि गयौ मेरौ तनमन ह्वै गयौ कारौ री॥ (७५३)

फिर भी उसकी कल्पना कोई अवसान नहीं जानती, मन कभी शास्त्रीय सामग्री से उस भाव की अभिव्यक्ति करता है तो कभी लौकिक अप्रस्तुत-योजना द्वारा। पौराणिक-शास्त्रीय सामग्री से लटकन में लगे हुए रत्नो की शोभा रंग की समानता के आधार पर देखिए—

> (क) भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाये।
> मानौ गुरु-सनि कुज आगें करि, ससिहि मिलन तम के गन आये॥ (७२२)
>
> (ख) नील, सेत अरु पीत, लाल मनि, लटकन भाल रुलाई।
> सनि गुरु-असुर, देवगुरु मिलि मनु, भौम सहित समुदाई॥ (७२६)
>
> (ग) लटकन लटकि रहे भ्रू ऊपर, रंग-रंग मनिगन पोहे री।
> मानहुँ गुरु-सनि-सुक्र एक ह्वै, लाल भाल पर सोहे री॥ (७५७)
>
> (घ) मुक्ता-विद्रुम-नील-पीत-मनि, लटकन लटकत भाल री।
> मनौ सुक्र-भौम-सनि-गुरु मिलि, ससि के बीच रसाल री॥ (७५८)

रत्नो के रंग का नक्षत्रों की तुलना से वर्णन सूर में अन्यत्र भी मिलता है (दे० पद-संख्या ७११, ७५२ आदि), परन्तु इनका प्राचुर्य नहीं, क्योंकि इस सामग्री से हृदय की उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी कि बुद्धि की। लौकिक सामग्री के वर्णन अधिक रमणीय तथा मनोरम है। कज्जल-बिन्दु की शोभा को कवि ने अनेक स्थलो पर कमलस्थ सुषुप्त अलि-शावक की छवि के समान बतलाया है—

---

१. इततें नन्द बुलाइ लेत है, उततें जननि बुलावै री।
दम्पति होड करत आपुस में, स्याम खिलौना कीन्हौ री॥ (७१६)

(क) लट लटकनि, मोहन मसि-बिंदुका-तिलक भाल सुखकारी।
मनौ कमल-दल सावक पेखत उड़त मधुप छबिन्यारी॥ (७०६)

(ख) सुन्दर भाल-तिलक गोरोचन मिलि मसि-बिन्दुका लाग्यौरी।
मनु मकरन्द अचै रुचि कै, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥ (७५५)

(ग) गोरोचन को तिलक, निकट ही काजर-बिंदुका लाग्यौ री।
मनों कमल को पी पराग, अलि-सावक सोइ न जाग्यौ री॥ (७५७)

इन पदों में भी अप्रस्तुत सामग्री का आधार रूप-सादृश्य ही है, परन्तु मकरन्द-पानेन मत्त भ्रमर-किशोर की परितृप्त अवस्था सभी को विदित है इसलिए बालकृष्ण के मुख-कमल से रूप, रस तथा गन्ध की व्यञ्जना पाठक सहज ही ग्रहण कर लेता है। अप्रस्तुत सामग्री की सफलता का मुख्य रहस्य यह है कि वह पाठक के जीवन से निकट हो—जो अप्रस्तुत भाव-व्यञ्जना में जितना अधिक कुशल है उतना ही वह कृतकार्य अधिक माना जायगा।

बालकृष्ण और किशोरकृष्ण की शोभा में एक विशेष अन्तर है; ब्रज-नारियाँ बालकृष्ण को देखकर यशोदा के भाग्य की प्रशंसा करती हैं और स्वयं आत्म-विभोर होती हुई उस रूप पर अपना तन-मन निछावर कर देती हैं, परन्तु किशोर-कृष्ण के रूप का प्रभाव समयापेक्षी है—गोपी उसको देखकर एकाएक आत्म-विस्मृत नहीं होती, उसकी रूपमाधुरी में अटक जाती है और शनैः शनैः उसके नेत्र तथा मन परवश हो जाते हैं। सूरदास ने बालकृष्ण का वर्णन परम्परा पर किया है, आलंकारिक सामग्री का पुराना प्रयोग है—'कहि न जात कछु अद्भुत उपमा', 'यह उपमा इक राजति', 'सकल सुख की सींव', 'उपमा एक अभूत भई', 'प्रेम बिवस कछु सुधि न अपनियाँ', 'बड़े भाग जसुदा अरु नन्दहिं' आदि सामान्य कथन उस सुख आनन्दोपलब्धि के ही द्योतक हैं, इस 'ललित शोभा' में समस्त नखशिख लिया गया है, परन्तु शोभा का यह वर्णन किसी प्रकार का उद्दीपन नहीं कर पाता, केवल मनकी अद्वितीयता का ही प्रभाव मन पर छोड़ता है—इससे रति की अपेक्षा भक्ति को अधिक पुष्टि मिली है—

खेलत स्याम अपनें रंग।
नन्दलाल निहारि सोभा, निरखि थकित अनंग।
चरन की छबि देखि डरप्यौ अरुन, गगन छपाइ।
जानु करभा की सबै छबि, निदरि, लई छड़ाइ।
जुगल जघनि खंभ-रंभा, नाहिं समसरि ताहि।
कटि निरखि केहरि लजाने, रहे बन-घन चाहि।
हृदय हरि-नख अति बिराजत, छबि न बरनी जाइ।
मनौं बालक बारिधर नव, चंद दियौ दिखाइ।
मुक्त-माल बिसाल उर पर, कछु कहौं उपमाइ।
मनौं तारा-गननि बेष्ठित गगन निसि रह्यौ छाइ।
अरुन अधर, अनूप नासा, निरखि जन-सुखदाइ।
मनौं सुक, फल बिंब कारन, लेन बैठ्यौ आइ॥ (८२२)

(ख) सोभा कहत कहो नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट, मन न तृप्ति कौं पावै।
प्रति-प्रति अंग अनग-कोटि-छवि, नैन कमल दल-मीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है, होति तहाँ लवलीन ॥१०६६॥

(ग) नद-नंदन मुख देखौ माई।
अग अग छवि मनहुँ उये रवि, ससि अरु समर लजाई ॥१२४४॥

(घ) देखौ माई सुन्दरता कौ सागर।
बुधि-बिबेक बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर ॥१२४६॥

(ङ) विरचि सखि सुन्दरता की सींवा।
अधर अनूप मुरलिका राजति लटकि रहति अध ग्रीवा ॥१२४६॥

प्रश्न यह है कि बाल-कृष्ण और किशोर कृष्ण की इस छवि में भाव कौनसा माना जायगा। यह रूप केवल नारियों के ही मन को प्रभावित करता है, पुरुष तो अहकार में डूबा है कि उसके पास लौकिक झगड़ों से विरत होकर अलौकिक छवि में गोता खाने का अवकाश कहाँ है, इसलिए भक्ति-भाव प्रधानत नारी-भाव है समर्पण-प्राण, निरहकार, प्रतिदानशून्य। अस्तु, तात्विक दृष्टि से सूरसागर की गोपियाँ भावना से नारियाँ है, शरीर से नहीं, पुरुष भी नारी भाव से ही करुणेश की शरण में जाता है, यदि ऐसा न मानें तो समस्त भक्ति साहित्य नारी-साहित्य बन जायगा और कम-से-कम आधा ससार उस अमोघ ओषधि से वचित रह जायगा। नारी का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने से ही भक्ति-साहित्य शृगार-शून्य तथा भक्ति-प्रधान है। इसीलिए सूर के पद न तो सखी को आसक्त करने के लिए है और न उनसे मन उद्दीप्त होना है, भगवान् के इस नखशिख में उज्ज्वल रस है, शुद्ध, वासना-हीन। उपर्युक्त पदों में इसीलिए शुद्ध एव सात्विक उल्लास है, उसमें लौकिक रूप का अलौकिक वर्णन है, जिसका उद्देश्य मन को उलझाना नहीं प्रत्युत मुक्त करना है। कृष्ण के अनग-मोहक रूप को देखकर शरीर की सुधि-बुधि खोनेवाली गोपियाँ और रूप-सुधा-आसव में छका हुआ सूफी सकृद्दृष्टि से एक मालूम पड़ते हुए भी एक-दूसरे से नितान्त भिन्न है, यह दूसरी बात है कि सूफी भी धीरे-धीरे मजाजी से हकीकी की ओर जाने का प्रयत्न करता है।

अस्तु, कृष्ण का मुख्य आकर्षण रूप है और रूप को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय नेत्र है। सूरसागर में जितना वर्णन गोपियों के नेत्रों पर कृष्ण के रूप-प्रभाव का है उतना अन्य इन्द्रिय पर का नहीं, दूसरा स्थान कान को मिल सकता है जो वशी-स्वर से प्रभावित होकर हृदय का द्वार उन्मुक्त कर देता है। मन की पराधीनता का मुख्य उत्तरदायित्व नेत्रों पर ही है, यदि वे द्वार न खोलते तो रूप-दल हृदय-गढ़ पर अधिकार करके मर्यादा-ध्वज को न कुचलता और लज्जा इस प्रकार से न लुट जाती। सूर ने अनेकधा नेत्रों की इस दशा का सरस वर्णन किया है—

(क) नैन न मेरे हाथ रहे !
देखत दरस स्याम सुन्दर को, जल की दरनि बहे ! (२८४८)

(ख) नैना कह्यौ न मानें मेरौ।

मो बरजत-बरजत उठि धाए, बहुरि कियौ नहिं फेरो। (२८३३)

(ग) नैना ऐसे हैं बिसवासी।
आपु काज कीन्हौं हमकौं तजि, तब तैं भई निरासी। (२८९३)

(घ) यह तौ नैननि ही जु कियौ।
सरबस जो कछु रह्यौ हमारैं, सो लै हरिहिं दियौ। (२९२२)

(ङ) कपटी नैननि तैं कोउ नाहीं।
घर कौ भेद और के आगे, क्यौं कहिबे कौं जाहीं। (२९५३)

कृष्ण के रूप का जो वर्णन सादृश्यमूलक अलंकारों की सघनता में किया गया है उसको कवि की अभिव्यक्तिमात्र ही समझना चाहिए और उस अभिव्यक्ति पर कवि के भक्त-पूर्व जीवन का अन्तस्थ प्रभाव भी स्वीकार करना पड़ेगा—

(क) जाकौं ब्यास बरनत रास।
है गंधर्व बिवाह चित दै, सुनौ बिबिध बिलास॥ (१६८९)

(ख) जीती जीती है रन बंसी।
मधुकर सूत, बदत बंदी पिक, मागध मदन प्रसंसी॥ (१६८८)

(ग) नंद-नंदन वृन्दावन चन्द।
जदुकुल नभ, तिथि द्वितीय देवकी, प्रगटे त्रिभुवन-वंद। (२४१३)

ऐसे स्थलों पर कवि के पूर्व संस्कार ही प्रोदित से लगते हैं, वह बाह्य अलंकारों में अधिक व्यस्त हो जाता है, आन्तरिक उल्लास से अपेक्षाकृत दूर रहकर। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के वर्णन बालकृष्ण के ही हैं। मणिमण्डित प्रांगण में सरसिज-कर-पद से घुटनों के बल चलनेवाले बालकृष्ण के चित्र में सम्भावनाएँ देखिए—

(क) चलत पद प्रतिबिम्ब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज सम्पुट सुभग छवि भरि लेति उर जनु धरनि॥ (७२७)

(ख) कनक भूमि पर कर पग छाया इह उपमा इक राजति।
करि करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति॥ (७२८)

इन चित्रों में सबसे सुन्दर वह है जिसमें चलना सीखते हुए नन्दलाल जब गिरने लगे तो तत्काल ही यशोदा उनको सहारा देने के लिए आ गईं, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि सहारा मिलने के विश्वास से गिरना अधिक निश्चिन्त बन जाता है, नन्दरानी की मुखच्छवि देखकर ही श्याम गिरने लगे—उनके कर-युग नीचे झुक गये—मानो चन्द्रोदय की सूचना पाकर कमल-नाल अवनत होना चाहती हो—

डगमगात गिरि परत पानि पर, भुज भ्राजत नँदलाल।
जनु सिर पर ससि जानि अधोमुख, धुकत नलिनि नमि नाल॥ (७३२)

राधा के रूप का वर्णन जितना विद्यापति में है, उतना सूर में नहीं, विद्यापति ने राधा के व्याज से मैथिल नायिका का कामोद्दीपक चित्र प्रस्तुत किया था, परन्तु सूर का अभीष्ट कृष्ण है राधा नहीं। अतः राधा के शैशव के चित्र 'सागर' में नहीं मिलते। किशोरी राधिका एक-दो बार अपनी आभा दिखाकर ही अदृश्य हो जाती हैं। रास से पूर्व 'नागरता की रासि किसोरी', राधा की 'कन्दुक केलि' (१८१२) भी 'श्री गोपाल-

तात' के हृदय से लगने का पूर्वाभास मात्र है। प्राय तो गोपी-मात्र के यौवन में ही राधा की छवि भी अन्तर्निहित है—जिसका सन्देश पाकर श्याम का क्रीड़ा-पर मन शैशव-प्रासाद से उठकर यौवन-सौध में आ गया था—

लोचन-दूत तुमहि इहि मारग, देखत जाइ सुनायौ।
मंत्रव-महलनि तें सुनि बालौ, जोवन-महलनि आयौ॥ (२२०६)

मोहिनी का रूप तो उस समय खिलता हुआ लगता है जब वह अपने प्रियतम के साथ विहार करती है, युवती के रूप की शोभा प्रियतम के सान्निध्य में ही तो है और आध्यात्मिक दृष्टि से भी अंगी कृष्ण हैं, राधा तो उनका अंग मात्र है—अंग का अंगी के बिना रूप ही क्या ? शारदीय रास में 'मोहन को रस-बस करके' (१७६६) मोहने वाली राधा के अंगों की 'रूप रुचिर अंग-अंग माधुरी' (१८१६) भी उतनी आकर्षक नहीं जितनी वियोगतीय राधा की अल्हड़ता, कारण कदाचित् यह है कि सूर खुलकर उसका वर्णन नहीं कर पा रहे, उन्होंने संकेतों से ही काम लिया है (१८१०, १८१३, १८१६, १८२१ आदि), बार-बार 'जहँ-जहँ दृष्टि परति तहँ अरुझति, भरि नहिं जाति निहारी' (१८१५) जैसे कथनों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि नवलकिशोरी की छवि वस्तुत. कवि को रूपमुग्ध कर सकी है, परन्तु उसका वाच्य-वर्णन न करने से ऐसा लगता है मानो कवि या तो संकोच कर रहा है या भावमग्न है। अस्तु, युगलकिशोर की छवि में ही राधा का अपूर्व रूप झलक सका है, अपने समस्त वैभव की आभा के साथ—

हरि-उर मोहिनि-बेलि लसी।
तापर उरग ग्रसित तव, सोभित पूरन-अंस ससी।
चापति कर भुज दड रेख-गुन, अतर बीच बसी।
कनक-कलस मधु-पान मनौ करि भुजगिनि उलटि धंसी।
तापर सुन्दर अचल झांप्यौ, अकित दंसत सी।
सूरदास प्रभु तुमहि मिलत, जनु दाड़िम बिगसि हंसी॥१८१४॥

मोहिनी के रूप का एक ही उद्देश्य है प्रभु को रस-बस करना (१८१५) और मोहिनी का रूप तभी प्रकट होता है जब वह श्याम के सग क्रीडा करती है, परन्तु किशोरी राधा के सौन्दर्य का जहाँ-जहाँ वर्णन मिले वहाँ रास-क्रीडा का पूर्वाभास ही समझना चाहिए, अन्यथा उस सौन्दर्य का कोई प्रयोजन नहीं—कोई अस्तित्व ही नहीं।

राधा का रूप अद्वितीय है, वह ससार के सौन्दर्य का एकत्र सकलन है, क्योंकि राधा प्रकृति का अवतार भी है और विश्व-सुन्दरी भी, यह रूप माधव के साथ विहार में अपनी चरम छवि के साथ प्रकट हुआ था, परन्तु उस समय भावनिमग्न कवि उसका मूल्यांकन न कर सका, जब वियोग की अभागी घड़ी आई तो शनै. शनै राधा का अग-अग मुरझाने लगा, उस समय कवि को भान हुआ कि सयोग-सुख-लालिता राधा कितनी सुन्दर थी, अप्रस्तुतप्रशसा की सहायता से सूरदास ने उसकी कितनी सफल व्यञ्जना की है—अभाव में ही भाव का अनुभव होता है, रूप के मुरझाने पर ही राधा के सौन्दर्य का मूल्यांकन हो सका—

तवतें इन सबहिन सुख पायो।
जबतें हरि सन्देश तिहारो सुनत साँवरो आयो।
फूले व्याल दुरे तें प्रकटे पवन पेट भर खायो।
फूले मिरगा, चौंकि चखन तें हुते जु वन बिसरायो।
ऊँचे बैठि विहग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कदरा ते केहरि हू माथे पूंछ हिलायो।
गह्वर ते गजराज निकसि के अंग-अंग गर्व जनायो।
सूर बहुरिहौ कह राधा के करिहौ वैरिन भायो। (४७५६)

वियोग के इस प्रसंग में काम के कुकृत्य भी कलात्मकरूप में कवि ने पाठकों के सामने रखे हैं, उनमें परम्परा है, भावना भी है परन्तु अनुभूति अपेक्षाकृत कम है, शास्त्रीय दृष्टि से इनमें रूपक अलंकार की सांगोपांगता है—

(क) मधुकर दीन्ही प्रीति बिनाई।
प्रेम बीच बध-बार सुधा-रस अधर माधुरी प्याई॥ (४४७१)
(ख) आयौ घोष बड़ौ व्यौपारी।
खेप लादि गुरु ज्ञान-जोग की ब्रज में आनि उतारी (४५८३)
(ग) तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका-नैननि नदी बढ़ी।
लीनें जात निमेष-कूल दोउ एते मान चढ़ी। (४७३१)
(घ) नैन-घन घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटति सदा पावस व्रज, लागी रहत झरी (४७३२)
(ङ) व्रज पर मँडर करत है काम।
कहियो पथिक स्याम सौं राखें, आइ आपनो धाम।
जलद-कमान बारि-दारु भरि, तड़ित-पलीता देत।
गरजन अरु तड़पन मनु गोला, पहरक में गढ़ लेत।
लेहु-लेहु सब करत बंदिजन, कोकिल चातक मोर।
दादुर निकर करत जो टोवा, पल-पल पै चहुँ ओर।
ऊनी मधुप जसूस देखि गयौ, टूट्यो धीरज पानि (४८८५)

इन सभी वर्णनों में अधिक चमत्कार भाव का है अलंकार का नहीं, अत उद्धव को व्यापारी बनानेवाला रूपक दोप रूपकों से अधिक रमणीय है क्योंकि उसमें उद्धव पर तीखा व्यंग्य है, जिन रूपकों में वियोग दशा के दारुण चित्र हैं वे भी दूसरों की अपेक्षा अधिक मर्मस्पर्शी हैं 'नैन-नदी' की यही विशेषता है, अन्यत्र भी देखिए—

लखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।
मनु पलिका पै परी धरनि धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तट-बारु उपचार चूर, मनो स्वेद-प्रवाह पनारी।
विगलित कच-कुस-कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमत मनो मति भ्रमत चहुँ दिसि फिरति है अंग दुखारी।

निसिदिन चकई ब्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥

अस्तु, कृष्ण के वियोग में गोपियों ने उद्धव से जो कुछ कहा उसमें दो भावनाएँ मुख्य हैं—हृदय की आग और आँखों के अश्रु, हृदय की आग प्राय तो उक्ति-प्रमुख है, परन्तु जहाँ अप्रस्तुत-योजना का आश्रय भी है वहाँ हृदय का क्षोभ ही अभिव्यक्त होता है, ऐसे स्थलों पर जो साग रूपक व्यवहृत हुए हैं उनमें सौन्दर्य अप्रस्तुत सामग्री का काम है अन्तस्थ कटुता का अधिक, 'आयो घोष बड़ो ब्योपारी' तथा 'मुकति आनि मंदे में मेली'[1] आदि इसके निदर्शन हैं, इन अप्रस्तुत-योजनाओं की समस्त सामग्री नित्य-प्रति के जीवन की है, प्राय वाणिज्य से सम्बन्ध रखनेवाली, परिचय के कारण ही यह पाठक मात्र के मन पर इतना अधिक प्रभाव डाल सकी है। नेत्राम्बु के साथ मुख से जो उक्तियाँ निस्सृत हुई हैं उनसे इतना वशीकरण नहीं होता, क्योंकि उनमें परिहास तो है ही नहीं, अश्रु-विमोचन भी विलम्बित बन जाता है, 'प्रीति-दिवाई,' 'नैननि नदी,' 'नैन-घन,' 'प्रीति-छुरी,'[2] तथा 'विधि-कुलाल'[3] के साग रूपक इसी तथ्य का समर्थन करेंगे, इन रूपकों के गर्भ में प्राय उपमा या उत्प्रेक्षा भी रहती है, इनकी अप्रस्तुत सामग्री भी सुपरिचित है परन्तु इनमें अनुभूति स्वल्प है इसलिए इनसे पाठक का रंजन नहीं होता, ये कवि के भक्त पूर्ण जीवन का कुछ आभास देते हैं जिस जीवन को इनमें अप्रस्तुत बनाया गया है वह परिचित होते हुए भी मोदक नहीं है, अत पाठक उसमें तल्लीन नहीं हो पाता। तीसरे प्रकार से साग रूपक सामान्य प्रसंग में व्यवहृत हैं, 'सोभा-सिन्धु न अन्त रही री' जैसे संयोग में तथा 'ब्रज पर मँडर करत है काम' तथा 'लखियत कालिन्दी अति कारी' जैसे वियोग प्रसंग में इसी कोटि के हैं, इनमें उक्ति गोपी की न भी मानी जाय तब भी काम चल सकता है, जो अनुभूति कवि के मन में जगी थी उसी का यहाँ आस्वाद हो सका है।

सूर की प्रशंसनीय मौलिकता उन स्थलों पर है जहाँ उन्होंने साग रूपक भी व्यंग्य के चमत्कार से भर दिये हैं। 'सागर' के वियोग खण्ड में 'मधुकर' तथा 'अली' शब्दों का प्राय सर्वत्र ही श्लिष्ट प्रयोग है, जो 'श्याम'[4] के श्लिष्ट प्रयोग के समान ही भावाश्लिष्ट है। 'मधुकर' का सबसे सुन्दर प्रयोग 'रहु रे, मधुकर! मधु मतवारे'[5] में

---

१ मुकत आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न ऊधौ, यह तुम पै सब पूँजि अकेली॥४३४२॥

२ प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट-कन पाछे करत बुरी॥३८०३॥

३. ऊधो भली करी ब्रज आये।
विधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाये॥४३६६॥

४ निरखत अंक स्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गइ स्याम स्याम की पाती।

५. रहु रे मधुकर मधु मतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे।

है, यहाँ 'मधु' का श्लिष्ट अर्थ लेकर भ्रमर तथा मद्यप को समान तो बताया ही है, कुब्जा पर भी एक तीखा व्यंग्य है—

> तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
> घरी-पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥

स्त्री का सबसे बड़ा गुण कुलस्त्रीव्रत है और सबसे महान् दुर्गुण कुलटापन, अतः किसी अन्य स्त्री को बुरा बताने के लिए नारी उसको कुलटा बताया या बनाया करती है—उसे इसी बात का गर्व है कि मैं दुःख में हूँ तो क्या अपने कुल-स्त्री-धर्म का तो बाधा-निवारण-पूर्वक पालन कर रही हूँ, और वह यदि अपने सर्वस्व धर्म के बदले कुछ आदर पा गई तो क्या, मणि के सम्मुख काँच के टुकड़ों का क्या मूल्य ! इसीलिए समस्त साहित्य स्त्री के इसी गौरव की मुक्तकण्ठ से स्तुति करता है। वाममार्ग से प्रभावित परकीया-प्राण साहित्य में कुलागनाओं को फुसलानेवाली दूती कुलटात्व को इसी हेतु प्रेम का आवरण पहनाकर[1] उसको कुलधर्म से अधिक सुन्दर दिखलाया करती है। 'एकनिष्ठता,' 'पतिव्रत' या 'कुल-स्त्री-धर्म' नारी का स्वभाव है, यदि वह इसके विपरीत आचरण करे तो उसको नारी का विकार ही समझा जायगा, परन्तु पुरुष की प्रकृति एकनिष्ठता नहीं है, वह यदि उच्च बनकर एकपत्नीव्रत का पालन करता है तो वह महान् है—समस्त जीवन का गौरवमय चित्र प्रस्तुत करके भी आदि-कवि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम के जीवन में इस एक-पत्नीव्रत का दृश्य इसीलिए अनिवार्य समझा। अस्तु, पुरुष को मधुप घोषित करना कोई गाली नहीं है, परन्तु नारी को 'कुसुम' सिद्ध कर देना उसकी जीवनसञ्चित प्रतिष्ठा पर निर्मम आघात है। गोपियाँ क्षुब्ध होकर इसीलिए अपना सर्वस्व अपहरण करनेवाली कुब्जा को 'कुसुम' बनाकर उसको मुख दिखाने योग्य नहीं रहने देती—एक ही शब्द में कितनी सामर्थ्य है। एक दूसरे स्थल पर 'बेली' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करके सूर ने ब्रजनवेली गोपियों का मथुरा की नवेली कुब्जा से पार्थक्य बताया है जिसमें लता-अप्रस्तुत की सहायता से सांग रूपक भी है तथा गोपियों के प्रेम की सहज व्याख्या भी—

> ये बल्ली बिहरत वृन्दावन अरुझी स्याम-तमालहिं।
> प्रेम-पुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं॥
> जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूप-डार ढिग लागी।
> सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन अनुरागी॥४१२६॥

इस पद के प्रथम चरण में प्रत्येक शब्द में ध्वनि भरी हुई है, अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट है—"जब ये लताएँ शनैः शनैः वृद्धिमती हुई तो वृन्दा नामक वन में एक श्याम

> लोटत नीच परागपक में पचत, न आपु सम्हारे।
> बारबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे॥

१ विद्यापति के निम्नलिखित चरण देखिए—

> कुल-व्रत धरम काँच सम तूल। मदन-दलाल भेल अनुकूल॥
> कुल कामिनि छलौं, कुलटा भइ गेलौं, तिनकर वचन-लुभाई॥

प्रथम उदाहरण में योग को निस्सार तथा व्यर्थ वस्तु सिद्ध करके यह सङ्केत दिया गया है कि योग की मथुरा में भी कोई पूछ न हुई तो उद्धव अपनी चालबाजी से इसको गोकुल में भेडने के लिए आये। दूसरा उदाहरण भक्ति को राजपथ[1] बनाकर निर्गुण को उस मार्ग का बाधक सिद्ध करता है, उस समय निर्गुण तथा योग भक्ति के सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी थे, तुलसी के शब्दों में "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग"। द्यूत-क्रीडा में जय और पराजय दोनों ही बुरी मानी गई हैं, निश्चय ही ऐसी पराजय मनुष्य को मुख दिखाने योग्य नहीं रहने देती जिसमें वह अपना सर्वस्व लुटा बैठे हितैषियों के मना करने पर भी जुआ खेलकर, राधा की दशा ऐसे ही हठी पराजित जुआरी की सी है। सर्प की श्वास संसार को व्याकुल ही करती है, उससे न अपना उपकार होता है और न विश्व का, इसी प्रकार असफल प्रेम की निश्वासें निष्फल तथा निष्प्रयोजन हैं, केवल ढिकलनेवाले समय की सूचिका। अन्तिम उदाहरण एक परिचित घटना का स्मरण कराता है, आपके पास जो अमूल्य रत्न है उसको यदि आप किसी पुरानी थैली में रख देंगे तो अपनी लापरवाही के कारण उससे हाथ धो बैठेंगे क्योंकि वह किसी भी समय चुपचाप खिसक जायगा, श्याम ने स्नेह रूपी रत्न को ऐसी अनवधानता के कारण गँवा दिया प्रीति की पुरानी थैली में रखकर—यहाँ 'प्रीति' तथा स्नेह दो शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग है, 'प्रीति' मेल जोल या परिचय सम्बन्ध का नाम है और 'स्नेह'[2] हृदय के नैकट्य का, प्रीति ही स्नेह का संरक्षण करती है, यदि प्रीति जीर्ण-शीर्ण हो गई तो स्नेह भी मन्द पड़कर नष्ट हो जायगा।

'सूरसागर' (दशम स्कन्ध) का समस्त सौन्दर्य गोपियों पर निर्भर है, अभी तक अध्ययन नहीं हुआ परन्तु भाव की आधार-रज्जु पकड़कर उस सागर में डुबकी लगानेवाला आलोचक उन रमणी-रत्नों की व्यक्तिगत विशेषताओं से अवगत हो सकता है और तदनन्तर समस्त गोपियों को प्रकृति-भेद पर कुछ निश्चित वर्गों में रखना सम्भव है, कुछ गोपियाँ वयोवृद्धा हैं तो कुछ अल्पवयस्का, कुछ प्रकृतिगम्भीरा हैं तो कुछ चंचला तथा रसीली, कुछ वियोगखिन्ना हैं तो कुछ वञ्चनाक्षुब्धा, फिर भी वे सब नारियाँ हैं, अतः उनमें अभिधा से बहुत कम काम लिया गया है, और बाहरी शोभा का भी बलात् आरोप नहीं। अस्तु, सागर के काव्य-सौन्दर्य में शब्द-शक्ति का विशेष योग है, अलंकारों की छटा उतनी नहीं। यह गुण भ्रमरगीत के प्रसंग में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, ज्ञानी, गम्भीर तथा अपटु उद्धव को बनानेवाली गोपियाँ विदुषी नहीं हैं फिर भी उनका क्षोभ पाठक पर सफल प्रभाव डालता है। सूर ने जिन

---

१ तुलना कीजिए—
गुरु कह्यौ रामभजन नीकौ, मोहि लागत-डगरो-सो॥ (तुलसी)

१ 'प्रीति' तथा 'स्नेह' की तुलना के लिए निम्नलिखित उदाहरण देखिए—
(क) मधुकर प्रीति किये पछितानी॥
(ख) प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ॥
(ग) परम सुखद सिसुता को नेह॥

वीन परिस्थितियों की उद्भावना की है वे भी इस स्त्रियोचित गुण के अनुकूल हैं। भ्रमर-गीत में राधा को बोलने का अवसर स्वल्प ही प्राप्त हुआ, परन्तु सखी-मुख से कवि ने उसकी समस्त व्यथा को अभिव्यक्त कर दिया। एक तो युवतियों की मण्डली फिर उसमें वियोगमुग्धा राधा की वेदना को जता देने की प्रतिज्ञा, सारा वातावरण हास्य-वातावरण से वलित हो गया। इन स्थलों पर शास्त्रीय सौन्दर्य भले ही न हो, परन्तु सहज सौन्दर्य की अवहेलना नहीं हो सकती—

(क) तू अलि ! कासों कहत बनाय।
 बिन समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कह्यौ गाय॥ [१]

(ख) आए जोग सिखावन पाँडे।

(ग) काहे को रोकत मारग सूधो।

(घ) निर्गुन कौन देस को बासी ?

(ङ) हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत ?

(च) जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत-जातो।

इन पंक्तियों में गोपियों ने यह सफल प्रयत्न किया है कि उद्धव के उपदेश को परिहास में ही उड़ा दिया जाय अन्‍ उनके एक-एक शब्द में परिहास झलक रहा है—चिढ़कर मानो वे उद्धव के साथ एक शैतानी कर रही हैं। "एक बार कह्यौ गाय" से पुनरच (वन्स मोर) या 'हाँ साहब, एक बार फिर हो जाय' की मजाकिया ध्वनि निकल रही है; 'पाँडे' शब्द में उनका दुरूपन टपकता है, 'काहे को रोकत मारग सूधो' से यह व्यंजना होती है कि उद्धव भी भक्तिमार्ग को ऋजुपथ समझते हैं परन्तु शठतावश उसका विरोध कर रहे हैं; आगे का उदाहरण उस परिस्थिति में है जब सब कुछ सुनकर गोपी पूछने लगे कि आखिर यह निर्गुण है क्या बला? अन्तिम दो उदाहरण उपदेश की गम्भीरता को मुसकराहट में उड़ा देना चाहते हैं।

सूर-सागर मुक्तक काव्य है, इसमें कोमलता तथा माधुर्य का मस्त सचय है। यद्यपि कथा का आश्रय ले लिया गया है फिर भी कथा पृष्ठभूमि में ही रहती है। अतः सूरदास के निकट प्रस्तुत कथा का कोई प्रश्न नहीं, प्रस्तुत रूप में तो वर्णन हो आते हैं जिनके अनेक प्रकार हैं—केवल रास की लीला ही अनेकशः अनेक पदों में अनेक प्रसंगों के साथ वर्णित है, वियोग-खंड का भ्रमरगीत भी एक छोटी-सी बात को सहस्र पदों में चित्रित करता है। प्रस्तुत कथा का अभाव और अप्रस्तुत दृश्य या वर्णन

१. नौं क्लास के छात्रों से तंग आकर जब एक उत्साही अध्यापक उनको उपदेश देने लगे तो दो-तीन मिनट का समय था; विद्यार्थी चुप रहे, परन्तु जैसे ही उनका उपदेश समाप्त हुआ एक शैतान छात्र खड़ा होकर बोला—'पार्डन सर' अर्थात् जो आप कह रहे थे वह समझ में नहीं आया, इस बार ध्यान से सुनेंगे एक बार फिर कह दीजिए; अध्यापक इनको सुधार से परे जानकर चिढ़ते हुए रोष में क्लास से बाहर चले गये। ठीक यही घटना प्रो० उद्धव के साथ हुई, लड़कियों की उस क्लास में वे गरम भी तो न हो सके।

की प्रचुरता सूर के काव्य को रमणीय तथा मनोहर बनाते हैं। अप्रस्तुत-योजना का सूर में इसी अर्थ में प्राचुर्य है, उनमें अप्रस्तुत वस्तु या अलंकार का इतना प्राधिक्य नहीं जितना अप्रस्तुत विषय या कल्पनोद्भूत वर्णन का, यथा में प्रसंगों की उद्भावना जिस मनोरमता की सृष्टि करती है वह मुक्तक काव्य में वर्णन-प्राचुर्य से सपादित होता है। देश-काल का तो प्रश्न कम है परन्तु पात्र-भेद से एक ही वस्तु अनेकधा दृष्टिगत होती है, उसकी प्रतिक्रियाएँ अनेक नवीनताओं को जन्म देती हैं। गोपियाँ तो ६० हजार थीं, किसी भी प्रसंग की साठ हजार हृदयों पर क्या प्रतिक्रिया होगी—इसी का प्रश्न अकृत सूर-काव्य का सौन्दर्य है। सूर ने भजनपूर्ण जीवन का पाण्डित्य त्याग-सा दिया था, इसलिए स्थूल अलंकारों की छटा दोसान्तर काव्य में बहुत कम है, वहाँ उसका स्थान वर्णन-वैविध्य तथा उक्ति-सौन्दर्य ने ले लिया है।

सूर की राधा

आभीर संस्कृति के लोकरत्न 'कान्ह' और 'राही' जब अकस्मात् आर्यजाति को मिल गये तो आर्यजाति ने उनके 'कान्ह' और अपने 'कृष्ण' में एकरूपता खोजकर दोनों का एकीकरण कर लिया, परन्तु उनके इतिहास में 'राधा' जैसी कोई नारी थी ही नहीं, अतः 'राही' तथा 'राधा' के एकीकरण के लिए आर्यजाति को उस समय तक प्रतीक्षा करनी थी जब तक कि भक्ति-सुधानिधि की सबसे उज्ज्वल मणि के रूप में राधा स्वयं ही वीचिविक्षोभविह्वला के समान व्रज के कछारों में न आ पड़ी। आभीर कान्ह अपनी जाति के बीच गायें चराकर जीवन निर्वाह करते थे और वे सबसे चतुर तथा नटखट, राही से उसी समय उनका मन मिल गया, परन्तु कुछ समय पीछे उनके जीवन में एक परिवर्तन आया जिसने उनको राजा बना दिया, फिर उनका अपनी जाति से मानो नाता ही टूट गया, राही ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और तन मन से सहा, उसको विश्वास था कि प्रेम का परिणाम भला होता है—कान्ह अवश्य उसको अपने साथ ले जावेंगे, परन्तु वह आजीवन प्रतीक्षा ही करती रही और मरणोपरान्त भी उसी विश्वास के साथ अपने प्रिय का पथ देखती रही है। आज भी जब एक व्यक्ति, युवक या युवती, दूसरे के साथ विश्वासघात करता हुआ उसको तड़पता हुआ छोड़ जाता है, तो ऐसा लगता है मानो 'राही' की अमर आत्मा अवतरित होकर इस भाग्यवान् अभागे को साहस बँधा रही हो—"सावधान, प्रणय-पथ का सम्बल है विश्वास, वासना का जो उद्वेग मन में उठ रहा है उसको खारे अश्रुजल से धोकर ही तुम अपने हृदय को प्रेमामृत का उपयुक्त पात्र बना सकते हो, देखो निश्वासों की ऊष्मा से भी इसकी शीतलता में व्याघात न पहुँचे, हमारा आदर्श तुम्हारे सामने है, तुम जैसे असख्य प्रणयवंचितों के पथ-निर्देश के लिए ही भगवान् ने मुझे भेजा था और उस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए ही तो मैंने मोक्ष की कामना न करके अन्तरिक्ष में पड़ा रहना पसन्द किया है।"

काव्य में राधा को स्थायी रूप से जयदेव ही लाये थे, उनकी राधा 'कोकिल कूजित-कुञ्ज-कुटीर' में 'पीन पयोधर-भार-भरेण' 'नीलकलेवर पीतवसन वनमाली' को

सराग परिरम्भण करने की 'विलासकला' में, मुग्धा होने पर भी, दक्ष है; 'अधर-सुधा-पानेन' सम्मोहित करनेवाली उस 'नितम्बिनी' का 'सुकृतविपाक' 'रतिविपरीत' में तड़ित के समान मुरारि के उर पर सुशोभित होना ही है। विद्यापति में भी राधा का यही रूप है, 'नवयुवती' 'केलिकलावती', वह कुलकामिनी थी परन्तु कान्ह के 'मधु-सम-वचन' से लुभाकर वह कुलटा बन गई और प्रेम के मन्द परिणाम पर जीवन भर पछिताती रही—'कुल-गुन-गौरव' तथा 'सति-जस-अपजस' को 'मदनमहोदधि' के वेग में तिनके के समान बहा देने से और क्या मिल सकता था? विद्यापति में जयदेव के समान विलास तो है ही, प्रेमाभिधेय काम की असफलता तथा तज्जन्य पश्चाताप की भी कमी नहीं, राधा मुग्धा से लेकर प्रौढ़ा तक के रूप में मिलती है, उसने जो कुछ किया वह दूती के बहकाने से ही, वह मानो बदनाम हो गई है इसलिए न संसार को मुख दिखला सकती है और न अपने बचे हुए जीवन को सुख से बिता सकती है। विद्यापति के समकालीन चण्डीदास ने जिस अनन्य 'पिरित रस' के गीत गाये थे उसमें 'कामगन्ध नाहि', 'कुल शील जाति मान' सब कुछ उसी 'आमार प्राण' 'बन्धु' को समर्पित कर देने पर किस कलंक का डर, किस अच्छे-बुरे का विवेक—

कलंकी बलिया डाके सब लोके,
 ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलंकेर हार,
 गलाय परिते सुख।
× × × ×
सती वा असती तोमाते विदित,
 भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम,
 तोमार चरण खानि।

चण्डीदास का व्यक्तिगत जीवन राधा के जीवन में भली भाँति झलकता है, यहाँ मिलन की घड़ियाँ तो बहुत थोड़ी है—मिलन तो मानो हुआ ही नहीं, और यदि मिलन के कुछ क्षण जीवन में आये भी तो वे आशंका से खाली नहीं थे, विच्छेद[1] के डर से मिलन में भी दोनों रोते ही रहे, और एकत्र[2] रहकर भी प्रिया ने प्रिय के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया। चण्डीदास का प्रेम 'किछु किछु सुधा, विषगुण आधा' है, वस्तुत प्रेम में सुख नहीं मिलता फिर भी दुख के डर से प्रेम का त्याग उचित नहीं[3], प्रीति की कसौटी ज्वाला[4] ही है—जिसके मन में जितनी ज्वाला अधिक है उसकी प्रीति भी उतनी ही तीव्र होती है, सुख के लिए प्रेम करनेवाली को चण्डीदास ने सावधान कर दिया है—

---

१. दुहुँ कोरे, दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।
२ एकत्र थाकिव, नाहि परशिव, भाविनी भावेर देहा।
३ प्रेमे दुःख आछे बलिया प्रेम त्याग करिवार नहे। (रवीन्द्रनाथ टागुर)
४ जार जत ज्वाला तार तत पिरीति।

कहे चण्डीदास, शुन बिनोदनी, सुख दुख दुटि भाइ,
सुखेर लागिया जे करे पिरीति, दुख जाइ तार ठांइ।

इस भाँति 'सौन्दर्य पिपासा' तथा विलास की प्रतिमूर्ति राधा यहाँ आकर हृद-यस्थ ज्वाला की मूर्तिमती प्रतिमा बन गई, जिसने अपनी गूढ़ वेदना से समस्त कलुष तथा वासना को भस्मसात कर लिया, अब वह परमार्थ में भी आदर्श बन सकती थी।

सूर की राधा बचपन से ही हमारे सामने आने लगती है। कृष्ण कुछ बड़े हो गये थे, माखन चोरी करने लगे थे, गाय चराने जाया करते थे, व्रज में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी, व्रज युवतियाँ सुन्दरता के इस सागर को देखकर अनेक वार अपना 'बुद्धि-विवेक' खो चुकी थी। अभी राधा एक सामान्य गोपी है, उसका कृष्ण से कोई विशेष परिचय नहीं। परन्तु एक दिन व्रज की बाल मण्डली के साथ खेलते हुए कृष्ण राधा की ओर[1] देखते हुए चले गये। वह क्षण राधा के जीवन में एक नया रंग ले आया, जहाँ भी वह जाती है उसे श्याम की वह 'मृदु मूरत' दिखाई पड़ जाती है—न जाने श्याम जान-बूझकर उसकी आँखों के सामने बार-बार आते हैं, या संयोग अपने गर्भ में कुछ विशेष रहस्य छिपाए हुए है। राधा के मन में उल्लास था, ईश्वर ने उसको गोरा रंग और विशाल नेत्र दिये थे, उसकी माता उसके माथे पर रोली का लाल टीका लगा देती[2] और पीठ पर लटकने वाली झालरदार चोटी में फूल गूँथ देती थी। गोरे रंग पर आसमानी साड़ी में बादलों के बीच बिजली के समान राधा की छवि एक दिन कृष्ण की आँखों में चकाचौंध पैदा कर गई, दोनों के नेत्र एक क्षण के लिए मिले फिर नीचे हो गये, और फिर-फिर मिलने के लिए फुदकने लगे। अवसर पाकर कृष्ण ने पूछा—"सुन्दरी, तुम कौन हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ? व्रज में कभी तुमसे मिलना नहीं हुआ।" राधा में यौवन छिपकर झाँक रहा था, उसने विभ्रम से अभिनव मुद्रा बना कर उत्तर दिया—"हमें क्या पड़ी है तुम्हारे ब्रज आने की, हमारा ही इतना भव्य भवन और विशाल प्रदेश है (तुम किसी दिन आकर देखो तो तुम्हारी भी आँखें खुल जायें) हम तो वहीं सुन लिया करते हैं कि नंद के पुत्र घर-घर से माखन और दधि चुरा-चुरा कर खाते रहते हैं।" कोई हमारे विषय में सबकुछ जानता है और बहुत दिनों से जानना चाहता है—इससे बढ़कर मन को भुलावे में डालने वाली कोई दूसरी बात नहीं, राधा और कृष्ण दोनों ही इसके शिकार हुए, प्रथम मिलन में ही दोनों ने चुप-चाप 'संग मिलि जोरी' की कल्पना की—क्या ही अच्छा हो अगर हम साथ-साथ खेला करें। नेत्रों के मिलने पर मन मिल गया, और उनको ऐसा लगा मानो वे तो जन्म जन्मान्तर से एक दूसरे के परिचित हैं। यह 'प्रथम स्नेह' था, कृष्ण ने चलते-चलते राधा से कहा—"कभी हमारे यहाँ खेलने आओ न, मैं व्रज ग्राम में रहता हूँ,

---

१ व्रज-लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिए चकडोरि।
सूरस्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियौ अजोरि॥ (१२८८)

२. औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥ १२९०॥

नन्द के घर, द्वार[1] पर आकर पुकार लेना, मेरा नाम 'कान्ह' है, · · · तुम बड़ी भोली-भाली लगती हो, इसलिए मन[2] तुम्हारा साथ करना चाहता है।"

राधा के मन में खलबली मचने लगी, ऐसा लगता था मानो एक बार हाथ में आकर कुछ छिन गया हो। वह अपने घर को चलने लगी तो मार्ग में सखी से बोली—"बड़े आये घर वाले, किसी को क्या गर्ज पड़ी है जो इनके घर जाय"[3]। प्रेम का आरम्भ उस समय समझना चाहिए जब मन के प्रगट उल्लास को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए अन्तरंग सखी से भी झूठ बोला जाता है—तू कहीं की, यह भी कोई बताने की बात है हमारे परस्पर के व्यवहार से भी इतना अनुमान नहीं लगा सकती कि हम एक दूसरे को प्रेम करते हैं। दिन बीते और 'नयें प्रेम रस पाले' राधा और श्याम अपने अनुराग[4] में डूबकर हर तीसरे दिन सैर करते हुए दिखाई पड़ने लगे। इस बीच राधा यशोदा के घर भी आई, श्याम ने माता से उसका परिचय[5] कराया, नन्दरानी को राधा बड़ी अच्छी लगी, वह अपने हाथ से 'राधा कुँवरि' को सजाती है और श्याम-राधा की इस जोड़ी को मन में मोद भरकर देर तक देखती रहती है। प्रीति की यह कथा छिपी न रह सकी, श्याम और राधा बहुत से बहाने बनाकर मिलने लगे तो सखियों के मन में यह बात खटकी, वे राधा के इन ढगों[6] पर ताने देने लगीं—अपने घर में तुझसे बैठा भी नहीं जाता और अगर बाहर आना है तो क्या बिना बने ठने[7] नहीं आ सकती। सभी बातें बचपन कहकर टाली भी तो नहीं जा सकतीं,[8] लोग सदेह की दृष्टि से देखते हैं और अंगुली उठाने लगते हैं। इस प्रकार चलते-चलाते समय बीतता चला गया, राधा अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठी, न उसके माता-पिता को इसमें कोई आपत्ति थी और न नन्द-यशोदा को। शरद् की रात्रि आई, वृन्दावन में रासलीला प्रारम्भ होगई, राधा का यहाँ भी मुख्य भाग था[9]—अगर दूसरी गोपियाँ भी कृष्ण को चाहती हैं तो चाहा करें, रास में मुख्य भाग तो मुझी को देते हैं और सारे ब्रज में यह बात फैली हुई है कि कृष्ण राधा के वश में हैं,[10] इससे बढ़कर और सौभाग्य क्या चाहिए? सूर का

---

१ खेलन कबहु हमारे आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।
द्वारें आइ टेरि मोहि लीजौ, कान्ह हमारो नाउँ॥ १२९२॥

२. सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातैं करियत साथ॥ १२९३॥

३ सग सखी सों कहति चली यह, को जैहै इनकें दर॥ १२९४॥

४ अनर वन-विहार दोउ क्रीडत, आपु-आपु अनुरागे॥ १३०४॥

५ मैया री तू इनकौं चीन्हति, बारबार बताई (हो)॥ १३१८॥

६ राधा ये ढँग हैं री तेरे॥ १३३६॥

७. कै बैठी रहि भवन आपनें, काहे कौं बनि आवै॥ १३४९॥

८. लरिकाई तबही लौं नीकी, चारि बरष के पांच॥ १३८८॥

९. सुनहु सूर रस-रास नायिका, सुन्दरि राधा रानी॥ १६५५॥

१०. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन॥ १६७८॥
स्याम काम-तनु-आतुरताई, ऐसे स्यामा-बस्य भए री॥ १६१९॥

कोमल हृदय यह मानने को तैयार नहीं कि राधा-कृष्ण का विवाह नहीं हुआ—विवाह और क्या होता है, कुंज-मडप में सैर करते हुए घूमना ही तो[1] भावरी है और प्रीति की *ग्रन्थि ही तो विवाह का बन्धन है*, इस प्रकार 'एक प्रान द्वै देह' होकर रास करना साक्षात् विवाह[2] ही तो है। कभी कभी रूठना-मनाना चलता था, परन्तु प्रत्येक मिलन में नया और दूना उत्साह आजाता था, 'अनगिन भांति' राधा और कृष्ण ने क्रीडा करके *ब्रजलोक को सुख दिया और सबकी मनोकामना को यथायोग्य पूरा किया।*

यही राधा से एक भारी भूल हो गई, ऐसी भूल जिसका पश्चात्ताप हो नही सकता। कृष्ण कहते थे कि राधा उनकी है और ससार कहता था कि कृष्ण राधा के है, *राधा ने इसका यह अर्थ समझा कि कृष्ण मानते है कि वे राधा के हैं—अगर उनके* मन में तनिक भी द्विविधा होती तो स्पष्ट कह देते—'राधा, ससार हमारे तुम्हारे सबध को गलत समझ रहा है, हमको अलग रहना चाहिए क्योकि शायद हम लोग जीवन भर *के लिए एक न हो सकें।' एक बार जब एक सखी ने कृष्ण के व्यवहार को सन्देह की* दृष्टि से देखकर कहा कि यह प्रेम[3] दोनो पक्षो में समान नही है तो राधा को उस सखी पर 'रिस' आ गई—मूर्खा, बोलना नही जानती तो चुप रह, वे बुरे हो या भले हो, हैं *तो अपने ही,*[4] *अगर हम भले है तो सब भले हैं*[5], *क्या तू यह समझती है कि* कृष्ण मुझको कभी इस जीवन में भूल भी[6] सकते है, देख श्याम मेरी ओर देखकर ही एक विचित्र प्रकार से मुस्कराया करते हैं[7]। सचमुच श्याम उस समय राधा के हो चुके *थे, वैदिक विधि से विवाह तो नही हुआ था परन्तु इस सामान्य रीति के अतिरिक्त और* कमी भी क्या रह गई थी, राधा का कृष्ण पर अनन्य अधिकार इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राधा मान करती है तो कृष्ण उसको हर प्रकार से मनाते हैं, सिर चढाकर घुमाने *तक में उनको हिचकिचाहट नही। मोहन पर उसका कुछ ऐसा जादू हो गया था कि वे* राधा के इशारे पर ही नाचते थे—अपना काम छोडकर उसके साथ चले[8] जाते थे। जब बात यहाँ तक बढ गई तो एक दिन राधा ने कहा—यह भी कोई बात है भला,

---

१ तब देत भावरि कुंज-मडप, प्रीति ग्रंथि हियैं परी॥ १६६०॥

२ जाकौं ब्यास बरनत रास।
है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनौ बिबिध बिलास॥ १६८६॥

३ सजनी श्याम सदाई ऐसे।
एक अंग की प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे॥ १८६६॥

४ स्यामहि दोष देहु जनि माई।
वे जो भले बुरे तौ अपने ॥ १६३१॥

५ आपु भलाई सबै भलेरी॥१६७३॥

६ तू जानति हरि भूलि गए मोहि॥ (१६७५)

७ स्याम कछु मो तन हो मुसुकात॥ (१६६१)

८ मोहन कौं मोहिनी लगाई, सगहि चले डगरि कै। (२०५५)

आप जरा भी ध्यान नहीं रखते, मुझे बड़ी लज्जा आती है,' आप यह भी नहीं जानते कि सब बातें सबके सामने कहने और करने की नहीं होतीं'[1] यह श्याम की परीक्षा थी—देखें वे क्या उत्तर देते हैं। श्याम ने स्वयं तो कुछ न कहा परन्तु सखामुख से कहलवाया कि संसार हँसता है तो हँसने दो, उसकी क्या परवाह करती ?[2] अन्त में इसीलिए उसने निश्चय किया था कि अब जो कुछ हो, होता रहे विधि की प्रेरणा[3] से हो हमारा प्रेम बढ़ा है उसका भरसक निर्वाह भी मैं करूँगी। राधा निश्चिन्त थी, उसमें अभिमान[4] आ गया, अब वह अपने को कृष्ण की 'विशिष्ट' सहचरी समझने लगी, और सारी सखियाँ मन ही मन उसकी प्रतिकूल बन गईं। यह राधा के जीवन का चरम सौभाग्य[5] था कि कृष्ण की अनन्या प्रेयसी बनकर वह सबकी आँखों में खटकने लगी—सब की ईर्ष्यालु दृष्टि[6] राधा के इस सौभाग्य में विघ्न देखने की कामना कर रही थी।

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का सूर ने जो वर्णन किया है उसमें न जयदेव के समान विलास है, न विद्यापति के समान केलि और न चंडीदास के समान भावी विच्छेद के भय से मिलन में भी दुःख, सूर की राधा में विश्वास तथा उल्लास है, जिनका आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है तथा समाज की चर्चा भी, जब विश्वास जम चुका तो फिर लोकनिन्दा का कौन डर ? संसार से भय उसी समय तक रहता है जब तक कि प्रेम का परिपाक न हुआ हो, फिर तो 'चवाव' भी सौभाग्य बन जाता है—जो जलते हैं वे जला करें हमारे भाग्य में तो भगवान् ने सुख लिख दिया है उसे क्यों न भोगें ? राधा के प्रेम में स्थूल उपकरण कम सहायक होते हैं सूक्ष्म भावनाएँ अधिक—मन की परवशता, पूर्व संस्कार, संयोग तथा भावना।

संगीत में छोंक के समान जब एक दिन अक्रूर उस लीलामय जीवन में विघ्न बनकर आ गये तो सारे ब्रज में खलबली मच गई। कृष्ण ने राधा से कहा—'मुझे कंस ने बुलाया है, मैं मथुरा जा रहा हूँ।' राधा अपने कानों पर विश्वास न कर सकी, फिर वह सोच में डूब गई, उसका गला भरा हुआ था—मुख से कुछ भी उत्तर न

---

१ श्यामहि बोलि लियो ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि माझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति-पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानि है स्याम मतारी। (२१७५)

२ सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै संसार। (२१७६)

३ अब तो स्यामहि सौं रति बाढ़ी, बिधना रच्यौ संजोग। (२२८१)

४ राधा हरि के गर्व गहीली।
मंद मंद गति मत्त मतंग ज्यों, अङ्ग-अङ्ग सुख-पुंज भरीली। (२३६०)

५ तो सी को बड़भागिनि राधा, यह नीकैं करि जानी। (२५१६)

६ तुम जानति राधा है छोटी।
चतुराई अङ्ग-अङ्ग भरी है, पूरन-ज्ञान, न बुद्धि की मोटी।

निकला,[1] एक अज्ञात भय उसकी आंखों में नाचने लगा—मिलन की यह अन्तिम वेला थी। रथ तैयार था, कृष्ण बैठ गये और कुछ देर में दूर पर धूलि ही उड़ती दिखाई पड़ी, अन्त में वह भी आंखों से ओझल हो गई—राधा को होश नहीं था, वह नहीं जानती थी कि यह सब हो क्या रहा है, जब वह चेती तो सिर पीटना और हाथ मलना[2] ही बाक़ी बचा था। मथुरा की सब घटनाएँ घटीं, नन्द लौटकर ब्रज आ गये, ग्वालों को सारी बात मालूम हुई, सबको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कृष्ण राधा को बिलकुल छोड़कर कंस की एक कुबड़ी दासी कुब्जा को घर में डाल रखना चाहते हैं[3]। कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा! कोई तुलना भी हो सकती है क्या!! राधा का जीवन ही बदल गया, सारा ब्रज उसी की बातें करता है—सभी लोग उसी को लक्ष्य करके कृष्ण को दोष देते हैं। पापी समाज! न पहले मेरे सुख को देख सका न अब मेरे दुख को। राधा को ऐसा लगता है मानो सहानुभूति दिखाने के बहाने लोग उसको चिढ़ा रहे हैं। कोई कहता है उनको तो कुछ दिन ब्रज में ऐश करना था[4], अन्य का आक्षेप है कि श्याम ने बहुत बुरा किया प्रेम दिखाकर गले पर छुरी फेर दी[5], एक ने कहा—वे तो स्वार्थी थे स्वार्थी, वे प्रेम का निबाहना क्या जानें[6]। कुछ गोपियाँ कृष्ण का मजाक उड़ाने लगीं—सुना है अब तो वे राजा हो गये हैं और मुरली तथा गायों का नाम सुनते ही उनको लज्जा आती है (३८११)। परदेशी के प्रेम का विश्वास ही क्या, वह पहले प्रीति बढ़ाता है, फिर अपने देश चला जाता है दूसरे को पछिताता छोड़कर[7]—हम तो प्रतिदिन यही देखती हैं, हमने तो पहले ही कह दिया था कि ऐसा ही अन्त होगा इस 'परेम' का। राधा को बड़ी खीझ आती है—सब बातें बनाने वाले हैं कोई ऐसी युक्ति तो बतलाता नहीं जिससे वे फिर मिल सकें[8]। राधा ने अपने को ही दोष दिया—मेरे प्रेम में ही कुछ कपट होगा जिससे आज यह विरहदुख सहना

---

१ हरि मोसौं गौन की कथा कही।
  मन गह्वर मोंहि उतर न आयौ, हौं सुनि सोचि रही। (३५८३)

२ तब न बिचारी ही यह बात।
  चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाढ़ी पछितात। (३६१६)

३ कैसे री यह हरि करि हैं।
  राधा को तजिहैं मनमोहन, कहा कंस दासी धरिहैं।

४ करि गए थोरे दिन की प्रीति। (३८०२)

५ प्रीति करि दीन्हीं गरें छुरी। (३८०३)

६ प्रेम निबाहि कहा वे जानें, साँचेई अहिराइ। (३८०४)

७ कहू परदेसी की पतियारी।
  पीछैं ही पछिताइ मिलौगे प्रीति बढ़ाइ सिधारौ। (३८१३)

८ बातनि सब कोइ जिय समुझावै।
  जिहिं बिधि मिलनि मिलैं वै माधौ, सो बिधि कोउ न बतावै। (३८०१)

रहा[1], परन्तु प्रम करें तो क्या—सोच-विचार में ही जीवन बीतता चला जा रहा है, प्रिय के मिलने का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ता।[2]

उद्धव का आगमन ब्रज के जीवन में एक नया मक लाता है। आशा और निराशा के बीच डूबती-तैरती गोपियां प्रेम-महोदधि में लहरें ले रही थीं, उद्धव के उपदेश ने एक तूफान ला खड़ा किया, जिसमें सभी ब्रजवासी बह गये—नन्द और यशोदा भी, न बही तो एक राधा क्योंकि उसको अपने प्रेम का विश्वास था—इसी तिनके के सहारे बिना छटपटाये ही उसने अपना सारा जीवन काट दिया, उसकी कामना कोई है तो यही कि विरहविह्वल प्राण जब कष्टजर्जर इस शरीर को छोड़कर सदा के लिए जा रहे हों तब एक बार प्रिय के दर्शन हो जावें—तुम मेरे पास मत आओ, मुझसे बोलो तक नहीं परन्तु किसी बहाने क्षण भर को ब्रज में आ जाना, जिससे मेरे मन की यह अन्तिम साधपूरी हो जावे—

बारक जाइयौ मिलि माधौ
को जानै कब छूटि जाइगौ स्वांस, रहे जिय साधौ।
पहुनेहु नद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ। (३८५०)

राधा के मन में दोगुनी कसक है—प्रेम की असफलता और लोक का उपहास, अगर संसार को इस प्रणय का पता न होता तो मन मारकर चुपचाप एकान्त में दिन कट जाते, परन्तु सारा समाज सब कुछ जानता है और हमारे अज्ञान की चर्चा चलाकर हमसे अधिक बुद्धिमान बनता है। एक बार मिलकर फिर सदा को बिछुड़ना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है[3]—इसकी मौन पीड़ा को वही समझ सकता है जिसके जीवन में यह दुर्घटना घट चुकी हो। अगर श्याम को ब्रज में रहना नहीं था तो वे यहां आये ही क्यों,[4] और अगर वे आये भी तो मेरे मन को इतने अच्छे क्यों लगे—और जब वे इतने अच्छे लगे तो अपने बनकर क्यों न रह सके? मैं मन को कितना समझाती हूँ परन्तु वह मेरे वश में नहीं रहा[5]। अब इस शरीर को रखकर घुल-घुलकर[6] मरने से क्या है, और अगर मरना चाहूँ तो मरूँ कैसे? राधा ने जीवन में एक ही दाँव लगाया था उसी में वह अपना सर्वस्व खो बैठी, अब उसकी दशा उस जुआरी

---

१ सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातें मन इतनौ दुख पावत, मेरोइ कपट सनेहु। (३८१४)

२ हरि न मिले माइ जनम ऐसें लाग्यौ जान। (३८३०)

३ मिलि बिछुरे की पीर कठिन है, कहें न कोऊ मानें।
मिलि बिछुरे की पीर सखी री, बिछुर्यौ होइ सो जानें॥ (३८४७)

४. वह माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा कें आये।

५. मैं मन बहुत भाँति समुझायौ।

६ दुसह वियोग विरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि-सोचि कर मीजै॥ (३९८०)

की-सी है जो बहुत-कुछ समझाने पर भी न माना और जुआ खेलकर सदा को चौपट हो गया अब न संसार को मुख दिखाया जा सकता है और न संसार से सहानुभूति या दया की आशा की जा सकती है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।

राधा किस-किस को समझावे, किसको दोष दे, जिसके जो मन आवे वह वैसा कहता रहे, अगर हम में समझ ही होती तो प्रेम ही क्यों करते?

आशा ही संसार का जीवन है, मरते-मरते दम तक हम सोचते हैं कि शायद किसी प्रकार से बच सकें, सब कुछ नष्ट होता देखकर भी प्रेमी सोचता है कि शायद किसी बान से पत्थर पिघल ही जावे, इसलिए प्रेम सदा आशावादी होता है, हर कदम पर वह झुकता है और प्रिय के प्रत्येक अपराध को क्षमा करता रहता है। भविष्य के भरोसे—एक बार वह पिघल जावे तो उसके सारे शूल फूल बन जावेंगे, उसकी सारी क्रूरता मान कहलावेगी। राधा इसीलिए मौन रही प्रत्येक नवीनता आशा को भड़काती है और अन्त में अवसाद दे जाती है, सावन आया—एक के स्थान पर दो-दो, परन्तु साथ झूलने वाला प्रिय न आया, वर्षा आई, फिर बीत गई, शरद आ गई रास की पुरानी याद लेकर—परन्तु रासरसिक को आज ध्यान ही नहीं है। प्रकृति मन में सुप्त भावनाओं को जगाया करती है—आकाश में घिरी हुई काली घटा को देखकर अपने आप आँखें भर आती हैं—

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आए॥ (४०००)

राधा ने उद्धव से कुछ कहना चाहा भी हो तो वह कह न सकी, उसने सोचा अवश्य था कि बिना कहे मन हल्का[1] नहीं होता इसलिए मन की व्यथा को कह डाले परन्तु उसके नेत्रों में पानी आ गया और गला रुक गया[2]। अस्तु, राधा की बहुत-कुछ वेदना सूर ने सखी द्वारा व्यक्त कराई है। हमने एक निर्मोही[3] से प्रेम किया—एक 'ओछे' व्यक्ति से—हम यह न जानती थी कि संसार में ऐसे लोग भी हैं जो बाहर से पूरा मेल-जोल दिखलाते हैं परन्तु जिनके मन में कपट[4] ही भरा रहता है। श्याम बड़े कपटी निकले, वे सदा हमारे साथ रहा करते थे, हमारे साथ घण्टों बैठे रहते थे, सग-

---

१ बिन ही कहे आपने मन में, कब लगि सूल सहौं। (४६०७)

२ कठ वचन न बोलि आवें, हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो, ग्रसित आपद दीन। (४७२५)

३ प्रीति करि निरमोहि हरि सों, काहि नहिं दुख होइ।
कपट की करि प्रीति कपटी, लै गयौ मन गोइ। (४४१८)

४ ऊधौ अति ओछे की प्रीति।
बाहर मिलत, कपट भीतर मौं, ज्यौ खीरा की रीति। (४४५६)

संग घूमा करते थे, मिलकर हँसते थे,[1] और दुःख-सुख की बातें करते थे। हमने श्याम को अपना बनाया—अपना सर्वस्व देकर हम उनके हो गये,[2] उनके लिए संसार में बदनाम हो गये और घर-कुटुम्ब वालों के बुरे बने—परन्तु फिर भी क्या उस निष्ठुर ने हमारी इन बातों की अन्त में परवाह की ? आह ! अब उन बातों को सोचने से क्या है, हमारी सारी कामनाएँ—हमारे सारे सपने—मन के मन ही में रह गये[3] अब कहें भी तो क्या-क्या कहे और किससे कहे—जिसको अपना समझा था वही अपना न निकला तो औरों का क्या भरोसा ? हमारे लिए पश्चात्ताप ही आज शेष है—हमने क्या सोचा था[4] और उस निर्दयी ने क्या कर दिखाया ! भूल अपनी ही है हमने उसको प्रेम किया था, उसने हमको कभी अपनाया ही नहीं[5]—एकतरफा प्रेम का ऐसा ही करुण अन्त होता है ! परन्तु नहीं, मैं अपने मन में सदा विश्वास रखूँगी, मेरे श्याम बड़े भोले थे, वे मुझे प्यार करते थे—मैं अपने उसी श्याम की याद में डूबी रहूँगी—ये मथुरा वाले श्याम हमारे नहीं हैं[6] ये तो कोई और हैं। राधा यह तो जानती है कि श्याम ने नये दिखावे में बहककर[7] पुराने प्रेम को भुला दिया है परन्तु उसे यह विश्वास है कि संसार में उनको कोई और इतना प्रेम न कर सकेगा[8]—किशोरावस्था में साथ-साथ रहते-रहते जो कभी न अलग होने की भावना मन में बैठ जाती है वह सुपरिचित होने के कारण भले ही आदर्पक न लग सके परन्तु वह अनन्य है, वह वासनारहित तथा स्वार्थहीन होती है, उसमें जितना सुख होता है उतना घर-घर के दिखावे में नहीं। और वास्तव में श्याम को पछताना पड़ा, वे सोचते थे कि राधा का प्रेम भी कच्चा ही है, परन्तु जब उनको समय बीतने पर राधा के प्रेम की अनन्यता का प्रमाण मिला तो उनके

---

१. कहा होत अबके पछिताने।
खेलत, खात, हँसत एकहि संग, हम न स्याम गुन जाने। (४३७०)

२ जनि कोऊ बस परौ पराएँ।
सरबस दियौ आपनौ उनकौ, तऊ न फदू कान्ह के भाएँ। (४६५८)

३ मन की मन ही माँझ रही।
कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाहीं परत कही। (४१८८)

४ मधुकर प्रीति किये पछितानी।
हम जानी ऐसेंहि निबहैगी, उन कछु औरै ठानी। (४६०५)

५. ऐसी एक कोद कौ हेत।
जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कै, नैकु चटक, पुनि सेत। (४५३७)

६ ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे। (४३६५)

७ मधुकर यह निहचै हम जानी।
खोयौ गयौ नेह नग उनपै, प्रीति-कापरी भई पुरानी। (४३३२)

८ परम सुसद सितुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु सुजान जानि गति येहु।

मन में भी टीस होने लगी, परन्तु हाथ से समय निकल गया, अब तो पिछली भूल पर पछिताया ही जा सकता है—अपने मन की कसक को एक दिन श्याम ने अपने मित्र उद्धव से कहा था—'सूर चित तें टरति नाहीं, राधिका की प्रीति।'

संसार में सदा दो प्रकार के व्यक्ति रहेंगे। एक तो वे जो भावना को ही सब कुछ समझते हैं, और दूसरे वे जिन्होंने सदा नाप-तोल करना सीखा है। यदि ये दोनो अलग-अलग रहें तो जीवन की बहुत सारी समस्याएं उत्पन्न ही न हों, परन्तु संयोग प्रायः इन दोनों को मिला देता है। साहित्य में ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ धन प्रतिष्ठा आदि के लोभ में कोई विवाहित युवक प्रेम को ठुकराकर कुछ समय के लिये परदेश चला जाता है—प्रतीक्षाकुल विरही (या विरहिणी) की वेदना के उस समय के उद्गारों को समाज के ठेकेदारों ने बड़ा सराहा है। और ऐसी विषादपूर्ण कथाओं की भी कमी नहीं जिनमें नाप-तोल करने वाला अविवाहित प्रेमी किसी भावुक प्रेमपात्र से पहले तो प्रेम जोड़ता है फिर किसी भौतिक स्वार्थवश उस प्रेम को तोड़कर[1] अन्यत्र चला जाता है, तब प्रवञ्चित प्रेमी समाज की सनद के अभाव में अपने मन की ज्वाला को या तो अतल जल में शान्त करता है या अग्नि की चिनगारियों में मिला देता है (यह कहना आसान नहीं कि आदर्श उस विवाहित कथा में अधिक था या इस अविवाहित घटना में)। संसार में धन-सम्पत्ति, ज्ञान-विज्ञान, यश-गौरव सब कुछ है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अधिक है, परन्तु क्या इन्हीं भौतिक उपकरणों के कारण पिछले प्रेम को ठुकरा देना चाहिए, विशेषतः जबकि दूसरे का कोई और आधार ही न हो ? सौराष्ट्र के कवि ने एक ऐसे ही अपने को बुद्धिमान् समझने वाले निष्ठुर को बार-बार समझाया है —

> मिथ्या छे ज्ञान अने फोटक छे फा-फां
> व्यर्थ आ जीवननो विखवाद हो
> साणा समझीले साचा सत्यने।
> प्रेम भीना प्राणियां संसारमा विचरजे
> प्रेम छे सृष्टिनो संवाद हो
> साणा समझीले साचा सत्यने[2]।

सत्य तो यह है कि पहले तो इस संसार में किसी व्यक्ति को अपना मन पसन्द नहीं करता और यदि किसी एक को पसन्द करता भी है तो वह व्यक्ति अपना नहीं

---

१ कठिन निर्दय नन्द के सुत, जोरि तोर्यो नेह।

२ समस्त ज्ञान मिथ्या है, दिन-रात परिश्रम करना निरर्थक है, और इस जीवन के सारे संघर्षों में कोई सार नहीं, हे सयाने ! तू जीवन के इस वास्तविक सत्य को समझ ले। तू अपने प्राणों को प्रेम के सौरभ से सुरभित करके संसार में विचरण कर, इस सृष्टि का एकमात्र संवाद प्रेम ही है। हे सयाने ! तू जीवन के इस सारगर्भित सत्य को समझ ले।

हो पाता¹—यह इस संसार की सनातन विडम्बना है। राधा-कृष्ण इसी के प्रतीक² हैं। परन्तु इस विडम्बना से विश्वासघात का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता; हाँ, अनन्य त्याग और तप से राधा का पद पराजय में अपने जीवन का अन्त कर लेने वाले असफल प्रेमियों से सहज ही ऊँचा उठ जाता है। राधा जानती है कि स्वार्थी लोकमत उनको ही बुरा-भला कहेगा, वह यह भी जानती है कि उस निष्ठुर को अपनी निष्ठुरता पर घुट-घुटकर रोना पड़ेगा, और राधा को विश्वास है कि यदि उस निर्मोही की आँखों के सामने उस क्रूर भविष्य का ठीक चित्र आ जावे तो सच्चे एवं अनन्य प्रेम के सामने उसका तुच्छ स्वार्थ पिघलकर बह जावेगा। इसलिए राधा ने यह निश्चय किया कि वह प्रिय के पास अपना सन्देश नहीं भेजेगी—जो किसी महत्वाकांक्षा में अन्धा बना हुआ है उसे प्रेम का सात्विक रूप आज दिखाई न पड़ेगा—उसी पुरानी सुख-स्मृति में, उसी विश्वास तथा उल्लास में राधा अपना सारा जीवन काट देगी; समाज उसे पागल कहना चाहे तो कहता रहे, अपना सर्वस्व गँवाकर समाज की थोथी सहानुभूति की उसे भूख नहीं—

हम अपने व्रज ऐसेहि रहिहैं, विरह-बायु बौराने

मीराबाई

भक्ति-साहित्य में मीराबाई को एक विशेष स्थान प्राप्त है। राजरानी होकर भी प्रेमा-भक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए इन्होंने लोकापवाद तथा यातनाएँ सहीं फिर भी सामोद गिरधर की लीलाओं का निरन्तर गान करती रहीं। गुजराती, राजस्थानी, व्रज तथा पंजाबी भाषाओं में मीरा को समान आदर दिया जाता है; अथवा यह कहिए कि दक्षिण की अन्दाल तथा महादेवी की तुलना के लिए उत्तर की एकमात्र मध्ययुगीन कवयित्री मीराबाई ही हैं। व्यक्तित्व, संगीत और कवित्व में से किस ओर मीरा को विशेषत्व प्राप्त है—यह कहना सहज नहीं। मीरा में दर्शन या विचारों की खोज व्यर्थ है, वे 'प्रेम-दिवानी' थीं, प्रेम ही उनका दर्शन और प्रेम ही उनका जीवन है। वे सगुण अथवा निर्गुण भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनका उपास्य गिरिधर और नन्दलाल होते हुए भी सूर के कृष्ण के समान लीलाओं में व्यक्त नहीं मिलता, अप्रस्तुत सामग्री की दृष्टि से मीरा, कबीर आदि निर्गुणी सन्तों से अधिक निकट हैं। मीरा की भक्ति दाम्पत्य-भाव की है, उन्होंने गिरिधर गोपाल को अपना³

१. मन मिले, तो मनेर मानुष मिले ना। (बंगाली गीत)
२. दुर्लभ जन्म लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वैहै, स्याम तिहारो संग॥
३. म्हांने चाकर राखो जी, गिरधारी लाला, म्हांने चाकर राखो जी।
चाकर रहसूं, बाग लगासूं, नित उठ दरसण पासूं।
वृन्दावन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूं।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव-भगति जागीरी पाऊँ, तीनों बातां सरसी॥

जन्म-जन्म का पति मान लिया था और उसी के प्रेम में छकी हुई वे गाती रहती थी, उपास्य के साथ ऐसा व्यक्तिगत दाम्पत्य सम्बन्ध हिन्दी के किसी भी भक्त कवि या कवयित्री में नहीं मिलता।

कहा जाता है कि मीराबाई ललिता का अवतार थी, परन्तु इस रहस्य का ज्ञान उनको तब हुआ जब वे विधवा हो गई और वे इस पार्थिव दुलहा को भूलकर उस चिर-पति के ध्यान में रत[1] रहने लगी। अपने पूर्व-जन्म का स्मरण कर वे कभी-कभी ऐसे पद गाती हैं जिनको इस जन्म में नितान्त अप्रासंगिक माना जायगा—

(क) मोरी गलियन में आओ जो घनश्याम।
पिछवाड़े आय हेला दीजो, ललिता सखी है म्हारो नाम॥

(ख) हेली, मो सूं हरि बिन रह्यौ न जाइ।
सासू लड़ै, री, सजनी, नणद खिजैरी, पीव जो रह्यौ री रिसाइ॥
चौकी भी मेलो, सजनी, पहरा भी मेलो, ताला द्यौ न जड़ाइ॥
पूरब जनम की प्रीत हमारी, सजनी, सो कहाँ रहै री लुकाइ॥

(ग) एरी दई तेरो कहा बिगाड़ो, छोटा कन्त मोहें दीना॥
करके श्रृंगार पलँग पर बैठी, रोम-रोम रस भीना॥
चोली केरे बन्द तरकन लगे, श्याम भये परवीणा॥
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर हरि चरणन चित लीना॥

(घ) छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना॥
मैं तो नारि पराये घर की मेरे भरोसे गोपाल रहो ना॥

मीरा के पदों में लीला-गान बहुत कम है, यत्र-तत्र गोचारण, दधि-विक्रय या वस्त्र-हरण के पद मिलते हैं, जिनकी संख्या राम-सम्बन्धी या व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी पदों की संख्या से अधिक नहीं है। बालकृष्ण की छवि मीरा की दृष्टि से ओझल ही रही है, परन्तु किशोर के रूप को देखकर उन पर जादू हो गया और वे उससे मिलने के लिए व्याकुल रहने लगी—

(क) बड़ी बड़ी अँखियन वारो साँवरो मोतन हेरो हँसिकै री।
हौं जमुना जल भरन जात ही सिर पर गागरि लसिकै री॥
सुन्दर स्याम सलोनो मूरति मो हियरे में बसिकै री॥

(ख) कैसे आवौं हो लाल, तेरी बजनगरी, गोकुल नगरी।
इत मथुरा उत गोकुल नगरी, बीच बहै यमुना गहरी।
पाँव धरौं मेरी पायल भीजै, कूदि परौं बहि जाऊँ सगरी॥
मैं दधि बेचन जात वृन्दावन, मारग में मोहन झगरी॥
बरजो जसोदा अपने लाल को, छीनि लियो मेरी नथ री॥

[1] (क) झूठे वर को क्या वरूँ जो, प्रथ बिच में तज जाय।
वर वरौं ला रामजी, म्हारो चूड़ो अमर हो जाय॥
(ख) ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जनमें और मर जाय।
वर वरियै एक साँवरो री, मेरो चुड़लो अमर होय जाय॥

बस, मिलन की इतनी ही लीला के बाद वियोग का आरम्भ हो गया, हृदय में हूक उठने लगी, शरीर में जलन पैदा हो गई और जीवन मरण से भी हेय बन गया। *विरह के ये पद ही मीरा के काव्य का सार हैं। जयदेव के गीतों के समान मीरा के* पदों में भी बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा नहीं है, इसलिए विरह के पद शृंगार की कामुकता को जगाने के स्थान पर हृदय में उदात्त भावों की ही सृष्टि करते हैं, इसी हेतु मीरा की प्रेमा भक्ति विलास के उच्छ्वासों से लाञ्छित नहीं रही—

(क) रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै, विरह सतावै, प्रेम की आंच ढुलावै॥
(ख) सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिय को पथ निहारत सिगरी रैण बिहानी हो॥

विरह के इन वर्णनों में सबसे अधिक मर्मस्पर्शी वे स्थल हैं जिनमें मीरा का उद्दीप्त हृदय असह्य वेदना से चीत्कार कर उठता है, इन पदों का माधुर्य आज तक अक्षुण्ण है—

(क) पपइया रे पिव की वाणी न बोल।
सुणि पावेली बिरहिणी रे, थारी रालेली पांख मरोड़।
चोंच कटाऊं पपइया रे, ऊपरि कालर लूंण।
पिव मेरा, मैं पीव की रे, तू पिव कहै सु कूंण॥
(ख) पपैया प्यारे कब को बैर चितारयो।
मैं सूती छी अपने भवन में पिय पिय करत पुकारयो॥
(ग) सावण दे रह्यो जोरा रे, घर आवो जी स्याम मोरा रे।
उमड घुमड चहुं दिसि से आयो गरजत है घनघोरा रे॥
(घ) बरसै बदरिया सावन की, सावन की, मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनुआ, भनक सुनी हरि आवन की॥
(ङ) मैं विरहिणी बैठी जागूं, जगत सब सोवै री आली।
विरहिणी बैठी रंगमहल में मोतियन की लड पोवै।
इक विरहिणि हम ऐसी देखी, अंसुवन की माला पोवै॥

नारी-हृदय से निकले हुए विरह के ये उद्गार बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं रखते।

यदि मीरा के काव्य से कृष्ण का नाम निकाल लिया जाय तो उसको निर्गुण काव्य *स्वीकार करने में अधिक संकोच न होगा। कारण हम ऊपर बता चुके हैं कि यह विरह* बाह्य परिस्थितियों से स्वतन्त्र वेदना की अभिव्यक्ति मात्र है, अतः इसकी योजना प्रत्येक प्रसंग में ठीक लगेगी। यदि विरह के उद्दीप्त उद्गारों के साथ-साथ वेदना की कसक पर दृष्टि डालें तो ऐसे पदों में कबीर का अपूर्व प्रभाव दिखलाई पड़ता है—अप्रस्तुत सामग्री, प्रयुक्त शब्दावली आदि सबमें—

(क) सुरत निरत का दिवला संजोया, मनसा पूरन बाती।
अगम घाणि का तेल सिंचाया, बाल रही दिन राती॥
(ख) ऊंची नीची राह रपटीली, पांव नहीं ठहराय।
सोच-सोच पग धरूं जतन से, बार-बार डिग जाय॥

(ग) पाँच सखी इकठी भई, मिलि मगल गावै हो।
　　पिय का रली बधावणां, आणंद अग न मावै हो॥
(घ) त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊं री।
　　सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँरी॥
(ङ) या तन को दिवला करूँ, मनसा की वाती हो।
　　तेल जलाऊँ प्रेम को, बालूँ दिन-राती हो॥
(च) सासु हमारी सुषमणा रे, ससरो प्रेम-सतोष रे।
　　जेठ जुगो जुग जीवजो रे, हां रे देलो नावलीयो निर्दोष।
(छ) पानां ज्यूँ पीली पडी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
　　छानें लघण मैं किया रे, राम मिलण के जोग॥
　　बाबल वैद बुलाइया रे, पकड दिखाई म्हारी बाँह।
　　मूरख बैद मरम नहिं जाणो, करक करेजे मांह॥
　　मांस गल-गल छीजिया रे, करक रह्या गल आहि।
　　आंगलियां री मूदडो (म्हारे) आवण लागो बांहि॥

वियोग के कुछ प्रसग मीरा के काव्य को भारतीय काव्य-पद्धति से अलग कर विदेशी प्रभावाकित दिखाते हैं। कबीर, रैदास आदि निर्गुण भक्तों के प्रति मीरा के मन में वस्तुत श्रद्धा थी। अन उनका वियोग सदा भारतीय नारी का वियोग नही रहा और पुरुष होते हुए भी नारीत्व की भावना से वियोग-मुग्ध रहनेवाले निर्गुणियो का अनुकरण करके वह हठयोग की गलियो में भटकता रहा, यद्यपि इन स्थलो की सख्या बहुत अधिक नही है। विनय के पदो में लीला का नितान्त अभाव है और सूरसागर के विनय-खण्ड के समान या तो हरि की प्रशस्ति है या अपनी अधमता अथवा ससार की निस्सारता—

✓(क) इस देहि का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
　　यो ससार चहर की बाजी, साँझ पडयां उठ जासी॥
(ख) बालापन सब खेल गँवायो, तरुण गयो जब रूप घना।
　　वृद्ध भयो जब आलस उपज्यो, माया मोह भयो मगना॥
(ग) यो ससार सगौं नहिं कोई, सांचा सगा रघुवर जी।
　　माता पिता औं कुटुम्ब कबीलो, सब मतलब के गरजी॥

मीरा के काव्य का प्रस्तुत पक्ष भगवान् के प्रेम में व्याकुल होकर तडपना ही है और यह तडपन जीवात्मा की परमात्मा के लिए चिरन्तन मिलन की इच्छा है। इसमें स्त्री-पुरुष का भाव नही होता फिर भी नारी-भाव से इस वेदना का अनुभव करने पर आत्म-परिष्कार नि दोष समर्पण तथा भावपूर्ण-अभिव्यक्ति स्वत एव आ जाते हैं। अन्य पुरुष भी नारी भाव, को अपनाकर दाम्पत्य-भक्ति में प्रेरित होते रहे हैं। यह सयोग की बात है कि राजरानी मीरा नारी थी, अन्य पुरुष भक्तों की अपेक्षा उनमें स्वाभाविकता और तीव्रता की मात्रा अधिक है। इस विरह का आलम्बन निश्चित नही है, मीरा उसको अपना प्रियतम जानती है, आप उसको कृष्ण कह लें, राम कह लें या

निरंजन कह लें मीरा को उसमें कोई अन्तर नहीं भाता। फलतः अनेक पदों में उसको केवल 'पिया' कहा गया है और अनेक पद उसको 'जोगी' या 'जोगिया' कहते हैं, कहीं-कहीं केवल 'तुम' या 'प्रभु' ही सम्बोधन हैं। मीरा का अभिप्राय अपनी वेदना की अभिव्यक्ति है, जिस प्रेम में वह घायल होकर वन-वन मारी-मारी फिरती है उसका उपचार तो असम्भव है ही, उसका अनुभव भी सर्वसुलभ नहीं—घायल की गति को घायल ही जानता है दूर से तमाशा देखने वाला नहीं। इसीलिए प्रेम का नाम लेने वाले वेदना के अनुकरण पर ही न बहक जाएँ—प्रेम का निर्वाह बड़ा कठिन है और इसका परिपाक स्थायी विरह है, मीरा ने अपने अनुभव से सस्ते प्रेमियों को सदा के लिए सावधान कर दिया है—

> जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीति कियें दुख होय।
> नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीति करो मत कोय॥

रसखान

कृष्णकाव्यकारों में रसखान की प्रसिद्धि किसी दार्शनिक सिद्धान्त के कारण नहीं है प्रत्युत विधर्मी होते हुए भी कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम के कारण है, उनके काव्य में भाषा का सौन्दर्य अवश्य प्राप्य है परन्तु जीवन का कोई आदर्श नहीं मिलता। इस वर्ग के कवियों ने प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व समझा, अतः आशा और उत्साह के उदात्त भाव सहज ही उपेक्षित बन गये। रसखान ने प्रेम को आनन्द का मूल माना है, आनन्द दो प्रकार का है—विषयानन्द तथा ब्रह्मानन्द[1], अतः प्रेम भी दो प्रकार का हुआ, परन्तु दोनों प्रकार के प्रेम में स्थूल रूप से कोई भेद नहीं एकनिष्ठता या अनन्यता[2] से ही विषय-प्रेम ब्रह्म-प्रेम में परिणत हो जाता है। सूफियों की सी इस भावना के कारण रसखान का आदर्श लैली[3] है, और उनका प्रेम नेजा, भाला तीर, विष, खड्ग की धारा आदि का पर्याय बन गया है। इन्द्रिय-जन्य वासना से प्रारम्भ होने के कारण इस प्रेम में अनेक अश्लील तथा असम्बद्ध चित्र आ गये हैं, कहीं नायक ने सुप्ता[4] कन्या के साथ बलात्कार किया, कहीं अपरिचिता[5] परकीया के साथ रस-केलि की, दोनों के उत्सव पर तो सभी नवीना[6] तथा प्रौढ़ा[7] एक-सी[8] ही हैं—उनको पतिव्रत[9] का

१ आनंद-अनुभव होत नहिं, बिना प्रेम जग जान।
कै वह विषयानन्द, कै, ब्रह्मानन्द बखान ॥११॥ (प्रेम-वाटिका)
२. इक अंगी, बिनु कारनहिं, इकरस सदा समान ॥२१॥ (वही)
३ अकथ कहानी प्रेम की, जानत लैली खूब ॥३३॥
४. वह सोई हुई परजंक लली लला लीनो सु धाय भुजा भरिकै ॥१४॥
(सुजान-रसखान)
५. आइ गोपाल, लियो भरि अंक, कियो मन भायो, पियो रस कं री ॥११७॥ (वही)
६. आवत लाल गुपाल लिए मग सूने मिली इक नार नवीनी ॥१२१॥ (वही)
७. सासहि नचाइ, भोरी नन्दहि नचाइ ॥१२५॥
८ नारि नवेली बचै नहि एक बिसेख यहै सबै प्रेम अच्यो है ॥१२६॥
९. इहि पाख पतिव्रत ताख धरो जू ॥१२२॥

नाम ही न लेना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि नायक का नाम कृष्ण प्रकट हो जाने से ही भक्त लोग इस प्रासक्त अनाचार को भक्ति की अभिव्यक्ति मान लेते हैं।

रसखान को ईश्वर ने हृदय इतना अधिक दिया था कि उनमें विचारों का नितान्त अभाव है, लीला-वर्णन में भी कल्पना स्तब्ध रह गई है। न कोई नया दृश्य है और न कोई नवीन भाव। जहाँ कोई सौन्दर्य दिखलाई पड़े, समझ लीजिए किसी अन्य कवि का प्रभाव है। निम्नलिखित उद्धरण हमारे मत के प्रमाण हैं—

(क) सागर कों सरिता जिमि धावत रोकि रहे कुल को पुल टूट्यो ॥२४॥
(ख) उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै मीन सी आँखि अँसुवानी रहैं ॥३१॥
(ग) मो मन मानिक लै गयो, चितै चोर नंदनंद ॥४४॥
(घ) जो कोऊ चाहै भलो अपनो तो सनेह न काहू सों कीजियो माई ॥८०॥
(ङ) मो पछितावो यहै जु सखी कि कलंक लग्यो पर अंक न लागी ॥८२॥
(च) गोरस के मिस जो रस चाहत सो रस कान्ह जू नेकुन पैहौ ॥८८॥

परन्तु प्रेम-लीला की सामान्य कल्पना शृंगार में डुबकी लगा-लगाकर अवश्य ही रसखान के काव्य में अनेक बार दर्शन दे जाती है, ऐसे स्थलों पर सामान्य काव्य-सौन्दर्य भी मनोहर है—

(क) ऐसे में आवत कान्ह सुने हुलसे सरके तरकीं अँगिया की।
यो जग जोति उठी तन की उकसाइ दई मनो बाती दिया की ॥१०१॥
(ख) पै न दिखाई परै अब बावरो दै के वियोग बिथा की मजूरी ॥११७॥
(ग) सोई हुती पिय की छतियाँ लगि बाल प्रवीन महा मुद मानै।
केस खुले छहरैं बहरैं फहरैं छबि देखत मैन अमानै।
वा रस मैं रसखानि पगी रति रैन जगी अँखिया अनुमानै।
चंद पै बिंब, औ बिंब पै कैरव, कैरव पै मुकतान प्रमानै ॥१२०॥
(घ) बागन काहे को जाओ पिया घर बैठे ही बाग लगाइ दिखाऊँ।
एड़ी अनार सी मौर रही बहियाँ दोउ चम्पे की डार नवाऊँ।
छातिन में रस के निबुआ अरु घूँघट खोलि कै दाख चखाऊँ।
टाँगन के रसके चसके रति फूलनि की रसखानि लुटाऊँ ॥१६॥

प्रथम दो उदाहरणों में सौन्दर्य की सामग्री व्यावहारिक जीवन से ली गई है—निर्वाण-प्राण दीपक की उकसाई हुई वर्तिका तथा प्रियागम से उत्साहित नायिका में रूप-रंग-गुण या तो कोई सादृश्य नहीं परन्तु दोनों की गति (*निर्वाण से अकस्मात् प्रकाश की प्राप्ति*) एक सी ही है, इसी प्रकार रति केलि के श्रम के अनन्तर वियोग की पारिश्रमिक के रूप में संभावना करना चमत्कारपूर्ण है, रूपकातिशयोक्ति का सौन्दर्य-परम्परा से ही गृहीत है, और नारी को ही चलती-फिरती वाटिका बना देने में उस युग की विलासिता बहुत प्रतिबिम्बित होती है।

मध्यकालीन साहित्य मुख्यत ब्रजभाषा साहित्य है, ब्रजभाषा के माधुर्य से आकृष्ट होकर इतर भाषा-भाषी भी काव्य-रचना इसी भाषा में करते थे, रसखान ने भाषा के माधुर्य को हृदयगम किया और युग की प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें संगीत की लहर

जगाकर इसको सौकुमार्य से परिपुष्ट करके अपनी रसिकता का परिचय दिया। रसखान के काव्य का भावपक्ष प्रेमातिरेक है, कलापक्ष में भाषा का माधुर्य ही मुख्य समझना चाहिए—यही गुण उनकी कविता को 'रस' की 'खानि' बना सका है। भाषा के माधुर्य से हमारा अभिप्राय शब्द-चयन, पद-निक्षेप, अनुप्रास की छटा तथा संगीत-प्रवणता से है। 'प्रेम वाटिका' तो कला की दृष्टि से अत्यन्त सामान्य कोटि की है, परन्तु रसखान के सवैये माधुर्य में अपूर्व हैं। सवैया वर्णिक छन्द है, इसमें ह्रस्व-दीर्घ का ठीक-ठीक प्रयोग होना चाहिए, यदि इन ह्रस्वदीर्घ के साथ वर्णों के सौकुमार्य तथा माधुर्य का भी ध्यान रखा जाए तो छन्द मनोमोहक बन जाता है। कुछ उदाहरण देखिए—

(क) या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी ॥३॥

(ख) दृष्टि परी तबही चटको अटको हियरे पियरे पटवारो ॥४॥

(ग) रसखानि रहै अटक्यो हटक्यो ब्रजलोग फिरैं भटक्यो भटक्यो री।
रूप सबै हरि वा नट को हियरे अटक्यो अटक्यो अटक्यो री ॥५२॥

(घ) वा छन जा छन राखिए माखन चाखनहारो सो राखनहारो ॥१०७॥

इन उदाहरणों में अनुप्रास तथा यमक की छटा पाठक के मन को अवश्य आकृष्ट करेगी और 'राखन', 'जाखन', 'माखन', 'चाखन', 'राखन', शब्दों की गति एक ओर सिर में कम्प उत्पन्न करती है दूसरी ओर पदों में सचलन की इच्छा जगाती है। यही ब्रजभाषा का माधुर्य है, जिसका रीतिकाल में और भी अधिक उपयोग हुआ। आगे चलकर तो इस नृत्य-संगीतमय सौन्दर्य-सृष्टि के लिए कवियों ने निरर्थक शब्द-जाल का निर्माण किया, रसखान की यह सृष्टि निरर्थकता तक नहीं जाने पाती। एक पद में एक-सा ही नृत्य-संगीतमय शब्द-माधुर्य तो आकर्षक होता ही है विषमता-गर्भ सम की आभा और भी रमणीय है, ऊपर के उदाहरणों में से द्वितीय में 'चटको' 'अटको' के साथ 'हियरे', 'पियरे' की विषमता दर्शनीय है। रसखान के कवित्तों में भी यह गुण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है—

(क) जानिए न आली यह छोहरा जसोमति को
बाँसुरी बजाइगो कि विष बगराइगो ॥५३॥

(ख) दोउ परे पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ इन्हें
भूलि गईं गैयाँ उन्हें गागर उठाइबो ॥६०॥

(ग) मायहिं नचाइ भोरी नन्दहिं नचाइ, छोरी
बैरिन सचाइ गोरी मोहि सकुचाइगो ॥१२५॥

रसखान का काव्य अभिधा का काव्य है, इसमें युग की प्रवृत्ति पूरी सचाई के साथ प्रकट हुई है, विधर्मी होने के कारण कवि ने रास-लीला के अलौकिक संकेत नहीं लिये, और न दार्शनीय प्रभाव ही उसमें लक्षित होता है। अन्य ब्रज की वासना-पंकिल जनता के जीवन का कुछ आभास रसखान की अप्रस्तुत-योजना में स्थूल दृश्यों के रूप में प्रकट हुआ है। यह कहना कठिन है कि इस शृंगारी वातावरण के गीतों में रसखान कितने निर्लिप्त हैं, परन्तु उनके ब्रज-प्रेम का कारण तथा तत्कालीन मनोगति का मुख्य

आधार निम्नलिखित सवैये से स्पष्ट जाना जा सकता है—

ब्रह्म में ढूंढ्यो पुरानन गानन वेद-रिचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितूं वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ।
टेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायो न लोग लुगायन ।
देखो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन ॥२८॥

काल में रामभक्ति-काव्य के दोनो दृढ स्तम्भ तुलसी और केशव शास्त्रीय दृष्टि से अप्रतिम हैं, तुलसी ने 'नाना पुराण निगमागम' का सार अपनी रचना में भर दिया है तो केशव की कविता सस्कृत-साहित्य की सामग्री से प्रपूर्ण है, तुलसी में विचार और कला दोनो शास्त्रीय परम्परा से सम्प्राप्त हुए हैं, केशव में विचार की अपेक्षा कला में शास्त्रीय उत्कर्ष अधिक वरणीय बन गया है। यदि भारत के दूसरे साहित्यों पर दृष्टि-पात किया जाये तो उनमें भी रामायण को चिरसचित राष्ट्रीय विचारों का सरक्षण करने के कारण राष्ट्रीय काव्य का स्थान प्राप्त है, कृत्तिवास की रामायण सहज और सरल होते हुए भी बगीय जीवन का प्रतिबिम्ब है तो कम्बन ने तमिल रामायण के भीतर 'तिरुक्कुराल', 'जीवक चिन्तामणि', 'कन्दपुराणम' और 'पेरिय पुराणम' की छाया से ही अपनी कला का निर्माण करके तमिल रामायण को 'पच महाकाव्यों' का सार बना दिया है। यह आवश्यक नही कि रामायण के लेखक सर्वत्र ब्राह्मण-धर्मावलम्बी ही रहे हों; कम्बन शैव थे फिर भी अपने आश्रयदाता की इच्छा से उन्होने राम की अपूर्व कथा लिखी। भक्ति का इतना गम्भीर पारावार जितना कि तुलसी में है किसी भी रामायण में नही मिलता। अत 'स्वान्त सुखाय' का एक अर्थ यह भी है कि तुलसी ने अपनी जीवनानुभूति को काव्य का रूप दिया, सयोगवश वह समाज की राष्ट्रीय औषधि भी थी।

तुलसी और केशव दोनो ही विचारो की दृष्टि से तो राष्ट्रीय-परम्परा के पोषक थे ही, कला की दृष्टि से भी इन पर राष्ट्रीय गौरव, सस्कृत भाषा और साहित्य का अमिट प्रभाव था। केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण थे और थे राजगुरु, उनको इस बात का अभिमान था कि उनके कुल के दास-दासी भी 'भाषा' बोलना नही जानते, सस्कृत ही बोलते हैं और 'भाषा' में काव्य-रचना के कारण वे अपने को कुल-कलक समझते थे।[1] तुलसीदास की मातृभाषा अवधी थी इसलिए उन्होने अनेक रचनाओं का माध्यम ग्रामीण अवधी और साहित्यिक अवधी को बनाया तथा अनेक कृतियों में तत्कालीन उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा व्रजभाषा को उन्होंने अपनाया, और राम-भक्ति का प्रचार करते हुए यह घोषणा की कि यदि प्रेम सच्चा है तो माध्यम का कोई अन्तर नही आता—चाहे सस्कृत में लिखो चाहे भाषा[2] में। फिर भी स्थान-स्थान पर सस्कृत के प्रति उनके मन का मोह सावधान पाठक से छिपा नहीं रहता, सस्कृत शब्दावली का तो साहित्यिक रचनाओं में निरन्तर तथा बहुश प्रयोग है ही, कुछ पक्तियाँ तो व्याकरण-चिह्नों-सहित सस्कृत से ही चली आती हैं और 'मानस' में प्रत्येक काण्ड सस्कृतबद्ध श्लोकों से आलोकित है। सस्कृत का यह अनुराग अप्रस्तुत सामग्री में भी दृगगत होता है, तुलसी और केशव—राम-भक्ति के सूर्य और चन्द्र—काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अप्रस्तुत योजना में शास्त्रीय तथा सस्कृताश्रित हैं।

१ भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मन्द मति, तेहि कुल केशवदास ॥ (कविप्रिया)

२ का भाषा, का ससकिरत, प्रेम चाहिए साँचु।
काम जु आवै कामरी, का लै करिय कुमाँचु ॥ (दोहावली)

में सन्निहित है, और आदर्श उनके 'हरिचरित' में छलक रहा है। यदि 'मानस' की कथा अलौकिक भावभूमि पर आश्रित रहती तो सम्भवतः सती को मोह न होता परन्तु पाठक को अरुचि हो जाती। अतः 'कल्प'-भेद से कथा के वर्णन में कुछ अन्तर करके तुलसी ने उसको समयोचित रूप दिया। जीवन की विषमता, काल की कठोरता और विधि की वामता के कारण प्रहार-जर्जर मानव जब 'रामचरितमानस' को पढ़ता है तो भगवदवतार राम के जीवन में इन थपेड़ों का पूर्वरूप देखकर उसे धैर्य प्राप्त होता है और फिर मन में श्रद्धा का प्रसार करके वह उसी मार्ग को दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है जो राम ने स्वयं अपनाया था, यही कवि का उद्देश्य है। तुलसी के शब्दों में रघुवंश-मणि राम कामीजनोचित दीनता का प्राकृत व्यवहार करते हुए भी धैर्यशालियों के मन में विरक्ति को ही दृढ़ करते हैं—

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी।

कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई॥ (अरण्यकाण्ड)

काव्य में कामी, लोभी आदि के समान आचरण करते हुए भी इस माया को स्ववशीभूत करने वाले राम कामी, लोभी और धीर सबके समान रूप से आदर्श अवलम्बन हैं और सभी शरणागत होकर उनकी निरुपाधि भक्ति प्राप्त कर सकते हैं—

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥ (उत्तरकाण्ड)

इसी हेतु 'मानस' की कथा 'मंगल करनि, कलिमल हरनि' तथा 'सुरसरि-सम सब कहँ हित' है।

अस्तु, 'मानस' की कथा के प्रस्तुत पक्ष में दो अंग हुए, प्राकृत तथा चरित, अप्रस्तुत पक्ष में भी इनको स्पष्टतर रीति से देखा जा सकता है। 'मानस' का अप्रस्तुत पक्ष प्राकृत और पौराणिक (शास्त्रीय) सामग्री के नीर-क्षीर मिश्रण के मन्थन का सुपरिणाम है। लोक-जीवन से अप्रस्तुत सामग्री लेते हुए तुलसी ने यद्यपि 'चदरिया' बुनने का कभी प्रयास नहीं किया और न 'सूप' लेकर वे थोथे को उड़ाकर सार ग्रहण करने में ही लगे रहे फिर भी रामचरितमानस में ऐसी सामग्री की अल्पता नहीं जो कवि का लोक-जीवन से सुपरिचय तो स्पष्ट करती ही है सामान्य पाठक को अपनेपन की भावना देकर उसे अनुकूल भी बना लेती है। इस सामग्री के अनेक वर्ग हो सकते हैं। एक वर्ग कवि का पशु-पक्षी-जगत तक प्रसार घोषित करता है—

(क) गयेउ सहमि नहिं कछु कहि आवा।
जनु सचान बन झपटेउ लावा॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि मनहुँ वृद्ध गजराजु।

(ग) चलइ जोंक जल वक्र गति जद्यपि सलिलु समान॥

(घ) कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू।
मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥

(ङ) नयन सजल तन थरथर काँपी।
माँजहि खाइ मीन जनु माँपी॥

(च) सो दससीस स्वान की नाईं।
इत उत चितइ चला भड़िहाईं। (अरण्यकाण्ड)

(छ) अधम निसाचर लीन्हे जाई।
जिमि मलेछ बस कपिला गाई।

(ज) करति बिलाप जाति नभ सीता।
व्याध बिबस जनु मृगी सभीता।

इन अप्रस्तुतों में चाकी-चूल्हे वाली मौलिकता तो नहीं है परन्तु कवि का सूक्ष्म निरीक्षण अवश्य व्यक्त होता है, प्राय यह सामग्री साहित्यिक पाठक के लिए नितान्त नवीन नहीं है, कवि ने जिस भावाभिव्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया है उसमें वह पूर्ण सफल है, रावण को श्वान बतलाकर उसके कार्य की नीचता, उसकी भयकरता, कायरता तथा हेयता की सफल व्यंजना है, निशाचर हस्तगता सीता की समानता म्लेच्छवशा कपिला गाय से बतलाते हुए कवि ने तत्कालीन समाज का एक दयनीय चित्र तो प्रस्तुत किया ही है, सीता की परवशता, निरीहता, दीनता का भी सज्जन के मन को उत्तेजित करने वाला रूप उपस्थित कर दिया है। कुछ शारीरिक आपदाओं को अप्रस्तुत बनाने वाले चित्र देखिए—

(क) दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू।
जनु छुइ गयें पाक बरतोरू॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) नगर व्यापि गई बात सुतीछी।
छुअत चढी जनु सब तन बीछी॥

'बालतोड' और 'वृश्चिक-बाधा' से कवि स्वय पीडित रहा था या नहीं, इसकी खोज हमारा उद्देश्य नहीं परन्तु हमको इस बात पर ध्यान देना पडेगा कि ये दोनों अप्रस्तुत मौलिक हैं तथा प्राकृत हैं, कवि ने इनका प्रयोग परिहास की भावना से नहीं प्रत्युत गम्भीरतम परिस्थिति में किया है, और ये अभीष्ट व्यञ्जना में आशातीत सफल रहे हैं। मानसकार की दृष्टि में वनस्पति-जगत् के कुछ अप्रस्तुत भी प्रिय थे—

(क) बिबरन भयेउ निपट नरपालू।
दामिनि हनेउ मनहु तरु तालू॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) सुनि भयें बिकल सकल नर-नारी।
बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥

(ग) इहाँ कुम्हड़बतिया कोउ नाहीं।
जे तरजनी देखि मरि जाहीं॥ (बालकाण्ड)

इन मौलिक प्राकृत अप्रस्तुतों की विशेषता यह है कि ये केवल भावविशेष की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त हैं, कवि ने विस्तार करके इनके बन्ध (रूपक-बन्ध उत्प्रेक्षा-बन्ध आदि) नहीं बनाये, इनका मूलोपयोग भावातिशय का प्रकन है।

उपर्युक्त अप्रस्तुतों में कवि स्वभाववश अग्रसर हुआ या प्रयत्नपूर्वक—यह कहना कठिन है। परन्तु कुछ अप्रस्तुत-योजना ऐसी है जो कवि के सचेत प्रयत्न की सोक्षिणी है। गोस्वामी जी अपने समय के साम्प्रदायिक 'पन्थों' के कट्टर विरोधी थे और उनको

दम्भमूल जानकर उनके अभिशाप से समाज को बचाना चाहते थे। अन्य रचनाओं में इन पन्थों का जो तिरस्कार किया गया है उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, उनमें उपदेशात्मक शैली के आश्रय से तिरस्कार्य वस्तु को प्रस्तुत रूप में ग्रहण किया है, परन्तु 'मानस' में सर्वत्र काव्यात्मक प्रयोग हैं, अतः तिरस्कार्य विषय को अप्रस्तुत बनाकर उसके प्रति मन में त्याग एवं निन्दा की भावना जगाई गई है—

(क) लागहि कुमुख बचन सुभ कैसे।
मगह गयादिक तीरथ जैसे॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) जिमि कुलीन तिय साधु सयानी।
पति देवता करम मन बानी।
रहै करम बस परिहर नाहू।
सचिव हृदय तिमि दारुन दाहू॥

(ग) पैठत नगर सचिव सकुचाई।
जनु मारेसि गुर बाँभन गाई॥

(घ) जे परिहरि हरि-हर-चरन, भजहि भूतगन घोर।
तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि, जौं जननी मत मोर॥

(ङ) तजि श्रुति पथु बाम पथ चलहीं।
बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं॥
तिन्ह कइ गति मोहि संकर देऊ।
जननी जौं एहु जानहुँ भेऊ॥

(च) भरत दरस देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भागु।
जनु सिंघल बासिन्ह भयेउ, बिधि बस सुलभ प्रयागु॥

(छ) माया-छन्न न देखिये, जैसे निर्गुन ब्रह्म॥ (अरण्यकाण्ड)

(ज) हरित भूमि तृन-संकुल, समुझि परहिं नहि पंथ।
जिमि पाखंड बिवाद ते, गुप्त होहिं सदग्रन्थ॥

(झ) ससक दस बीते हिम त्रासा।
जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा॥

वर्षा और शरद् के वर्णन में जिस उपदेशात्मक अप्रस्तुत सामग्री का प्रयोग है वह परम्परागत है, परन्तु उपर्युक्त सामग्री अधिकांशतः मौलिक है। अपने सम्प्रदायवालों को स्वर्ग तथा विरोधियों को नारकीय यातना दिलाना तो धर्मोपदेशकों का सर्वत्र ध्येय रहा है, तुलसी की दृष्टि इतनी संकीर्ण नहीं। वे समाज-विरोधी तत्त्वों के उन्मूलन में दया का व्यवहार नहीं करते। श्रुति-सम्मत हरि-भक्त पथ को त्यागकर अनेक मतान्तरों में भटकनेवाले वञ्चक तथा धूर्त दम्भियों को तर्क से पराजित नहीं किया जा सकता, परन्तु उनके आचरण से उत्पन्न होनेवाले सर्वनाश की उपेक्षा भी उचित नहीं। अतएव गोस्वामी जी उनका काव्यात्मक रीति से निराकरण करते हैं। भरत की आत्मग्लानि में भूत-गणोपासकों और वाम-मार्गियों की भर्त्सना तुलसी का सबसे कठोर उद्गार है; मगध, सिंहलद्वीप तथा निर्गुण ब्रह्म पर उन्होंने व्यंग्यमात्र किया है—निर्गुण ब्रह्म

का यह परिहास अत्यन्त साहित्यिक है—'कमल-पत्र के कोमल तथा स्निग्ध प्रसार के भीतर जल की अनन्त राशि आच्छादित है ठीक उसी प्रकार जैसे माया के भीतर निर्गुण ब्रह्म, इनका रहस्य कोई नहीं जानता।' मगध किसी समय वेद-विरोधियों का केन्द्र रह चुका है, बौद्धमत का विकृत रूप यहीं पनपा और वृद्धिमान् हुआ, मुसलमानी शासन में पूर्वी उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल की सीमा पर प्रेमकथाएँ गाकर युवकों को निष्क्रिय तथा स्त्रैण बनानेवाले लोक-कहानीकार जम गये और मगध तक वेद का विरोध तथा स्वेच्छाचार का प्रचार होता रहा; मगध का प्रतिरूप 'मगहर' भी काशी के निकट था जहाँ कबीरजी अपने अन्तिम दिन बिताने सिर्फ इसलिए गये थे कि जनता के उस विश्वास का खण्डन कर सकें कि मगहर में शरीर छोड़ने पर नरक मिलता है। तुलसी तीर्थ का महत्त्व जानते थे, इसलिए कुतीर्थ का प्रभाव भी उनकी दृष्टि से छिपा न था। अतः उन्होंने 'मगह' तथा 'सिंहल' दोनों की तुच्छता अंकित की है। 'सिंहल' शब्द से लंका का अर्थ लेना उचित नहीं, प्रत्युत सिंहल लोककहानीकार मुसलमान प्रचारकों का स्वर्ग 'कैलास' है—जहाँ भी इसकी स्थिति हो, जायसी के लिए सिंहल साधना की पावनभूमि है जहाँ जाकर साधक वेदविरोध की शक्ति का संचय कर सकता है, तुलसी के लिए सिंहल उस अभागी भूमि का नाम है जहाँ परम्परागत ऋजु संस्कारों को त्यागकर पथभ्रष्ट दम्भी समाज का अभिशाप बनना सीखता है।

लोक-जीवन से लिया 'रामचरितमानस' में एक अप्रस्तुत अवश्य ऐसा है जो सजातीयों से भिन्न लगता है, कदाचित् वह मौलिक न हो, उसमें एक अप्रस्तुत के स्थान पर 'बन्ध' का उपयोग है और जिस जीवन से सहायता ली गई है वह या उसका सवर्गीय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता, उसमें उपमा या उत्प्रेक्षा के स्थान पर सांगरूपक है—

मातु-कुमति-बढ़ई अघमूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बसूला॥
कलि-कुकाठ कर कीन्ह कुजन्त्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमन्त्रू॥
मोहि लगि येहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सबु जगु बारह बाटा॥
(अयोध्याकाण्ड)

सांग रूपकों का उपयोग तुलसी में बहुत है और 'मानस' में भी अपरिमित है, परन्तु सांग रूपकों का निर्माण प्राकृत मौलिक अप्रस्तुतों से नहीं हुआ, उपर्युक्त उदाहरण अपवाद की कोटि में आयेगा। इस उदाहरण में रूपक का आधार है 'मातु-कुमति' अथवा केवल 'कुमति', कवि ने व्यक्ति को निर्दोष ठहराते हुए उसकी मति को कर्म के लिए उत्तरदायी माना है, मन्थरा की मति में ही गिरा ने विपर्यय उत्पन्न कर दिया था, मन्थरा की विमति से कैकेयी में कुमति आई, यही मति-विभ्रम पापों का कारक है, इसीलिए तुलसी ने 'पार्वती-मंगल' में 'कवि-मति-मृगलोचनि'[1] को साधुवाद दिया है, और इसी हेतु वंदित ऋषि ने धी[2] तथा मेधा[3] नाम्नी सुमति के विकास को सर्वोपरि

१. प्रेमपाट पटडोरि गौरि-हर गुन मनि।
मंगलहार रचेउ कवि-मति-मृगलोचनि॥
२ धियो यो नः प्रचोदयात्।
३ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।

महत्व प्रदान किया है, वैदिक विचारधारा के ये सूक्ष्म सूत्र मननीय हैं।

'रामचरितमानस' में कतिपय स्थलों पर ही साहित्यिक अप्रस्तुतों का उपयोग हुआ है, कदाचित् इसलिए कि कवि इस कृति को सर्वसामान्य के हितार्थ लिख रहा था, वस्तुतः काव्य में सौन्दर्य बाह्य वस्तु पर उतना निर्भर नहीं जितना कि आन्तरिक पर, अतः महान् सन्देश के अभाव में कोई भी कृति महान् नहीं बन सकती भले ही कवि उसको पूर्ण मनोयोग से सजाता रहे। आकृति की अभिरामता में भी वस्त्रहीना नारी नग्नता में भयंकर तथा घृणास्पद लगती है क्योंकि वस्त्रों की वृत्ति उसके मनोभाव अतएव व्यक्तित्व की निर्देशिका है, इसी प्रकार अनेक काव्यालंकारों से विभूषित वाणी व्यर्थ है यदि उसमें रामनाम का सात्विक उद्‌गार नहीं है। केशव अलंकारहीन काव्य को नग्न मानते हैं, तुलसी सन्देशहीन या आदर्शहीन को, केशव बाह्यालंकार में विश्वासी है, तुलसी आन्तरिक सौन्दर्य में। 'मानस' में एक से अधिक स्थलों पर तुलसीदास ने अपने इस मत का समर्थ प्रतिपादन किया है—

(क) भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी।
राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही॥
मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥ (बालकाण्ड)

(ख) राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी।
सब भूषन भूषित बर नारी॥ (सुन्दरकाण्ड)

तुलसी को काव्य-सौन्दर्य से घृणा नहीं है, परन्तु वे मूल्यों का विपर्यय पसन्द नहीं करते, जिसका जितना महत्त्व है उतना ही उसको स्थान मिलना चाहिए। 'मानस' में काव्यालंकार का मनोरम सौन्दर्य तो प्राप्त है ही, काव्यशास्त्र की कई वस्तुएँ भी अप्रस्तुत बनकर आ गई हैं —

(क) आश्रम सागर-सांत-रस, पूरन पावन पाथु।
सैन मनहुँ करुना-सरित, लिएँ जाहिं रघुनाथु॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) प्रभु प्रलाप सुनि कान, बिकल भए बानर-निकर।
आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ बीररस॥ (लंकाकाण्ड)

परन्तु इन प्रसंगों में 'रस' शब्द का प्रयोग किसी भी साहित्यिक दृष्टि से नहीं किया गया, केवल भावों के सम्मिलन का ही द्योतक है, भिन्न स्थलों से तुलना की जा सकती है—

(क) सानुज सीय समेत प्रभु राजत परनकुटीर।
भगति ज्ञानु वैराग्य जनु, सोहत धरें सरीर॥ (अयोध्याकाण्ड)

(ख) प्रभु मिलत अनुजहिं सोह मो पहिं जात नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले वर सुषमा लही॥ (उत्तरकाण्ड)

तुलसी ने 'उपमा' शब्द का तो अपनी रचना में अनेक बार प्रयोग किया ही है 'वक्रोक्ति' तथा 'प्रत्युत्तर' भी एक-एक बार आये हैं और इनका प्रयोग बड़ा रोचक है। रघुवीर-दूत अंगद जब रावण की राजसभा में गया तो राजनीति का पालन करते हुए भी उसने वक्रोक्तियों से रावण का हृदय विद्ध कर दिया, तब अंगद के उन वाग्बाणों को रावण प्रत्युत्तर रूपी सँडासी से सावधान होकर निकालने लगा—

वक्र उक्ति-धनु, वचन सर, हृदय दहेउ रिपु कीस।
प्रति उत्तर सडसन्हि मनहु, काढ़त भट दससीस॥ (लंकाकाण्ड)

प्रतिपक्षी से युद्ध करते हुए जब किसी के हृदय में शूल घुस जाते हैं तो उनको धैर्य से बाहर निकालकर क्षत का उपचार होता है, वाग्युद्ध में रावण घायल हो गया, अंगद के व्यंग्य वचन उसके मानस को जर्जर करने लगे तब उस योधा ने स्वयं व्यंग्य द्वारा प्रत्युत्तर देते हुए मानो अपने मर्मस्थल से निकालकर उन शरों का अपने शत्रु पर प्रयोग किया।

साहित्य में नारी का एक विशेष स्थान रहा है, हिन्दी के भक्ति-साहित्य में भी नारी सामान्य पाठक का भी ध्यान आकृष्ट करती है, तुलसी की नारी विषयक उक्तियाँ विद्वानों के विचार का विषय है। प्रस्तुत पक्ष में तुलसी ने नारी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह तो प्रसिद्ध ही है, अप्रस्तुत पक्ष में उनके कथन माननीय हैं। 'रामचरित-मानस' के निम्नलिखित स्थल देखिए—

(क) निज प्रतिबिंबु बरुक गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई॥

(ख) काह न पावकु जरि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग कालु न खाइ॥

(ग) सुनि मुनि कह पुरान श्रुति संता।
मोह-बिपिन कहुँ नारि-बसंता॥
जप, तप, नेम जलाश्रय झारी।
होय ग्रीषम सोखै सब नारी॥
काम, क्रोध, मद, मत्सर, भेका।
इन्हहि हरष प्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई।
तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा।
होइ हिम तिन्हहिं दहै सुख मन्दा॥

पुनि ममता-जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिर ऋतु पाई॥

विशेष प्रमाण में सामान्य कथन की अनुयुक्ति इस प्रस्तुत को समर्थ बनाने वाली अप्रस्तुत शक्ति है। तुलसी ने नारी का ऐसा ही उपयोग किया है, वस्तुतः वह वर्ण्य विषय नहीं, प्रत्युत वर्ण्य विषय का समर्थक विषय है। कवि ने जिस प्रकार के रूपक बनाये हैं वे स्थूल रूप, रंग, आकार आदि की दृष्टि से तो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, परन्तु सूक्ष्म प्रभाव उत्पन्न करने में नितान्त सक्षम हैं, नारी को वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं का रूप देकर कवि यह सिद्ध करना चाहता है कि नारी हर मौसम में पुरुष को प्रभावित करके मन, वचन और कर्म पर अपनी छाप लगाती रहती है, सामान्य दृष्टि से ऐसा लगेगा मानो ये रूपक बुद्धि-व्यायाम का परिणाम हैं परन्तु सम्पूर्ण वर्णन का अभिप्राय हृदयंगम करने पर कवि द्वारा प्रतिष्ठित नारी का सार्वकालीन अनिवार्य प्रभाव पाठक को स्वीकार्य बन जाता है।

तुलसी के साग रूपकों को इसी दृष्टि से देखना चाहिये, उनका लक्ष्य पाठक के मन पर सकलित प्रभाव अंकित कर देना है इसलिए उनमें रूप-साम्य, रंग-साम्य, आकृति-साम्य या शब्द-साम्य नहीं मिलता अर्थात् न उनका उपयोग शब्द-चमत्कार के लिए हुआ है और न रूप-गुण-मूलक अर्थ-चमत्कार के निमित्त, उनका प्रयोजन तो क्रिया-साम्य या फल-साम्य मात्र ही है और इस फल-साम्य में कवि का एकमात्र उद्देश्य पाठक के मन को निरुपाधि भगवद्भजन की ओर प्रेरित करना है, अतः ये रूपक भगवद्भजन के आस पास ही व्याप्त मिलते हैं। 'रामचरितमानस' में साग रूपकों की यह छवि दर्शनीय है—

(क) मुदमंगलमय संत समाजू।
जो जग जंगम तीरथराजू॥
रामभगति जहँ सुरसरि-धारा।
सरसइ ब्रह्म- विचार प्रचारा॥
बिधि निषेध-मय कलि-मल-हरनी।
करम-कथा रबिनंदिनि बरनी॥
हरि-हर-कथा बिराजति बेनी।
सुनत सकल मुद-मंगल देनी॥
बटु-बिस्वासु अचल निज धरमा।
तीरथराज समाज सुकरमा॥ (बालकाण्ड)

(ख) प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
सचिव सत्य, श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥

सगम सघासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा ॥
चवर जमुन अरु गग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा ॥
(अयोध्याकाण्ड)

(ग) सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका ॥
बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। विरति चर्म सतोष कृपाना ॥
दान परसु, बुध शक्ति प्रचण्डा। वर विज्ञान कठिन कोदडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। समजम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥
(लकाकाण्ड)

इन रूपको में एक पक्ष प्राय मूर्त होता है और दूसरा अमूर्त, प्रस्तुत और अप्रस्तुत में रूप और गुण का कोई साम्य नही, परन्तु प्रभाव या फल की विशेषता साम्य है, कवि का लक्ष्य पाठक को धर्म में प्रवृत्त करना है। जायसी आदि कवियो ने इस प्रकार के स्थलों पर मुद्रा के सौन्दर्य से अपने काव्य को सजाया है और प्राय इस्लामी सस्कृति के चौपड, पुष्प आदि अप्रस्तुत बनकर आये हैं। तुलसी का उद्देश्य काव्य की सजावट नही है और न वे सामयिक आचार-विचार को कोई महत्त्व देते थे। इसलिए उनकी अप्रस्तुत सामग्री सनातन अत सूक्ष्म है—मूर्त वस्तुओ के स्थान पर अमूर्त गुणों का उपयोग किया गया है।

यह आवश्यक नही कि अग-प्रत्यग की इस तुलना में रूपक अलकार का उपयोग किया जाय। साधर्म्यमूलक सौन्दर्यों में सबसे निर्बल उपमा है, इसके अन्तर्गत अप्रस्तुत 'अधिक' तथा प्रस्तुत 'हीन' होता है, अत हीन गुण को अधिक गुण के समान बतलाकर हीन गुण का उत्थान किया जाता है। उत्प्रेक्षा उपमा से बलवती है, इसके अन्तर्गत प्रस्तुत समानप्राय गुणवाला होता है, इसीलिए प्रस्तुत को देखकर अप्रस्तुत की सम्भावना विधेय है। रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों से बलवत्तर है, गुण का इतना अधिक साम्य होना है कि प्रस्तुत और अप्रस्तुत में कोई भेद नहीं रहता, इसी हेतु रूप की अपेक्षा गुण के सौन्दर्य के रूपक का अधिक प्रयोग कविजन किया करते हैं। भक्ति-काव्य इसी हेतु अलकार की दृष्टि से रूपक का युग था, उस समय उपमा और उत्प्रेक्षा को अनन्यता में भी रूपक का साम्राज्य था और रूप-गुण की अपेक्षा प्रभाव-फल पर कवि की दृष्टि अधिक थी। तुलसी के रूपक विशेष ध्यान देने योग्य हैं प्राय. उनका झुकाव व्यतिरेक की ओर है। कुछ रूपक तो व्यतिरेक ही बन गये हैं। व्यतिरेक में रूपक से भी अधिक बल उस समय आता है जब वह प्रभाव या फल पर दत्त-दृष्टि हो। तुलसी ने इसलिए 'मानस' में व्यतिरेक का स्थान स्थान पर गम्य या प्रत्यक्ष प्रयोग किया है—

नव विधु विमल तात जसु तोरा। रघुवर किंकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना ॥

कोक-तिलोक प्रीति अति करहीं । प्रभु-प्रताप-रवि छविहि न हरिहीं ॥
निसि-दिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥
पूरन राम-सुप्रेम-पियूषा । गुर-अवमान-दोष नहिं दूषा ॥

(अयोध्याकाण्ड)

तत्त्वदर्शी कवि स्वानुभूति को समाज की सम्पत्ति बनाने के लिए उसको प्रसारित करके पाठक के समक्ष उपस्थित करते हैं, उनका उद्देश्य चमत्कार कदापि नहीं होता, फिर भी उनके काव्य में सौन्दर्य की अनेक नवीन विधाएँ अनायास ही अवतरित हो जाती हैं। तुलसी जैसे महान् कवि के लिए यह निर्विवाद है कि उनका काव्य उनके आत्मविकास का ही शब्द चित्र है, जो सन्देश उनके अन्त करण में प्रतिध्वनित हो रहा था उसको जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने रामकथा का आश्रय लिया, उनके काव्य का सौन्दर्य उनके आन्तरिक उल्लास की ही छाया है, अत उदासीन रहने पर भी उल्लास-द्योतक-रत्नराजि 'मानस' में प्रतिपद दृग्गत हो जाती है। इस सौन्दर्य को शास्त्रीय नामो से अभिहित किया जा सकता है, परन्तु यह सर्वत्र आवश्यक नहीं, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक या दृष्टान्त, उदाहरण आदि तो परम्परा के सौन्दर्य के ही नाम हैं। मौलिक सौन्दर्य नाम की अपेक्षा नहीं रखता। 'मानस' का एक स्थल देखिए—

तात बिचारु करहु मन माहीं। सोचु जोगु दसरथु नृप नाहीं ॥
सोचिअ बिप्र जो बेद-बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगत सुजानू ॥
सोचिअ सूद्रु बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञान-गुमानी ॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलह-प्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर-आयसु अनुसरई ॥
सोचिअ गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच-रत, बिगत बिबेक बिराग ॥

(अयोध्याकाण्ड)

दशरथ की मृत्यु के उपरान्त जब भरत अयोध्या आये तो उनकी मानसिक दशा अच्छी न रही, वे भाग्य की कार्यावली पर मूढ होकर विचार करने लगे और फिर दशरथ की मृत्यु का ध्यान आते ही सोच में डूब गये। तब कुलगुरु ने उनको समझाया कि राजा को जैसा जीवन और जो मृत्यु प्राप्त हुई वह तो ईर्ष्या का विषय है सोच का नहीं, सोच तो उस भाग्यहीन के लिए होता है जो मानव शरीर धारण करके भी स्वधर्म का पालन न कर सका, धर्मपालन जिसको सुलभ हो गया वह तो ससार में सबसे सौभाग्यशाली है। इस वर्णन में अनेक शोचनीय व्यक्तियों का महत्व-क्रम से नाम गिनाया गया है और यह स्थापना की गई है कि ये लोग शोचनीय हैं राजा दशरथ नहीं, यहाँ अभाव-साम्य व्यंग्य है और तुलना की गन्ध आ रही है। यद्यपि इस सौन्दर्य का कोई विशेष नाम नहीं फिर भी अपने कार्य में अत्यन्त सफल होने के कारण यह पाठक का ध्यान अवश्य आकृष्ट करता है।

विनयपत्रिका

अन्तिम रचना 'विनयपत्रिका' में तुलसी के व्यक्तित्व का अत्यन्त निर्मल रूप उपलब्ध है। 'पत्रिका' का प्रस्तुत पक्ष स्तुति मात्र है, प्रस्तुत पक्ष की कृशता अप्रस्तुत पक्ष की पृथुलता से ही भरी पूरी दिखाई देती है मुक्तक काव्य में अप्रस्तुत पक्ष होता भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अप्रस्तुत पक्ष के दो रूप हैं—वर्णन तथा वर्णनार्थ प्रयुक्त बाह्य सामग्री। वर्णन को 'विनयपत्रिका' में अधिक आदर न मिल सकता था—कवि ने इस रचना में कतिपय स्थलों पर ही वर्णन किया है। क्योंकि उसकी दृष्टि बाह्य जगत् पर कम परन्तु अन्तर्जगत् पर विशेष है। 'विनयपत्रिका' में वर्णन के समान प्रतीत होने वाले स्थल वस्तुतः कवि के उद्गार-मात्र हैं, उनसे वर्ण्य वस्तु का उतना ज्ञान नहीं होता जितना कि वर्ण्य वस्तु के प्रति कवि की भावना का, गंगा, काशी, चित्रकूट आदि के वर्णन इस कथन के प्रमाण हैं। वस्तुपरक मानस' की तुलना में व्यक्तिपरक 'पत्रिका' इसीलिए सामान्य साहित्यिक को अधिक रोचक नहीं लगती कि व्यक्तिपरक रचना के लिए कवि के व्यक्तित्व से समभाव भी नितान्त आवश्यक है, जो भक्त हैं वे 'पत्रिका' पर मुग्ध हैं, जो अभक्त हैं उनके लिए 'पत्रिका' में कोई सौन्दर्य नहीं।

तुलसी की सौन्दर्य-योजना की सामान्य विशेषता रूप की अपेक्षा गुण, वस्तु की अपेक्षा उसके प्रभाव या महत्त्व, और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म व्यक्तित्व पर दृष्टिक्षेप है। 'मानस' आदि के प्रसंग में हम इस विशेषता पर सोदाहरण विचार कर चुके हैं। 'मानस' आदि में हमने यह भी देखा था कि कवि स्थूल, बाह्य, रूप अथवा वस्तु आदि से उदासीन नहीं था, क्योंकि उसका लक्ष्य समाज था, प्रत्युत यह कथन अधिक उचित होगा कि 'मानस' आदि में सूक्ष्म सौन्दर्य स्थूल, बाह्य सौन्दर्य के समकक्ष है। 'पत्रिका' में सूक्ष्म सौन्दर्य का इतना प्राबल्य है कि स्थूल सौन्दर्य विरलता से ही दृग्गत होता है। वस्तुतः तुलसी के साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास सौन्दर्य की स्थूलता से सूक्ष्मता की की ओर जाने की ही गाथा है। भाव-राशि की अक्षयता तथा विचार-राजि की सघनता में पार्थिव स्थूलता लुप्त हो गई है, उस रचना-वाटिका के पुष्प-सौरभ एवं पल्लव-कान्ति में मुग्ध विचक्षण द्रष्टा अयत्नात् आवृत्त पार्थिव सौन्दर्य की उपेक्षा कर देता है, जो पाठक इस दिव्य सौन्दर्य का गुणज्ञ है वह तुलसी की नतमस्तक सराहना करता है और जो केवल पार्थिवता खोजता फिरता है उसे टिकने को भी स्थान नहीं मिलता।

सूक्ष्म सौन्दर्य के इस प्रसाधन के लिए कवि ने 'पत्रिका' में प्रायशः रूपक तथा दृष्टान्त अलंकारों की सहायता ली है। रूपक दो प्रकार के हैं—सामान्य तथा सांग। 'पत्रिका' के सामान्य रूपक अप्रस्तुत सामग्री के कारण पाठक के मन में बड़ा कुतूहल उत्पन्न करते हैं, यद्यपि रचना में उन्हीं का साम्राज्य देखकर साहित्यिक मात्र क्षणभर हतप्रभ-सा रह जाता है। इन रूपकों में अप्रस्तुत-योजना का आधार इतना सूक्ष्म है कि सहृदृष्टि से कवि की सहृदयता में सन्देह-सा होने लगता है, न रूप-साम्य, न रंग-साम्य, न आकार की कोई समानता, गुणों में भी कोई निकटता नहीं, केवल प्रभाव या फल को समक्ष रखकर कवि ने निराले अप्रस्तुत जुटा दिये हैं—

(क) हिम-तम-करि-केहरि (दिवाकर के लिए)
(ख) मोह-निहार-दिवाकर (शंकर „ „)
(ग) गिरिजा-मन-मानस-मराल („ „ „)
(घ) मोह-मूषक-मार्जार („ „ „)
(ङ) कठिन-कलिकाल-कानन-कृशानु („ „ „)
(च) अज्ञान-पाथोधि-घटसम्भव („ „ „)
(छ) मोह-महिष-कालिका (गंगा „ „)
(ज) मोह-मद-कोह-कामादि-खल-संकुल-घोर संसार निसि-किरनमाली
(हनुमान के लिए)
(झ) लोक-लोकप-कोक-कोकनद-सोकहर-हंस („ „ „)
(ञ) दिव्य-भूमि-अंजना मंजुलाकर-मणि („ „ „)
(ट) भूमिजा-रमण-पदकंज-मकरंद-रस-रसिक-मधुकर (भरत „ „)
(ठ) दनुज-वन-धूमध्वज (राम के लिए)
(ड) वासना-वृन्द-कैरव-दिवाकर („ „ „)
(ढ) सघन-तम-घोर-संसार-भर शर्वरी-नाम-दिवसेस-खर-किरनमाली (राम के लिए)
(ण) पाप-पुंज-मुंजाटवी-अनल-इव-निमिष-निर्मूलकर्त्ता („ „ „)
(त) अज्ञान-राकेस-ग्रासन-विधुंतुद। („ „ „)

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की पहली बात यह है कि इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना 'पत्रिका' के पूर्वार्द्ध में ही उपलब्ध है, और पूर्वार्द्ध के भी केवल उस स्थल तक जहाँ तक कवि स्तुति में एकाग्रमना है तदुत्तर तो यह विशेषता विरल ही नहीं अपवाद रूप में ही मिलेगी। 'पत्रिका' का स्तुति-परक भाग कवि की वैयक्तिक साधना की अवधि है, उसमें देवी सम्पत्ति की झलक देवार्चन में प्रयुक्त देववाणी की उज्ज्वल छटा से भी मिल जाती है, कवि का काव्य-शास्त्र-विनोद-स्फुरित व्यक्तित्व भी उभर उठा है। अतः अप्रस्तुत-योजना के लिए कवि संस्कृत-साहित्य की अमूल्य राशि का अनायासेव अवलम्ब ले लेता है। दूसरी बात है प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत में रूप, रंग, आकार आदि की नितान्त उपेक्षा तथा केवल प्रभाव का ही आधार, रूप, रंग आदि की दृष्टि से तो ये अप्रस्तुत हास्यास्पद जान पड़ेंगे। शंकर को दिवाकर, मराल, कृशानु *आदि तो माना भी जा सकता है परन्तु 'मार्जार' बनाना हास्यास्पद रहेगा—भले ही* मोह रूपी मूषक के लिए शंकर को मार्जार बनना पड़े। इसी प्रकार 'अज्ञान' को 'राकेश' की पदवी देकर उसके विनाशक राम को 'विधुन्तुद' बनाने से उनके गौरव का ह्रास होता है, वृद्धि नहीं। भले ही अनुकूल व्याख्या करके हम इस स्थापना पर बल दें कि रात्रि स्वयं मोहरूपिणी है, उसका अंधकार अज्ञान है, परन्तु राकेश भी अज्ञान का ही रूप है, क्योंकि शंकर के अनुसार अज्ञान ज्ञान के अभाव का नाम नहीं प्रत्युत ज्ञान के विपर्यय की संज्ञा है, राकेश अपनी उद्दीपन शक्ति से रात्रि के मोह को और भी बलीयान् बना देता है इसलिये कवि ने 'अज्ञान' को 'राकेश' का रूप प्रदान किया है, उस विपरीत ज्ञान का विनाश भगवान् की कृपा से ही हो सकता है या तो ज्ञान-भानु के

प्रकाश से माया-निद्रा से जगकर, या मोह-रात्रि के अस्तित्व में ही अज्ञान-राकेश के क्षय से वास्तविक निशा-अंधकार का अनुभव करके। निश्चय ही ज्ञानोपलब्धि तथा आत्म-लाभ सर्वकाम्य है परन्तु सर्वसुलभ तो ये नहीं। अतः विकल्प रह गया वासना की रात्रि तो रहे परन्तु उसका उज्ज्वल रूप न दिखाई पड़े, उसकी कालिमा का अनुभव कर हम उसका त्याग कर दें, भक्ति काल में त्याग और वैराग्य की यह प्रणाली प्राय प्रचलित भी थी, तुलसी ने इसी अनुभव से राम के लिए 'अज्ञान-राकेश ग्रासन-विधुन्तुद' विशेषण का प्रयोग किया है। इतनी सूक्ष्म व्याख्या पाठक को कवि की अपेक्षा व्याख्याकार के प्रति अधिक श्रद्धालु बना सकेगी, क्योंकि इसमें व्याख्याकार की मननशीलता ही प्रशसनीय है। कवि ने इतनी गहराई से न सोचा होगा, परन्तु उसके सस्कार सूक्ष्म-सूत्रो के द्वारा ऐसा निर्माण कर सकते है, फिर भी पाठक के समक्ष इतनी सूक्ष्मता काव्य-गुण-वर्द्धिनी नही, भले ही ये सूत्र कवि के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अनिवार्य साक्षी हो।

हम यह कह चुके है कि कवि पर सस्कृत-साहित्य का प्रभाव है, उस प्रसग में हमारा अभिप्राय सस्कृत के धार्मिक तथा पौराणिक साहित्य से नही प्रत्युत काव्य-साहित्य से था। 'मोह-मूषक-मार्जार' में वस्तुत सामान्य रूपक अलकार नही है, रूपक में प्रस्तुत अप्रस्तुत का अभेद कल्पित किया जाता है, यहाँ 'मोह-मूषक' तथा 'शिव-मार्जार' प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से तो रूपक है परन्तु काव्य की दृष्टि से नही, क्योंकि अभेद कल्पनाओ से सौन्दर्य की सृष्टि नही होती। यदि इस पद्धति की व्याख्या करनी हो तो इसका विस्तार होगा 'मार्जार इव मोह-मूषकस्य हन्ता'। कवि ने कुत्रचित् स्पष्टतया ऐसे प्रयोग किये भी है, 'पाप-पुञ्ज-मुञ्जाटवी-अनल-इव निमिष-निर्मूलकर्त्ता' (पद सख्या ५५) का अन्वय 'अनलमिव निमिषे पाप-पुञ्ज-मुञ्जाटव्या निर्मूलकर्त्ता' होगा। यह बाणकवि की गद्यशैली का प्रभाव है, ऐसे अप्रस्तुतों की साधिकार योजना से' *गद्य कवीना निकष वदन्ति'* वाली उक्ति प्रचलित हो गई थी। कादम्बरी से ऐसे स्थलो पर अप्रस्तुत-सामग्री प्राय पुराणेतिहास से ली है और उस अद्वितीय-कथाकार के अप्रस्तुत श्लेष की कला से नाचते है, केशव ने ये दोनो गुण ले लिए। परन्तु तुलसी ने ये विशेषताएँ स्वीकार न की प्रस्तुत लौकिक या तत्कालीन जीवन की सामयिक सामग्री से अश्लिष्ट अप्रस्तुतो की योजना की। अस्तु, तुलसी की अप्रस्तुत योजना में जो दोष माना जा सकता है वह वस्तुत परम्परा का स्मरण करा देने वाला गुण ही है। यद्यपि इस प्रकार की अप्रस्तुत योजनाएँ एक पद में एक-दो से अधिक नही है, इसलिए 'कादम्बरी'-गत सौन्दर्य की प्राप्ति 'पत्रिका' में सम्भव नहीं, फिर भी निम्नलिखित पद का सौन्दर्य अवलोकनीय है—

> रघुवश-कुमुद सुखप्रद निसेस।
> अति प्रबल मोह-तम-मारतड।
> अज्ञान-गहन-पावक प्रचड॥
> अभिमान-सिन्धु-कुभज उदार।
> रागादि-सर्पगन-पन्नगारि।
> कदर्प-नाग-मृगपति मुरारि॥ (पद सख्या ६४)

इस पद का संस्कृत में अनुवाद इस प्रकार होगा—

निशेश इव रघुवंश-कुमुदस्य सुखप्रद.।
प्रतिप्रबलस्य मोह तमसो मार्त्तण्ड इव।
गम्भीराशानस्य प्रचण्डपावक इव।
अभिमान सिन्धो उदार-कुम्भज इव।
रागादि-सर्पगणस्य पन्नगारिवत्।
कन्दर्प-नागस्य मृगपति इव (जयी) मुरारि.॥

इन योजनाओं में 'सामान्य धर्म' का अप्रयोग है और एक-दो पद (जैसे 'उदार', 'मुरारि' आदि) व्यर्थ भी रख दिये हैं। सूक्ष्म सौन्दर्य का व्याख्यापूर्वक अन्वेषण न भी किया जाय तो भी बाह्य-सौन्दर्य मात्र के लिए काव्य-परम्परा' के अत्यावधानपूर्वक संरक्षण के कारण तुलसी की यह सौन्दर्य-सामग्री अमूल्य है। 'पत्रिका' तथा 'मानस' के तथा-कथित सदोष सौन्दर्य-स्थल इस रहस्य को समझकर उपयुक्त संस्कृतानुवादद्वारा महार्घ दिखलाई पड़ेंगे—

(क) सेवत लखन सिया-रघुबीरहि।
ज्यों अविवेकी पुरुष शरीरहि॥ (मानस)
अविवेकी पुरुष. शरीरमिव।
लक्ष्मण सीतारामं सेवते॥ (संस्कृतानुवाद)

(ख) ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिए करुनाकर पावन प्रेम पीन की॥२६६॥
नागरी स्पृह्यते यथा स्वभावादेव नवीन—नागराय
हृदय मे तथैव पावनाय तव प्रेम्णे। (संस्कृतानुवाद)

'विनयपत्रिका' की उक्त सौन्दर्य राशि तुलसी की स्वकीय विशेषता है, जिसकी 'मसि-कागद' न छूने की प्रतिज्ञा करने वाले सहज कवियों में खोज ही व्यर्थ है। परन्तु तुलसी में साग रूपक भी हैं, वे साग रूपक जो उस युग की एक विशेषता थे। तुलसी के साग रूपक कबीर के नही प्रत्युत सूर के साग रूपको की जाति के हैं, उनकी सामग्री लोक-कर्म से नहीं आई प्रत्युत वैराग्य जीवन से प्राप्त है। सांग रूपको की संख्या अधिक नहीं फिर भी मूल्य अधिक है—

(क) देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकांत। मनो देखन तुमहिं आई ऋतु बसंत॥
कर नवल बकुल-पल्लव रसाल। श्रीफल कुच, कंचुकि लताजाल॥

---

१. 'विनयपत्रिका' के जिन स्थलों पर यह अप्रस्तुत सामग्री मिलती है उन स्थलों की 'भाषा' का एक रूप निम्नलिखित भी है—

(क) तेन तप्तं हुत दत्तमेवाखिल, तेन सर्वं कृत कर्मजालम्
येन श्रीराम-नामामृत पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥४६॥

(ख) यत्र कुत्रापि मम जन्म निज-कर्म-वश भ्रमत जगयोनि सकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन-समागम सदा भवतु मे रामविश्राममेकम्॥५७॥

आनन सरोज, कच मधुप पुंज। लोचन बिसाल नव नीलकंज॥
पिक-वचन चरित वर वरहि कीर। सित सुमन हास, लीला समीर॥१४॥

(ख) सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलि कासी।
अगर अयन अयन मल, घन फल, बच्छवेद-बिस्वासी।
गलकवल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरितासी॥२२॥

(ग) ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।
असुभ-सुभ कर्म घृतपूर्ण दस वर्तिका, त्याग पावक, सतोगुन प्रकासम्।
भगति-वैराग-विज्ञान-दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासम्॥४७॥

(घ) सुभग सौरभ धूप दीप वर मालिका।
उडत अघ-विहग मुनि ताल-करतालिका।
भक्त-हृदि-भवन अज्ञान तम-हारिनी।
विमल-विज्ञानमय तेज-विस्तारिनी॥४८॥

(ङ) बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मद मोल बिनु डोला रे।
विषम कहार मार-मदमाते चलहिं न पाउँ बटोरा रे॥१८६॥

इन उदाहरणों में सांग रूपकों की सभी विशेषताएँ सन्निविष्ट हैं। तुलसी ने लोक-जीवन से सामग्री केवल एक रूपक में ली है, शेष में तो वैष्णव जीवन से ही है। इन रूपकों में 'मनो', 'जनु', 'सी' आदि शब्दों के प्रयोग से शास्त्रीय दृष्टि से 'रूपक' नाम उपयुक्त नहीं है, या तो 'उत्प्रेक्षा रूपक' संज्ञा कुछ समीप लगती है या 'रूपक-बन्ध'। आरती के जैसे रूपक तुलसी में हैं लगभग वैसे ही सूर में भी (तुलना कीजिए—'हरिजू की आरती बनी')। काशी को कामधेनु का स्वरूप-प्रदान भी धार्मिक दृष्टि से ही है, यहाँ भी सौन्दर्य सूक्ष्म ही है स्थूल नहीं। वन के सौन्दर्य को देखकर वसन्त के आगमन की सूचना दूसरे कवि भी दे सकते थे, परन्तु तुलना के इस पद में विशेषता है, उत्प्रेक्षा और रूपक का मिश्रण सौन्दर्य को चमका देता है। तुलसी न जाने क्यों इस पद में वसन्त को रमणी का रूप दे बैठे और उसके 'कुच' और 'कचुकि' का भी वर्णन करने लगे। काव्यकला की दृष्टि से 'पत्रिका के रूपक उतने मूल्यवान नहीं जितने कि 'मानस' के।

'पत्रिका'-गत तुलसी की अप्रस्तुत योजना में साधर्म्य की निम्नांकित सामग्री भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है—

(क) विमल तरंग लसत रघुवर के से चरित।१६।
(ख) ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर विश्वविकासी।२२।
(ग) समर तैलिक यन्त्र तिल-तमीचर-निकर पेरि डारे सुभट घालि घानी।२५।
(घ) ज्ञान-अवरेस, गृह गेहिनी-भक्ति सुभ, तत्र अवतार भूभारहर्त्ता।५८।
(ङ) विकटतर वक्र क्षुरधार प्रमदा।६०।
(च) पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर ते न खसैं हौं।१०५।
(छ) कामधेनु धरनी कलि गोमर-बिबस।१३६।

(ज) सुत-वित-दार-भवन-ममता-निसि ।१४०।

(झ) अजन-केस-सिखा जुवती तहँ लोचन-सुलभ पठावों ।१४२।

(ञ) भ्रम्यो सूल कर्म-कोल्हुन तिल ज्यों बहु बारनि पेरो ।१४३। ' -

(ट) बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ।१७३।

गंगा की तरंगें ऐसी निर्मल हैं जैसे राम का चरित, यहाँ प्रस्तुत मूर्त है, परन्तु अप्रस्तुत मूर्त नहीं है, हिन्दी के पुराने साहित्य में ऐसे अप्रस्तुत विरल ही हैं। तैलिक-यन्त्र तथा मृत्तिका-घट दो अप्रस्तुत शुद्ध ग्रामीण जीवन से आये है, कोल्हू में पेरने की सजा उस युग में सुनी जाती होगी, आजकल इसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है, जब किसी आदमी से बहुत काम लिया जाय तो कहते है कि उसका तेल निकाल लिया, कर्म की गति ऐसी ही यातनाएँ दे दिया करती है। कच्चे घडे को पानी में डालिए वह टूटकर मिट्टी बन जायगा, इसी प्रकार अतृप्त मन से सन्यास लेकर समाज में अनर्थ ही होते हैं—कहीं भी मन डिग सकता है, 'बिगरत' का बडा सुन्दर प्रयोग है, घडा तो पानी में जाते ही बिगडकर मिट्टी बन जाता है, मन भी ससार की किसी भी वस्तु पर बिगड जाता है और मिट्टी में मिला देता है। ज्ञान-विहीन भक्ति या भक्ति विरोधी ज्ञान से भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता, ज्ञान विहीन भक्ति असहाय है और भक्ति-हीन ज्ञान अपूर्ण एवं कठोर है, इसीलिए ज्ञान पति है तो भक्ति उसकी पत्नी है, जब वह दम्पति अनन्य भाव से तप करता है तब इसको सन्तान के रूप में भगवान् की प्राप्ति होती है, तुलसी ने 'भति' को भी नारी माना है, यह भावनाएँ हैं कि हृदय की सभी कोमल तथा उदार भावनाएँ स्त्री-रूपिणी ही है। 'उर-कर' का रूपक बडा विचित्र है, प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों ही एक ही शरीर में सम्मुख उपस्थित हैं, दोनों में एक धारणा-शक्ति रूपी गुण की ही समानता है। 'कलि' को 'गोमर' कहकर गोस्वामी जी ने कलि का मुख्य अभिशाप गो हत्या बतलाया है और उसके फल-स्वरूप भूतल पर अकाल आदि आपत्तियों का भी विश्लेषण कर दिया है। 'मानस' में युवती को दीप-शिखा के समान बतलाकर मन को शलभ बनने से रोका गया था—'दीपसिखा सम जुबति जन, मन जनि होसि पतंग', परन्तु 'पत्रिका' में 'लोचन' को शलभ बनाया गया है और नेत्रों के अनेक विषयों में से युवती के केवल 'अजन' तथा 'केश' को ही सपोगपूर्वक 'सिखा'[२] माना है। अजन-केश-युक्ता युवती दीपशिखा (के समान) है, नेत्र उस पर टूटते हैं और स्वाहा हो जाते हैं। नेत्रों के अनेक विषय हैं उनको अच्छे लगने वाले परन्तु जितनी कामोद्दीपक शक्ति अजनयुक्त नेत्रों में होती है उतनी अगराग युक्त, सतिल कपोल या सामूषण कान में नहीं—युवती अजनयुक्त नेत्रों से किसी की ओर देख ले, बस पचशायक का प्रथम प्रहार हो गया। तब विद्ध

---

१ घडे को पानी में डालने के स्थान पर पानी को घडे में डालना भी अर्थ हो सकता है, पानी माया है और घडा कच्चा मन।

२ 'अजन-केश' का अर्थ 'दीपक' भी हो सकता है, तब यह सौन्दर्य बिलकुल 'मानस' की नकल होगा।

हृदय को फँसाने का पाश काम में आता है केश-पाश, यह यौवन का प्राकृत शृंगार है, शृंगारी कवियों के मन प्रायः युवती के कटाक्ष से मर्माहत होकर, उसके केश-पाश में जकड़े हुए, उन्नत स्तनों की चोटी से पटके जाकर, अनन्त काल तक नाभि-कूप में पड़े-पड़े यातनाएँ सहते रहे हैं। यदि युवती की केश-शिखा दीपशिखा है तो अजन उस दाहक की कालिमा है] तुलसी ने इन दोनों कालिमामय वस्तुओं को नेत्रों का सबसे बड़ा दाहक माना है, संन्यासी-स्त्रियां सर्वप्रथम नेत्रों से अजन तथा सिर से केश का ही त्याग करती थी। आनन पर दिव्य आभा भी हो सकती है, नेत्रों में सात्विक दया तथा करुणा आदि भी विद्यमान रह सकते हैं, परन्तु नागराज के वशज केश तो केवल मोह उत्पन्न करते हैं। 'कान्ता-कटाक्ष-विशिख'[1] का अद्भुत प्रभाव अनेक नीतिकारों का वर्ण्य विषय रहा है। ध्यान रखना होगा कि सन्यासी तुलसी ने युवती या उसके किसी अग की समानता जब किसी घातक या दाहक वस्तु या पदार्थ से बतलाई है तो उनके सामने सामान्य युवती का चित्र है, युवती-विशेष का नहीं, अर्थात् उनकी कल्पना कौशल्या जैसी माता तथा सीता जैसी पत्नी की सृष्टि करती है और उनके प्रति अमित श्रद्धा और सम्मान उँडेल देती है, परन्तु फुटकल स्त्रियों—अप्सराओं, निशाचरियों आदि—के गुणगान वे न कर सकते थे, विदेशी शासन के इन विलासी वातावरण की वाममार्गियों की सास्कृतिक परम्परा प्राप्त हुई और सरस्वती, लक्ष्मी तथा दुर्गा रूप के नितान्त अभाव में नारी का केवल कामिनी रूप ही अवशेष रह गया, अतः यह आवश्यक हो गया कि जब तक नारी अपने उच्च पद को पुनः प्राप्त न कर ले तब तक उसके विकृत नारीत्व से राष्ट्र को बचाया जाय, तुलसी आदि ने कामिनी के मायक रूप से इसी हेतु घृणा की है और नारी के दुष्ट स्वरूप का चित्रण किया है, अनुभव से सिद्ध है कि पतनोन्मुख राष्ट्र का सबसे प्रबल अभिशाप नारी ही है, नारी स्वरूप को अधिक शक्तिमान् परन्तु निर्बल को नितान्त बलहीन बना देती है। वस्तुतः उसका व्यक्तित्व राष्ट्र की सामयिक विशेषता पर निर्भर है—राष्ट्रविशेष प्राप्य भवति योग्या अयोग्याच।

अस्तु, 'विनयपत्रिका' के काव्य-सौन्दर्य में पाठक का ध्यान इन दृष्टान्तों पर भी जाता है जिनका मूल उद्गम दर्शन-शास्त्र है, कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

(क) जग-नभवाटिका रही है फलि फूलि, रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे ॥६६॥

(ख) वूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न वारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार-बस छति बिसारि आनन की ॥९०॥

---

[1] कान्ता-कटाक्ष-विशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोप-कृशानु-तापः।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशैः
लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥ (भर्तृहरि)

(ग) अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरयौ।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन सन्तोष धरयौ ॥९२॥

(घ) घृत पूरन कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत औटत नास न पावै।
तरु-कोटर महँ बस बिहंग, तरु काटें मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥११५॥

(ङ) वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई ॥१२३॥

इन दृष्टान्तों की प्रथम विशेषता यह है कि इनका उपयोग 'विनयपत्रिका' के उस भाग में हुआ है जहाँ, स्तुति का अवसान हो जाता है और फलतः यत्किंचित् रूपक सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरी विशेषता इनका दार्शनिक स्वरूप है, कवि को ये काव्य-परम्परा से नहीं दार्शनिक वातावरण से प्राप्त हुए हैं। किसी-न-किसी प्रकार से माया या अज्ञान ही इनके प्रस्तुत विषय हैं, और 'पत्रिका' में इनकी आवृत्ति नहीं हुई। जिस भाषा में ये व्यक्त हुए हैं वह इस बात का प्रमाण है कि कवि ने यत्नपूर्वक इनको स्वयमागत तथा अनिवार्य रूप में ग्रहण किया है, ये सार-स्वरूप या बौद्धिक मात्र नहीं प्रतीत होते। इसमें सन्देह नहीं कि इन दृष्टान्तों का आदि उद्गम लोक-जीवन से ही हुआ था परन्तु शनैः शनैः दार्शनिकों ने अपनाकर इनको उच्च स्तर प्रदान कर दिया, तब से ये विशेष समाज में आदरास्पद बन गये। तुलसी में लोक-जीवन के सामान्य मौलिक दृष्टान्त कम ही हैं—

(क) करम वचन हिये कहौं न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की ॥७५॥

(ख) जौ श्रीपति-महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ॥१६८॥

चमत्कारी आलोचक 'पत्रिका' में साहित्यिक-मात्र सौन्दर्य की प्रशंसा किये बिना न रहेगा, तुलसी जैसे महान् साहित्यसेवी के लिए यह संभव न था कि शुद्ध पारमार्थिक काव्य में वे आलंकारिक आभा की नितान्त अवहेलना कर देते। "बावरो रावरो नाह, भवानी", "जौ निज मन परिहरै बिकार", "अब लौं नसानी, अब न नसैहौं", "केशव, कहि न जाइ का कहिए" आदि पदों का चमत्कार निश्चय ही अपूर्व है। ध्यान देने पर स्तुति-परक भाग में शब्दों के बड़े मनोहर चमत्कार मिलते हैं, प्रायः एक ही वर्ण का सविनय आग्रह किसी प्रच्छन्न योजना का सूचक है, इस दृष्टि से पद संख्या ५६ को देखा जा सकता है, 'द', 'म', 'व', 'स', 'नि' 'भ', 'फ', आदि के वर्ण रोचक तो हैं ही, इनके मूल में कोई सैद्धान्तिक गहराई भी अवश्य खोजी जा सकती है, संभव है इस चमत्कार पर तान्त्रिक प्रभाव हो या मानसिक रुचि व्यक्त हो गई हो, तुलसी ने उन सभी का मनन तो किया ही था।

'विनयपत्रिका' तुलसी की सबसे उत्कृष्ट रचना है, व्यक्तित्व के आन्तरिक तथा बाह्य पदों का जितना अधिक सौन्दर्य इस रचना में है उतना किसी दूसरी में नहीं।

व्यक्तित्व की सच्ची झलक होने के कारण ही इसमें उदात्त सरसता तथा शुष्क सौन्दर्य की सामान्य उपलब्धि होती है। अन्य रचनाओं की आभा यहाँ प्राय आवृत्त नहीं हुई, 'मानस' तथा 'पत्रिका' तो प्राय भिन्न मानसिक स्थिति में रचे गये हैं। 'पत्रिका' के दीर्घ रूपक संस्कृत-गद्य-साहित्य से प्रेरित होकर कवि के विषय में नवीन सभावनाओं को प्रेरित करते हैं। रूप, रंग, आकार आदि की नितान्त उपेक्षा तुलसी के विकसित व्यक्तित्व का भी प्रभाव है। 'पत्रिका' तक जाते-जाते शैली, भाव तथा विचार सबमें कवि का पूर्ण विकास लक्षित होता है। इस दिशा में अप्रस्तुत सामग्री जितनी सहायक है उतनी कदाचित् प्रस्तुत नहीं। 'पत्रिका' के पदों में सूक्ष्मता तथा अमूर्तता का साम्राज्य प्रौढ़ता की उपज है, रूपकों की बात छोड़िए, भगवान् से वरदान माँगते समय भी तुलसी की शैली क्लिष्ट हो गई है, वे मीन के समान अनन्य प्रेम की याचना कितनी अमूर्त शब्दावली में करते हैं—

> करुनानिधान वरदान तुलसी चहत
> सीतापति-भक्ति सुरसरि नीर-मीनता।२६२।

केशवदास

हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में केशवदास का व्यक्तित्व एकदम निराला था। उनका अध्ययन संस्कृत-काव्य-परम्परा में होना चाहिए, देशीय प्रवृत्तियों में नहीं। आचार्यत्व और कवित्व का ऐसा मणि-काञ्चन-संयोग किसी और कृती के व्यक्तित्व में उपलब्ध नहीं होता। केवल साहित्य-प्रेम के कारण साहित्य-सेवा केशव की अपूर्व विशेषता है। जन्म-जात तथा व्यावसायिक जो परिस्थितियाँ केशव को अनायास ही मिल गईं वे किसी अन्य कवि या आचार्य को कल्पना में भी सुलभ न थी। उच्चतम ब्राह्मण वश में जन्म, यशोधन पिता-पितामह का गर्व, संस्कृत-साहित्य की अपार राशि पर अधिकार, तथा मूर्धन्य राज-घराने में गुरु-पद उनके व्यक्तित्व तथा काव्य में ओज एव उत्तुंगता के स्थूल आधार हैं। उनसे पूर्व भाषा में जैनों और बौद्धों के दूरागत प्रभाव से जिस साहित्य की सृष्टि हुई थी उसका एकदम बहिष्कार करके केशवदास ने क्लासिकल संस्कृत साहित्य की परम्परा में रचना की, यद्यपि उस अनुकार्य से पूर्व तथा उत्तर की परम्पराएँ भी कुत्रचित् इस प्रयत्न को स्पर्श कर जाती हैं।

केशवदास की ११ रचनाएँ भगवानदीन ने[1] मानी हैं जिनमें से कम-से-कम ७ प्राप्य भी हैं। प्राप्य कृतियों में से 'विज्ञानगीता' दार्शनिक है, 'जहाँगीर-चन्द्रिका', 'वीरसिंह देव-चरित्र', तथा 'रतन बावनी' सामान्य प्रबन्ध काव्य हैं, और 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' तथा 'रामचन्द्रिका' प्रौढ़ रचनाएँ हैं। 'रसिक-प्रिया' और 'कविप्रिया' क्रमश रस तथा अलकार की पुस्तकें हैं, इनका निर्माण कवि शिक्षा के उद्देश्य से हुआ था। 'रामचन्द्रिका' में एक उद्देश्य छन्द शिक्षा भी रहा है, परन्तु यह केशवदास की कवित्व-शक्ति की मुख्य माप है।

व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि में रखकर केशवदास की रामचन्द्रिकेतर कृतियों

---

१. केशव-पञ्चरत्न, आशाशिका, पृष्ठ ७।

श्रृंगार-काव्य

उत्तर-पश्चिम से देश पर विदेशियों के जो आक्रमण हुए वे कमर में भोंके हुए खंजर के समान थे। यूनानियों के समान यदि मुसलमान एक साथ सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में आ जाते तो राजपूती लोहे से उनका सिर छिन्न हो जाता और देश को दासता का अभागा दिन न देखना पड़ता। परन्तु मुसलमान कितने ही मार्गों से कितनी ही बार देश के कतिपय भागों में आये और दीमक के समान समाज की जड़ों को खोखला करने लगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि व्यापार आदि के लिए उनका भारत में आगमन किसी दूरदर्शिता से गर्भित था, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि यदि वे युद्ध से पूर्व कभी दिखाई न दिये होते तो उनको प्रश्रय न मिलता। यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि राजपूतों ने इन विदेशियों के साथ मैत्री के कुफल का अनुमान भी लगाया होता तो देश में इस विकार का प्रवेश न होता। दुर्भाग्य ही था कि मुसलमान भारत में आ गये और देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पतन के कारण बने। आक्रमणकारियों से अधिक घातक देशी मुसलमान थे। यह कहना कठिन है कि प्रारंभ में धर्म-परिवर्तन का क्रम किस गति से चला और केवल सम्प्रदाय-दीक्षा से ही अपना व्यक्ति किस प्रकार पराया होता गया और अन्त में आक्रमणकारियों की अनुपस्थिति में प्रायः उनसे अधिक भयंकर बनकर, यह देशी-विदेशी भारत की श्री का ध्वंसक दस्यु सिद्ध हुआ।

विदेशी मुसलमान जब एक हाथ में खंजर और दूसरे में स्वर्ग का प्रमाण-पत्र लेकर ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की प्रेरणा से भारत में आया तो उसे समाज के अधिकारियों से लोहा लेना पड़ा। इसीलिए उसका विरोध अभिजात-वर्ग से था। समाज का निम्न-वर्ग इस उथल-पुथल से अप्रभावित था, विदेशियों ने उसको लोभ दिया और अपने में मिलाया। अस्तु, आक्रमणकारियों का वर्ग बढ़ता ही रहा और कालान्तर में देश में एक स्थायी ध्वंसक समाज का निर्माण हो गया। विदेशियों के पैर जम गये और तब उनका प्रयत्न अभिजात-वर्ग को फोड़ने का रहा। क्षत्री उस समय राज्यश्री का भोग करते थे, उनसे प्रतिद्वन्द्विता ही मुसलमानों का ध्येय बना। कई बादशाहों ने क्षत्रियों के साथ मैत्री, विवाह आदि करने का प्रयत्न किया अन्त में भारत की श्री विदेशी संस्कृति से विकृत हो गई और 'त्यागपूर्वक भोग' का आदर्श 'छीनकर भोग' में बदल गया, इसी को अधर्म कहते हैं। जब तक मुसलमान निम्न वर्ग को निगलने का प्रयत्न कर रहे थे तब तक उनके आश्रय में कला के अभ्युदय का प्रश्न ही नहीं आता। परन्तु जब वे अभिजात-वर्ग को पचाने में लगे तो वातावरण में विलास की दुर्गन्ध फैली और वासना-अंकित कलाकृतियाँ समाज के सम्मुख आने लगीं। हिन्दुओं ने उस वातावरण को दिव्यता के छींटों से पवित्र करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह प्रवञ्चना मात्र ही था, विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से भारतीय समाज में वासना का जो जाल फैलने लगा वह कर्मण्यता के स्थान पर स्त्रैणता तथा अमृत के स्थान पर मदिरा का प्रचार

कर गया। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से मुसलमानों के पहिले प्रयत्न ने भक्तिकाव्य का वातावरण प्रस्तुत किया और दूसरे ने शृंगार काव्य का।

अकबर से शाहजहाँ तक का शासन-काल राजनीति में स्वर्ण शान्ति का युग है। पारस्परिक लड़ाई-झगड़े तो रूठने और मनाने के रूप में चलते रहते थे, परन्तु युद्ध नामक भाग्य का निपटारा करने वाली बात उस समय समाप्त हो चुकी थी। राजपूतों का बल क्षीण हो रहा था, और विदेशियों के पैर जम चुके थे, अतः देश में किसी भारी परिवर्तन की आशा अब न रह गई थी। शासकों ने देश-विदेश के उन कलाकारों को आश्रय देना प्रारम्भ कर दिया जो अपनी माया से पौरुष को मुग्ध कर सकते थे। ईरान और भारत की सामान्य भोगप्रियता अपने सम्पूर्ण दोषों के साथ जीवन में प्रतिबिम्बित हुई। शासक स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए बाजार लगाने लगे, या प्रेयसी को छीनने के लिए उसके पति की हत्या करने लगे तो प्रजा पर अच्छा प्रभाव न पड़ सकता था। इन्द्रिय-भोग का ऐसा भूचाल आया कि संयम की जड़ें ढीली पड़ गई। अधरों पर शराब का प्याला, हाथ में प्रेयसी का हाथ और स्वर में मन्मथ का मन्त्र ही उस युग की सामान्य संस्कृति थी। पर नारी को छीनने में पौरुष की अभिव्यक्ति और मानिनी नायिका को मनाने में जीवन का सुख इस युग का सामान्य ध्येय था। अस्तु, पुरुष और स्त्री सभी पाशव वृत्तियों में उलझकर इन्द्रियों के दास बन गये और उच्च आकांक्षाएँ सिसक-सिसककर प्राण त्यागने लगी।

बादशाहों का जब यह हाल था तो उनके अधीन सामन्त तथा सामन्तों की प्रजा कब पीछे रहने वाली थी। उस युग में शासक भूतल पर ईश्वर का प्रतिनिधि था और अपनी ओर से अपने प्रिय व्यक्तियों को वह मनसब देकर प्रतिनिधि घोषित कर देता था, प्राय बादशाह के बदलने पर उसके चेले बदल जाते थे, जो इस बात का प्रमाण है कि राजकीय प्रसाद व्यक्तिगत पुरस्कार था गुणाश्रित नहीं। बादशाह के आश्रित रहन सहन में उसका अनुकरण करने लगे, प्रत्येक ग्राम आगरा की नकल बनने में अपना सौभाग्य समझता था। अस्तु, यथा राजा तथा प्रजा की कहावत इस काल में सफलतापूर्वक चरितार्थ होने लगी। जो दुर्गुण राजा या बादशाह में अटल थे उनको अपने में उगाकर ही कोई कृपापात्र बन सकता था, उन दुर्गुणों के प्रति घृणा का तो प्रश्न ही नहीं आता। धर्म की मर्यादा को छोड़कर सारा समाज इन्द्रिय-सुखों के योग में दिन काटने लगा, तो कुशल और क्षेम भी दुर्लभ बन गये, देश पर जो दैवी प्रकोप हुए वे भी उस वासना-निद्रा में स्वप्न देखनेवालों को न जगा सके। जनता के पतन की यह चरम अवस्था थी जिसको बादशाही आश्रय भी प्राप्त मिल रहा था। इस राजनीतिक तथा सामाजिक दुरवस्था में धार्मिक द्वेष तो कुछ कम हो गया, परन्तु जनता परवश होकर पतन की ओर जाने लगी। शृंगार-काव्य का प्रणयन इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था।

मध्यकालीन शृंगार-काव्य विरोधी संकेतों की भूमि है। विलास के कतिपय उपकरणों की अधिकता से ही जीवन में सम्पन्नता का अनुमान लगानेवाला कलाकार उस काव्य की सौन्दर्य-साधना पर मुग्ध हो सकता है। परन्तु विशाल जीवन की दय-

नीय रिक्तता का प्रतिबिम्ब देखकर इस काव्य को निर्जीव कह देना भी अनुपयुक्त नहीं है। वस्तुत इस काव्य में शृंगार रस भी तो नहीं है, 'रस' का गुण उद्वेगहीन आनन्द है, परन्तु यह काव्य कामातुर व्यक्तियों के मन में उद्वेग, तृष्णा, अशान्ति तथा निरुत्साह उत्पन्न करता है। 'शृंगार' का भी प्रश्न नहीं आता, शृंगार रसराज है जो उज्ज्वल वर्ण से युक्त होकर व्यक्ति को आत्म-विस्तार की ओर ले जाता है, परन्तु यह काव्य धर्मविरुद्ध काम की यज्ञस्थली है, जो धूम्रधूसरित होने के कारण उज्ज्वल वर्ण नहीं मानी जा सकती। यदि काव्यशास्त्र की शब्दावली का ही प्रयोग आवश्यक हो तो इस काव्य को शृंगार-रसाभास से ओत-प्रोत माना जायगा। सदाचार को छोड़कर ही आचार के दोष रूपी अनाचार, कदाचार, व्यभिचार आदि का वर्णन सर्वत्र मिलता है। प्रेम, प्रीति या स्नेह के नाम पर नग्न कामाचार की लहरें ही इस काव्य का प्राण है। जीवन का इतना खोखला चित्र भारतीय साहित्य में अन्यत्र नहीं है, कदाचित् इसी-लिए उन कलाकारों ने बाहरी आवरणों की चमक-दमक में भीतरी रिक्तता को आच्छादित करके अपने मन को प्रवचना से मुग्ध बनाया और समाज के पतन में परोक्ष योग दिया।

कामुकता का यह काव्य क्षणिक जीवन को सुख-सचय में बहलाने का जब बार-बार प्रयत्न करता है तो उस मद्यप की सहसा याद आ जाती है जो अपने हताश एवं पर-वश अस्तित्व को रंगीनी से चमकाकर वास्तविकता को भूलने में प्रयत्नशील हो। और जब इस युग की कविता कौशेय की फहर-फहर तथा झनकारों की छम-छम-छम से उत्साह को आकृष्ट करके अपने आसव से बेसुध एवं पौरुषहीन बना देती है तो हम उस मूल्य की कुछ कल्पना करने लगते हैं जो मध्यकालीन कला के लिए हमारे समाज ने दिया था। वस्तुत इस युग की कला वेश्या के समान सजधजकर बाजार में बैठ गई और मनचले युवकों को फँसाकर उनका सर्वस्व लूटने लगी। रस के स्थान पर चम-त्कार तथा आनन्द के स्थान पर उद्वेग इसका प्राण है। यह वह आसव है जिसका सेवन करने वाला फिर कभी होश में नहीं आता, इसकी चसक जिसको लगी उसको बर्बाद कर छोड़ती है। इसीलिए इस युग में प्रेम नाम से जिस वस्तु का वर्णन किया गया है, उसका चसका पीनेवाले को अन्त में मिटा ही डालता है। विरह के व्याज से जिस निराशात्मक भाव का वर्णन इस काव्य में है वह अपनी करुणा तथा दयनीयता में ही आकर्षक है। मृत्यु का इतना सस्ता वरण उस युग के जीवन का कुछ मूल्य अकित कर सकता है।

इस युग के कवि या तो राजाश्रय में जीवन बिताते थे और आश्रयदाता के विलास में अपनी कविता को नित्य-प्रति भेंजा करते थे, या किसी प्रेयसी के नाम पर जीवन की रिक्तता को कविता में बहाया करते थे। बिहारी के समान जिसको कोई स्थायी आश्रय मिल गया वह "चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटान" की कल्पना में अपनी सरस्वती को नचाता रहा। परन्तु देव के समान जो "केते नरनाहनि को नौहीं सुनि, नेह सों निहोरि हारि" वदन निहारता रहा उसने भिन्न-भिन्न जाति और प्रदेश की कामिनियों के रूप और यौवन का खुला वर्णन करके कामियों को

आकृष्ट करते-करते अन्त में ज्ञान ध्यान से ही शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। व्यक्तिगत वेदना को समष्टि के शहद में लपेटकर दूसरों को चटाने वाले विरहियों ने अपनी आग से उस पेय को चाशनी में बदल दिया है, फिर भी वह किसी रोग की औषधि नहीं बना प्रत्युत हृद्रोग का संवर्धन मात्र करता रहा।

तथाकथित काव्य जब मन को झूमने की प्रेरणा न दे सका तो शब्द-क्रीडा ने नृत्य और वाद्य के स्थानापन्न होकर पाठक पर जादू करना चाहा। अनुप्रास और यमक की अजस्र वर्षा उन्मत्त गुणग्राहकों की आँखों में गुलाल फेंक गई, फलत अर्थ की अनुपलब्धि में भी इधर-उधर हाथ-पैर मारते हुए वे मनोरंजन करने लगे। किसी भी कवि में इतना धैर्य न था कि वह जीवन पर एक चलती हुई दृष्टि भी डालता और उसको सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता। काव्य की कसौटी सस्ती वाह-वाह थी। ग्राम-ग्राम में दरबार बन गये और प्रत्येक आश्रयदाता रसिक-शिरोमणि बनने के लिए कामिनियों के कटाक्षों से विद्ध होकर तड़पने लगा। इस कामुक काव्य की वास्तविकता उसकी अप्रस्तुत-योजना में सफलतापूर्वक प्रतिबिम्बित हुई है।

इस विलासी काव्य में जीवन को आद्यन्त प्रभावित करने की शक्ति नहीं थी, इसलिए इसका प्रणयन बिखरे-बिखरे बुद्बुदों के रूप में ही हुआ। यह मुक्तक है, प्रबन्ध नहीं, प्रबन्ध काव्य के लिए जिस धैर्य एवं पूर्णता की आवश्यकता होती है वह इस मदिर युग में सम्भव न थे। प्रत्येक कवि अपने आप में तो स्वतन्त्र है ही, अपने काव्य में भी असम्बद्ध है। फलत उसके एक से अधिक ग्रन्थ किसी तारतम्य के सूचक नहीं माने जा सकते। शृंगार-काव्य कर्ता अनेक हैं, परन्तु कितने प्रथम कोटि के हैं—यह विवादास्पद ही रहेगा। बिहारी के विषय में तो मतैक्य हो सकता है, परन्तु देव, मतिराम, घनानन्द आदि का स्थान निर्धारित करना आसान काम नहीं। प्रस्तुत अध्ययन में हमने कालक्रम का ध्यान रखते हुए बिहारी का प्रथम विवेचन किया है, तदनन्तर दूसरी प्रवृत्ति के एक प्रतिनिधि घनानन्द का, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बिहारी की ही जाति के हैं, उनका अलग अध्ययन करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

बिहारीलाल

कविवर बिहारीलाल ने अपने समस्त जीवन में सम्पूर्ण राजकीय सुविधाओं का उपभोग करते हुए भी केवल ७०० से कुछ अधिक दोहे लिखे हैं जो कवि की मीनाकारी का सुन्दर उदाहरण है। एक दोहे की रचना धैर्य और परिश्रम के एक सप्ताह में हुई हो तो भी उसका मूल्य कितना अधिक है—यह कल्पना कठिन नहीं। मुक्तक के विषय में यह सोचना तो व्यर्थ है कि उनकी रचना के १२ वर्षों में कवि की विचार-भाव-धारा या जीवन-दर्शन में कोई एकरूपता खोजी जा सकती है। परन्तु आद्यन्त सौन्दर्य का विश्लेषण हमको कवि के सूक्ष्म व्यक्तित्व का कुछ आभास अवश्य दे सकेगा।

बिहारी की मुख्य व्यक्तिगत विशेषता उनकी 'नागरता' है जो उनके काव्य को 'गँवई, गाँव' के वातावरण से सहज पृथक् कर देती है। उनकी दृष्टि में समाज के दो भाग हैं—नागर तथा ग्रामीण। ग्रामीण समाज सभी प्रकार की कलाओं से अछूता

मत. अपरिष्कृत है, उसमें 'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस सरस-रस, रति-रंग' की चर्चा भी व्यर्थ है क्योंकि वह गुलाब को "करले सूंघि, सराहि हू" (दो० ६२४) अपने को अन्य में असमर्थ जानकर, मौन रह जाता है। जहाँ तक कला का प्रश्न है ये ग्रामीण तो प्रत्यक्ष 'पशु-नर' हैं जिनके लिए सुन्दर-से-सुन्दर गुलाब भी 'फूल्यौ, अनफूल्यौ' है—बेचारे धोबी, ग्रोड तथा कुम्हार[1]! यदि प्रश्न किया जाय कि क्या ये गँवार कभी नागर हो सकते हैं तो उत्तर निषेधात्मक ही होगा, हींग को कपूर में मिलाकर रख दीजिए फिर भी क्या वह अपनी गन्ध को छोड़कर कपूर की सुगन्ध ग्रहण करेगी (दोहा २२८)[1]। जिस व्यक्ति को नागर के इस सभ्य समाज का चसका लग गया है वह गाँव में जाने का कभी नाम न लेगा—जिसने एक बार अंगूर को चख भर लिया है उसकी जीभ को निबौरी क्षणभर भी अच्छी कैसे लग सकती है (दोहा, १८७)। अस्तु, गर्व और गुण की निधि (दोहा, २७६) नागर के ये विविध विलास अपूर्व हैं, परन्तु गँवारों में इनका कोई आदर नहीं, वे तो इन पर व्यंग्य से हँसते हैं (दोहा, २०६)। बिहारी को अपने कलापूर्ण विलासी जीवन का बड़ा गर्व था, वे दरबारी चमक-दमक से वंचित समाज में टिकना भी पसन्द न करते थे। सम्भव है उनको कुछ कटु अनुभव हुए हों, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावना उस समय के शिरोमणि कलाकारों में बसी हुई थी।

'नगर' और 'ग्राम' से सर्वदा किसी भौगोलिक क्षेत्रफल आदि का संकेत नहीं मिलता। आश्रयदाता का सम्पन्न निवास-स्थल ही 'नगर' है, और विपन्न सामान्य जनता के घर ही ग्राम हैं। सम्भवतः किसी कलाकार या पारखी को अयोग्य सिद्ध करने के लिए 'गँवार' शब्द का प्रयोग आज तक उसी परम्परा में चला आ रहा है। प्रत्येक आश्रयदाता अपने को रसिक-शिरोमणि समझता था और प्रत्येक कवि कला का अवतार माना जाता था। फिर भी बिहारी को इस 'नागरता' की ऐसी लगन थी कि मंगलाचरण के प्रथम दोहे में अपनी इष्टदेवता को 'राधा-नागरी' के नाम से उन्होंने सम्बोधित किया है। सामान्यतः उस समय कवि अपने कवित्व के गर्व में चूर-चूर रहता था। अतएव खुले दरबार वह इस प्रकार की चुनौती प्राय दे दिया करता था कि 'गिन लीजिए इस कविता में अनेक अमूल्य अलंकार[2] हैं', या 'आप आँख खोलकर[3] देखिएगा तो सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाइएगा', या 'लोग समझते हैं कि कविता आसान[4] काम है, परन्तु यह प्रतिभा का विषय है' या 'मेरी कविता को वही समझ सकता है जिसकी आँखों में स्नेह[5] रेंजा हुआ हो'। बिहारी ने भी अपनी कविता के विषय में यह

---

१ दोहों की संख्या 'बिहारी-रत्नाकर' (१९२१) के आधार पर है।

२ सख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं। (सेनापति)

३ ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई।
(मतिराम)

४ लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है। (ठाकुर)

५ समझै कविता घन आनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी। (घनानन्द)

['चितवन भोरै कछू जिहि बस होत सुजान' लिखकर उसकी अन्तस्थ अपूर्वता का संकेत दिया है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं।

'नागरता' से बिहारी का काव्य-कला के सम्बन्ध में, अभिप्राय ध्वन्यात्मकता से है। युवती के अंगों में लावण्य, पाटल में सौरभ, तन्त्री में नाद, या काव्य में रस एक ही प्रकार की वस्तुएँ हैं। इनका स्थूल रूप इदमित्यम् नहीं परन्तु अमूर्त प्रभाव निर्विवाद है—स्थूल रूप भी उस अमूर्त प्रभाव का वाहक मात्र है। अत अंगों का वर्णन करते हुए भी बिहारी उनके मोहक प्रभाव को ही लक्ष्य समझते हैं। रति आदि का वर्णन उन्होंने संकेतों से किया है, स्थूल चित्रण द्वारा नहीं। यदि विद्यापति से तुलना की जाय तो अधिक स्पष्ट हो जाता है। विद्यापति ने नायक और नायिका की रति का चित्रण करते हुए उनके चुम्बन[1], आलिंगन आदि का वर्णन खुले शब्दों में दे दिया है। इसके विपरीत बिहारी अपने प्रथम दोहे में ही सम्भोग शृंगार का वर्णन करते हैं परन्तु इस कौशल के साथ कि सामान्य पाठक उसे देख ही न सके—श्याम ने राधा को देखा और उनका मन खिल उठा, तत्काल ही पर्दा गिर गया और आगे की सारी चेष्टाएँ नेपथ्य में हुई। रति का इतना 'नागर' वर्णन हिन्दी के किसी भी शृङ्गारी कवि ने नहीं किया। बिहारी की यही कला उनको सजातीयों में उच्च स्थान प्राप्त कराती है। काव्य-कला के इस आदर्श का स्पष्ट संकेत बिहारी के निम्नलिखित दोहे में है—

दुरत न कुच बिच कचुकी चुपरी, सारी सेत।
कवि-आंकनु के अरथ लौं प्रगटि दिखाई देत ॥१८८॥

[चोवा आदि से चुपड़ी हुई कचुकी तथा श्वेत साड़ी में ढके हुए नायिका के कुच छिपे नहीं रहते, कवि के अक्षरों में अर्थ भी स्थूलत आवृत्त परन्तु सूक्ष्म दृष्टि के लिए प्रकट रहता है—यह व्यङ्ग्यार्थ जो है।]

इसी हेतु इस कवि के अक्षरों में सलज्जता सर्वत्र है, जो भी कहा है प्राय संकेतों से ही। नायिका के अंगों पर इस सिद्धान्त का प्रभाव यह पड़ा कि संकेत के आधार नेत्र और उनके कटाक्ष वर्णन का विषय अधिक बने हैं, स्तन आदि स्थूल अंग कम। बिहारी के काव्यादर्श में विद्यापति के काव्यादर्श से यह भिन्नता सर्वत्र लक्षित हो जाती है। विद्यापति वर्णन करेंगे तो उत्तुंग उरोजों का, क्योंकि वे उद्दाम यौवन के स्थूल प्रतीक हैं, परन्तु बिहारी कटाक्षों से ही गहरी-से गहरी बात कहलवा देते हैं—उनमें तो 'चितवन' ही तन और मन की सारी उमगों की वकालत करती है। कटाक्ष के बाद संकेत का दूसरा साधन है 'मुसकान', जिसको 'सुजान' ही समझ सकते हैं। नेत्र और मुस्कान परिचय की सामान्य भूमियाँ और मन मिलने से पूर्व की आवश्यक भूमिकाएँ हैं प्राय इनका कार्य साथ-साथ ही होता है, मन को फुसलानेवाले ये दोनों सहचर हैं। बिहारी ने प्रथम मिलन से सभोग तक की सारी परिस्थिति का चित्रण एक

---

१ सुखद सेजोपरि नागरि-नागर बइसल नव रति साधे।
प्रति अंग चुम्बन, रस अनुमोदन, थर-थर काँपइ राधे ॥

हो दोहे में कितने कौशल से किया है—

उन हरको हँसि कै इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिले, मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ ॥१२८॥

'गो' शब्द का एक अर्थ इन्द्रिय भी है—यह न भूलना चाहिए।

बिहारी ने धोबी, मोड, कुम्हार आदि गँवारों को दुत्कारा है परन्तु कातन-हारी (दो० ६४७), बिलोवनहारी (दो० २४५) आदि गँवारिनों में रुचि दिखलाई है। देव के समान प्रत्येक जाति की नायिका के रूप-सौन्दर्य में डूब-डूबकर तो उन्होंने काव्य-रचना नहीं की, परन्तु कुछ गँवारिनों से वे अपने मन को दूर न कर पाये। ग्रामीणा का भी अपना सौन्दर्य है, पारखी उसको भी पहिचानता है। ग्वालिनो (दो० ६०६) में विचरण करनेवाला ग्रामीणा में प्रणयिमान हो भी कैसे सकता है? उनकी कुछ ग्रामीणाएँ नागर-नरों पर अपने कानतचारी नेत्रों से प्रहार कर देती हैं (दो० ४५)। उस ग्रामीणता में भी आकर्षण है—

गदराने तन गोरटी, ऐपन-आड लिलार।
हूठ्यौ दै, इठलाइ, दृग करै गँवारि सुवारि॥६३॥

उसके दृगों का वार अचूक है—परिपक्वपूर्ण यौवन और गोरा शरीर, फिर कमर पर हाथ रखकर इठलाना। जब वह खड़ी होकर खेत रखाती है तब कितने लोग उसके यौवन पर मुग्ध हो जाते हैं (दोहा २४८)। सत्य तो यह है कि रूप और कुरूप का कोई प्रश्न नहीं, मन की जिधर रुचि हो जाय (दोहा ४३२), जहाँ जिसकी प्यास बुझ सके (दोहा ४११) वही उसके लिए सुन्दर है। इसीलिए रीझनेवाले नेत्र और रिझाने वाला रूप जहाँ मिल जाते हैं वही आकर्षण हो जाता है, (दोहा ६८२) भले ही नायिका गँवारि हो सुनकिरवा की बिन्दी लगाने वाली —

गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलन गाड।
कैसी लसत गँवारि यह, सुनकिरवा की आड ॥७०८॥

बिहारी ग्रामीण नायिका को, हरी-हरी अरहर का खेत दिखाकर, धैर्य बँधाते हैं (दोहा १३५) या कपास बीनती हुई स्मृति दु खिता पर दयार्द्र हो जाते हैं (दोहा १३८)। ध्यान देने की बात यह है कि उनकी ग्रामीणा सर्वत्र सहज सौन्दर्य से आलोकित एवं अपने व्यवसाय के कार्य में रत रहती है, नागरियों के समान उसका जीवन केवल विलास के लिए ही नहीं है। नागरियाँ कहीं अंगों को सजा रही हैं, कहीं वारुणी का सेवन कर रही हैं, और कहीं विरह में तड़प रही हैं—वे विलास-विदग्धा हैं, जीवन का रस लूटने वाली। ग्रामीणाएँ अपना-अपना काम कर रही हैं, बिना बनाव-शृंगार के ही, और उनका जीवन इतना व्यस्त है कि नागर-रसिक उन पर रीझते हैं परन्तु विनिमय में उनसे कुछ नहीं पाते। ग्रामीणा का शृंगार उसका स्वस्थ शरीर और उसका प्राकृतिक वातावरण है, जो अंगूर खानेवालों को निबौरी[1] चखने के लिए आकृष्ट करता है। बिहारी धोबिनि, कुम्हारिनि, मनिहारिनि आदि के रूप पर नहीं

---

१ जीभ निबौरी क्यों लगे, बौरी चाखि अंगूर। (दोहा १२७)

रीझे—यद्यपि उनके समकालीन कवियों ने इन नायिकाओं को भी नहीं छोड़ा—नाइनि (दोहा ३५, ४४ तथा ६८७) आदि सेविका के रूप में आती है, नायिका बनकर नहीं। दरबारी कृत्रिम वातावरण के विलास से क्षणभर ऊबकर बिहारी का मन अकेली-दुकेली कृषक-पत्नी, (दोहा २४८), घर में व्यस्त ग्वालिनी (दोहा ६६६) या परिश्रम से कातकर जीविका चलानेवाली (दोहा ६४७) युवती को छिपकर देख लेता है मानो इस आशंका से कम्पित होकर कि आक की कली से रली करने के अपराध में (दोहा १४) 'रसिक' के पद से च्युत न कर दिया जाय। नागर-ग्रामीणा की इस काम-कथा में शृंगार नहीं है, केवल एकांगी कामुकता है, क्योंकि ग्रामीणा रस का आश्रय नहीं समझी गई, रसिक जिस प्रकार पशु-पक्षियों से मन बहलाकर अपने को गुणग्राही समझते हैं उसी प्रकार ग्रामीण-नायिका पर रीझकर उसको अपनी भोगलिप्सा का आलम्बन बनाते हैं, यह एकांगी आकर्षण साधारण लम्पटता से आगे नहीं चलता अतः रति आदि का प्रश्न भी इस वर्णन में नहीं है।

राधा-नागरी की कलावती शिष्याएँ बिहारी का मुख्य वर्ण्य-विषय हैं, उनके जीवन को कवि ने विभिन्न परिस्थितियों में देखा है, यहाँ तक कि गर्भवती का लजीला सौन्दर्य भी उसकी कामुक दृष्टि से नहीं छिप सका—'सुरति-सुखित-सी देखियत, दुखित गरभ के भार' (दोहा ६६२)। बालिका और वृद्धा का तो प्रश्न नहीं आता, परन्तु किशोरी स्वकीया और परकीया अनेक अवस्थाओं और दशाओं में कवि के सामने आई है। बिहारी के मन में नायिका 'दीपशिखा-सी देह' वाली (दोहा ६६, २०७, २६६ तथा ५६५) होनी चाहिए—उसके शरीर का अंग-अंग जगमगाता हो (दोहा ६६), राधा भी अपने तन की झाँई (दोहा १) से ही नायक के मन को हरा-भरा करती है। अपनी द्युति से वह ज्योत्स्ना में मिलकर (दोहा ७) एक हो सकती है क्योंकि उसके शरीर पर यौवन की ज्योति (दोहा ४०) है, उसके मुख की आभा शशि का परिहास (दोहा ५३) करती है, मुहल्ले के लोग प्रतिदिन ही पूर्णमासी के भ्रम में रहते हैं (दोहा ७३)। रंग की दृष्टि से नायिका को चपकवर्णी (दोहा १०२) कहा जा सकता है, परन्तु यौवन की सचित ज्योति, (दोहा १०६) जिसके समक्ष ज्योत्स्ना उसकी छाया-सी लगती है, आकर्षण का प्रथम हेतु है। इस ज्योति में रंग का उतना महत्त्व नहीं जितना कि अंगों की यौवन-जन्य दीप्ति का और सांस्कृतिक विलास-कलित परिवेश का, पुरुष के मुख पर जिसे तेज कहते हैं, किशोरी के वदन पर उसी दीप्ति का बिहारी ने 'ज्योति' कहकर वर्णन किया है। सामान्यतः इसी को 'रूप' कहते हैं। बिहारी ने इस रूप में नागर परिवेश को भी महत्त्व दिया है, और नागरी को इसी के आधार पर नायिका माना है, नागर परिवेश से वंचित युवती को गोरी या 'गोरटी' (दोहा ६३) कहकर उसके भोग्य शरीर की प्रशंसा की है, परन्तु उसे रस-विलास में भागी नहीं बनाया। नायिका विलास-कला में कुशल होनी चाहिए, उसकी ज्योति उसके आन्तरिक उल्लास, उसकी नागरता (कला-कुशलता), तथा उसके शारीरिक विकास तीनों की ही समवेत द्योतक है, आन्तरिक उल्लास और शारीरिक विकास तो सहचर हैं—जहाँ रहेंगे, साथ-साथ ही, परन्तु नागरता नारी का वह गुण है जिससे जीवन

'रसमय' (दोहा ४२) हो जाता है।

वर्णन के तीन विषय और हैं—स्तन, नेत्र तथा मुसकान। जिस प्रकार मख रूप का सामान्य प्रतिनिधि है, उसी प्रकार स्तन यौवन-जन्य शारीरिक विकास के सामान्य द्योतक है। इसी हेतु शृंगारी कवि कामुकता की उमंग में स्तनों की प्रशस्ति भाँति-भाँति की कल्पनाओं के द्वारा गाया करते हैं। बिहारी ने स्तन और नितम्ब का इजाफा करा दिया है (दोहा २) परन्तु केवल इसी अंग की स्तुति पर उनका ध्यान केन्द्रित नहीं रहा। यदि काव्यशास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करें तो यौवन-रस की अभिव्यक्ति में ज्योति-वर्णन ध्वनि-काव्य है, नेत्र-मुसकान-वर्णन गुणीभूतव्यंग्य, और स्तन-वर्णन चित्र-काव्य। जिस प्रकार चित्र-काव्य अधम काव्य है उसी प्रकार स्तनों का स्थूल वर्णन यौवन-रस का विशुद्ध आस्वाद नहीं करा सकता। गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहता, उसी प्रकार नेत्र और मुसकान का वर्णन और यौवन-रस का वर्णनोत्तर आस्वाद समान भाव से ग्राह्य है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य के लक्षणामूलक और अभिधामूलक व्यंग्य के समान क्रमश नेत्र-वर्णन और मुसकान-वर्णन को समझना चाहिए। ज्योति-वर्णन और स्तन-वर्णन की चर्चा ऊपर हो चुकी। नेत्र और मुसकान में से नेत्रों का वर्णन बहुत अधिक और मुसकान का अपेक्षाकृत कम है। मुसकान की व्यंजना कुछ स्थूल होती है, इसलिए उससे मन का भाव ही नहीं उसकी गहराई भी ज्ञात हो जाती है। गोरे मुख की मुसकान (दोहा ३०५), दुलहिनि का सलज्ज हास (दोहा ३४६), मुसकान के बिना बचन (दोहा ३६४), रिस-सूचक मुसकान (दोहा ३७९) तथा मान की मुसकान (दोहा ३८३) आदि के अन्तर्भुक्त भाव नायक और सखी दोनों पर प्रकट हैं। परन्तु नेत्रों की कहानी कुछ भिन्न है। उनकी स्थिति, गति, रंग, आकार आदि में एक समय एक ही भाव नहीं रहता, इसीलिए उनकी व्यंजना दुर्बोध्य है। बिहारी ने नेत्रों का वर्णन 'ज्योति' से भी अधिक किया है। विशाल नेत्र सुन्दर होते हैं, उस युग में तीक्ष्णता या नुकीलापन (अनियारे) आकर्षण माना जाता था, कजरारी आँखें (दोहा ६७०) स्वयं शृंगार है, बिहारी ने इन तीनों प्राकृतिक गुणों को स्वीकार किया है, परन्तु सबकी मुकुटमणि है 'चितवनि'—वह सबमें नहीं होती, उसका वर्णन भी संभव नहीं। सुजानों को बस में करनेवाली इस 'चितवनि' को 'औरै कछू' कहकर ही बताया जा सकता है—'वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान' (दोहा ५८८) 'चितवनि' से अनुराग तो द्योतित होता ही है, मान भी जताया जाता है (दोहा २६), यहाँ तक कि कथन, निषेध, रीझ, खीझ, मिलन, उल्लास, लज्जा आदि अनेक भाव एक साथ ही नेत्रों से प्रकट कर दिये जाते हैं (दोहा ३२)। भरे समाज में आँखें चल जाती हैं (दोहा १७७) अनुमति प्राप्त किये बिना मन को दूसरे के हाथ बेच भी देती हैं (दोहा १९५), और न जाने कौनसा जादू है उनमें कि नायक बेसुध हो जाता है—'कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल' (दोहा १५४)। सचमुच नेत्रों की महिमा अकथनीय है।

'बिहारी की नागरी का शारीरिक गुण सुकुमारता है। काम-काज के बिना विलास में पलकर किशोरियाँ रंग-रूप में अलग-अलग होते हुए भी सौकुमार्य में समा-

तीय है। मध्यकालीन संस्कृति में सौकुमार्य नारी के सामाजिक स्तर की माप था। तुलसी की सीता भी पर्यंक, पीठि, गोद और हिंडोले से नीचे पैर नहीं रखती, उन्होंने अनुभव ही नहीं किया कि कठोर अवनि का स्पर्श कैसा है। मुगल-शासन में यह सौकुमार्य सामाजिक स्तर के साथ-साथ भोग्यता का भी पदक बन गया। पुरुष का पौरुष जिस प्रकार तन और मन की कठोरता और विशालता में अन्तर्निहित था, उसी प्रकार नारी का नारीत्व तन के सौकुमार्य और मन की भीरुता में संचित माना जाता था। पुरुष भोगी था और नारी भोग्या, भोग के लिए जिस प्राप्ति की आवश्यकता थी वह बाहु-बल पर निर्भर थी, इसलिए जो बली था वही नारी-रत्न को प्राप्त कर सकता था, दूसरे लोगों को उनके बल के अनुसार ही मूल्यवती नारियाँ प्राप्त हो सकती थीं। यों तो वसुन्धरा की सभी वस्तुएँ वीरभोग्या हैं, परन्तु निर्जीव और सजीव लक्ष्मी के लिए यह नियम विशेषत लागू होता है। राजपूती आदर्श भी पुरुष और नारी के सम्बन्ध में इन विशेषता को महत्त्व देता था, परन्तु इस्लामी शासन ने एक विशेष परिस्थिति के कारण इसको मूलमन्त्र बना लिया, क्योंकि यहाँ भोग के अतिरिक्त, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रक्षा का था—भोग तो आपका विषय है परन्तु जब 'सलीम' बादशाह होते ही आप पर चढ आवेगा तो क्या आप अपने बाहु बल से रक्षा करके 'मेहर' को अपनी कह सकेंगे? इस स्थिति ने पुरुष और नारी के जीवन में जो पाशवता भर दी वह इतिहास की लज्जास्पद एव बर्बर कहानी है। नारी सौकुमार्य से ही परखी जाती रही, और सौकुमार्य का फल था भोग्यता। अस्तु, बिहारी की नायिका विलासी सुकुमारता की मूर्ति है। इस दृष्टि से उसके शरीर में अगो की अल्पता, कोमलता और भीनापन देखने योग्य है (विलास की मुख्य भूमि पद्मिनी नायिका कामशास्त्रियों के यहाँ इन्ही शारीरिक गुणो के कारण मूर्धन्य मानी जाती है)। बिहारी ने इन गुणों की व्यजना सयोग और वियोग दोनों ही परिस्थितियों में की है। गुलाब की पखुडी से गात्र में खरोट पड जाती है (दो० २५६), हाथ इतने छोटे हैं कि श्वसुर महाशय वधू को कण देने का काम सौंपते हैं (दो० २६५), पान खाते हुए जब वह पीक निगलती है तो त्वचा में से झलकती लाल रेखा सखी को कठाभूषण-सी प्रतीत होती है (दो० ४४०), एक दिन बेचारी सहेट से वापिस आ रही थी कि सुगन्ध से आकृष्ट मधुपों ने उसे घेर लिया (दो० ४५६), अगर वह गुलाब के झाँवे से पैर मलवावे तो निश्चय ही छाले पड जायँगे (दो० ४८३), और उसकी कमर तो तीन बार बाँस की छड़ी के समान लचकती है (दो० ५३२)। कारण यह कि नायिका 'नाजुक कमला' (दो० ४०५) अर्थात् सुकुमारी पद्मिनी है, बिल्कुल ऐसे समझिए जैसे कुसुम हो (दो० ५१६), इसीलिए तो कहा था कि उसको आभूषण मत पहिनाइए—सुकुमार कलेवर उस व्यर्थ के भार को कैसे सहन करेगा (दो० ३२२)? वियोग में यह फूल-सी सुकुमारी दीर्घ निश्वासों के साथ ही आगे-पीछे खिसकती रहती है (दो० ३१७)। यही खैर है कि वह किसी दिन उड न गई, कुम्हला तो ऐसे जाती है जैसे हाथ से मला हुआ कुसुम—'करके मीड़े कुसुम लौं, गई विरह कुम्हिलाइ' (दो० ५१६)। यह नागरी उसी सामग्री से बनी है, जिससे कि जायसी आदि की नायिका, दोनों पर इस्लामी जीवन के

अकर्मण्य विलास का निष्क्रिय प्रभाव है।

नागरी का दैनिक कार्यक्रम भी कम खेदोत्पादक नहीं। वह विलासिनी है, इसलिए उसका सारा दिन काम-क्रीडाओं के सग्रह में बीत जाता है—कभी प्रेमिका और कभी प्रेयसी बनकर बड़े कौशल से वह नायक की प्राप्ति और तदनन्तर उसके साथ सुखभोग में भूली रहती है, कभी नायक की छाया से उसने अपनी छाया को छुआ दिया (दो० १२), कभी रूक्ष नेत्रों से उसने मान की सूचना दी (दो० २६), कभी बाल ब्यौरने के बहाने कच और अंगुलियों के बीच नेत्रों से उसने नायक को देखा (दो० ७८), कभी चाले की बातें सुनकर अपने मन का उल्लास प्रकट किया (दो०१३४)। एक नायिका हार के ब्याज से दिन-रात अपने वक्षस्थल को ही देखती रहती है (दो० २५२), तो दूसरी टट्टी की ओट में दीर्घ निश्वासें निकालकर दूसरों के हृदय को पिघलाती है (दो० २६२)। अगर उसकी वीरता देखना चाहें तो तीरन्दाजी देखिए, क्या मजाल कि चचल लक्ष्य भी उस वक बाण-प्रहार से बच जाय (दो० ३५६)? एक लजीली वारुणी का सेवन करके (दो० ३६८), अपनी ढिठाई में मीठी लगी तो दूसरी प्रेम में ही मतवाली होकर प्रेमी की पतग की परछाईं को छूती हुई दौड़ती रही (दो० ३७३)। नायक की मुरली छिपाकर उसे छकाने के लिए प्रयत्नशील नायिका बड़ी व्यस्त मालूम (दो० ४७२) पड़ती है। मुँह मोड़कर मुसकाना (दो० ४६३), बैठकर आराम से मेंहदी सुखाना (दो० ५००), कभी उझकना और कभी छिपना (दो० ५२७), या आलसभरी जम्हाई लेना (दो० ६३०) इन कामों में यह सिद्धहस्त है। मदिरा-पान का तो अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। कहीं रूप-गर्व है तो कहीं बनावटी मान, कहीं प्रेम की ज्वाला है तो कहीं सपत्नी से ईर्ष्या, कहीं गुरुजनों से चालबाजी है तो कहीं झूठा बहिनापा (दो० ६५४)। इस प्रकार इन्द्रिय-रस की भूमिका, क्रिया तथा प्रवृत्ति में नागरी को तल्लीन करके बिहारी अपने युग का तरल चित्र अंकित कर रहे हैं, उस यथार्थ का समर्थन ऐतिहासिक तथ्यों से भी होता है।

बिहारी की अधिकतर नायिकाएँ लज्जाशीला हैं, परन्तु सबकी सब नहीं; कितनी ही कुलटा भले ही न हों, उससे कम भी नहीं हैं। देवर के कुचलों और घरेलू कलह के बीच सूखने वाली कुलत्नी (दो० ८५) तो एक-दो ही मिलेंगी, परन्तु देवर के विवाह पर विषाद में डूबनेवाली (दो० ६०२) अनेक हैं। आती हैं जामन लेने और मन में स्नेह जमा जाती हैं (दो० १४४)। देवर ने स्वभावतः जो फूल मारे थे (दो० २४६) वे ही उसके शरीर में रोमाच करने लगे। मिश्र जब पुराण में पर-नारी-गमन के दोष सुना रहा था तो नागरी की निर्लज्जता से (दो० २६४) हँस दी। ऐसी ही एक इठलानेवाली नायिका से खीझकर सखी बोली—इधर क्यों लगती है जिधर तेरा दिल लगा है उधर ही जा (दो० ३८२)। और जब गोद में बच्चे को चढ़ाते हुए किसी युवक का हाथ नायिका की छाती से लग गया तो वह उस गरीब को भी कीचड़ में घसीटने लगी (दो० ३८६)। ऐसी कलावती हो तो छायाग्राहिणी (दो० ४३३) है, जो किसी भी पुरुष को सहज भव-सागर पार नहीं करने देती। बिहारी ने स्त्री के दो रूप देखे हैं—नायिका और दूती। दूती वयोवृद्धा हो, या अन्य

किसी कारण से नायिका-पद के अयोग्य हो, अन्यथा वह स्वयं नायिका बनने का प्रयत्न करेगी। नायिकाएँ भी दो प्रकार की हैं—कुलस्त्री और कुलटा। इन दोनों में अन्तर केवल लज्जा का है। कुलस्त्री लज्जा के अवगुण्ठन में पति या उपपति में अनुरक्त होती है, उसकी कामुकता हृदय की किसी स्थिरता में पगी रहती है। कुलटा ने लज्जा त्याग दी, अतः प्रत्येक पुरुष उसका नायक है और उसकी समस्त चेष्टाएँ कामोद्गार से प्रेरित हैं। कुलस्त्री को कुलटा बनाने में ही उस शासन का प्रयास था, बिहारी में मानो अकबर से शाहजहाँ तक के इतिहास की सामाजिक स्थिति अक्षरशः प्रतिफलित हो गई है। सभी कुलटाएँ किसी-न-किसी समय कुलस्त्रियाँ थीं, परन्तु दूती की सीख या किसी अन्य भूल में वे अपने को गिरा बैठीं और उन्होंने अपना मन समझाया कि जब तक अवसर नहीं आता तब तक सब कुलस्त्री बनती हैं परन्तु एक बार स्वर्णावसर प्राप्त करने पर फिर कोई इस मिथ्या गरिमा की परवाह नहीं करती—

> किती न गोकुल कुल-बधू, काहि न केहि सिख दीन।
> कौनें तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर-लीन ॥६५२॥
> जौ लौं लखौं न, कुल-कथा तौं लौं ठिक ठहराइ।
> देखें आवत देखि हीं, क्यों हू रह्यौ न जाइ ॥७०६॥

नागरी-सम्बन्धी इन वर्णनों में समाज का प्रतिबिम्ब नहीं, आदर्श है, समाज की नारियाँ ऐसा जीवन व्यतीत न करती थीं, परन्तु इस बात का पूरा प्रयत्न हो रहा था कि वे ऐसे जीवन को ग्रहण कर लें। पाँच शताब्दी पूर्व देश के, वाम-मार्ग से प्रभावित, एक कोने में किसी विलासी कवि ने कुलटा बनने पर पश्चात्ताप करती हुई कुलकामिनी को छटपटाते देखा था और 'कुलकामिनि छलौं, कुलटा होइ गेलौं, तिनकर बचन लोभाई' की समस्त कहानी का सरस वर्णन करके उसने परिणाम में निराशा दिखाकर दूसरों को सावधान किया था। कालान्तर में वही पश्चात्ताप-वाक्य समस्त उत्तर भारत के राजाश्रित समाज का आदर्श-वाक्य बन गया। पतन की यह यात्रा समाज की भाव-भूमि पर जो चरण-चिह्न अंकित कर गई है वह साहित्यिक कृतियों के रूप में आज भी अतीत का प्रत्यक्ष करा सकते हैं।

यद्यपि सुकुमारी आभूषण को व्यर्थ का भार या दर्पण का मोरचा (दो० ३३५) समझती है, फिर भी उसकी दिनचर्या इस सौन्दर्य-साधना के अभाव में पूरी नहीं मानी जा सकती। बिहारी ने 'नागरी' के जिन भूषणों का वर्णन किया है उनसे तत्कालीन राज्याश्रित संस्कृति की एक झलक सुलभ हो जाती है। यौवन स्वयं शृङ्गार है, परन्तु बाह्य आभूषण उस सौन्दर्य को और भी आभा प्रदान करते हैं। नायिका का 'सहज-शृङ्गार' भाल पर बेंदी, मुख में पान, स्निग्ध केश और नेत्र का अंजन है (दो० ६७६) इससे अधिक नागरी की स्थिति, दशा, अवस्था आदि पर निर्भर समझना चाहिए। नायिका दुकूल (दो० २२३) और जरी के वस्त्र (दो० ३०४) पहिनती थी, प्राय वस्त्र बहुत झीने होते थे। (दो० १६ तथा १६८) आबेरवाँ नामक वस्त्र की साड़ी तौल में केवल पाँच तोले (दो० ३४०) थी, उसमें से तन-ज्योति बाहर जगमगाकर जलचादर के दीप का उपमेय प्रस्तुत किया करती थी। स्त्रियों के वस्त्र तीन थे—सारी, कंचुकी

और चुनरी। साड़ी या तो श्वेत (दो० १०६) हो, या नील (दो० ५० तथा २०७), क्योंकि श्वेत को पहिनकर ज्योत्स्ना में अभिसार हो सकता था और नील कृष्णाभिसार में उपयोगी थी। कंचुकी का रंग रुचि पर निर्भर है, सामान्यतः चटकीला लाल रंग (दो० १६०) यौवन में अच्छा लगता है, परन्तु शरीर के रंग की (दो० १६६) कंचुकी भी पहिनी जाती थी, और उसे चोवा आदि से (दो० १८८) चुपड़ लिया जाता था। चुनरी मुग्धा और मध्या का विशेष वस्त्र है, यह श्याम भी होता था। (दो० ३२६) और लहरदार भी (दो० ६२६)। वधुएँ अवगुण्ठनवती होती थी (दो० ६४६), जो अब सुन्दरता का वर्द्धक बन गया था और हर युवक घूँघट के अन्दर के रूप की एक झलक (दो० ५३) पाने को आतुर रहा करता था; अचल इतना बड़ा न होता था अत: जल्दी में अवगुण्ठन के लिए खींचा हुआ वस्त्र त्रिवली आदि को अनावृत्त कर सकता था (दो० ४२४) शरीर पर अंगराग (दो० ३३४) तथा केसर (दो० ३५६) का प्रयोग किया जाता था, नाखूनों की लाली के समान उस समय हाथ के नाखूनों पर मेंहदी (दो० ४४८ तथा ५००) लगाई जाती थी, पैरो पर महावर (दो० ३५, ४४, २३६, २८७ तथा ५०७) शोभा का वर्द्धक था। केश स्निग्ध होने चाहिएँ, उनका ड्योरना (दो० ४३६) पूर्व-प्रसाधन था, बाल मुख पर आ जाते थे और चतुरा नागरी उनके बीच में अँगुली डालकर (दो० ७८) अपने उरपति को देख सकती थी, दोनो ही रूप थे वेणी (दो० ५८७) तथा जूड़ा (दो० ६८७)। केशों की सघनता, श्यामता तथा दीर्घता पर उस समाज में अधिक ध्यान न दिया जाता होगा।

नागरी के मुख की शोभा आँखो के काजल (दो० ५) या अंजन (दो० ४६, २३६ तथा २६७), कान के तरौना (दो० २० तथा ८२) खुमी (दो० ६) या मुराला (दो० ६७३), और नाक को बेसरि (दो० २० तथा १७३), नथ (दो० ३०६) या सींक (दो० १४३ तथा ६८५) पर निर्भर थी। बेसरि में मोती लगा रहता था जो अधर पर टिक जाता था (दो० ७०६) कान में भी मणि धारण करने (दो ११३) की प्रथा थी। माथे पर आड़ी बेंदी लगती थी, नागरी की आड़ केसर (दो० ४२ तथा १०४) की होती थी और ग्रामीणा की आड़ ऐंपन (दो० ६३) या सुन किरवा कौड़े के (दो० ७०८) पर की। बेंदी का वर्णन बिहारी ने बड़े उत्साह (दो० ३२७) से किया है। इसके दो नाम हैं—टीका और बिन्दु। गोरे मुख पर (दो० २७१) अरुण, पीत, श्वेत तथा श्याम सभी रंगों की बेंदी (दो० ६२६) अच्छी लगती है, सिन्दूर का बिन्दु लाल (दो० ३५५), केसर का पीत (दो० ४२), चंदन का श्वेत (दो० १८०), और कस्तूरी का श्याम होता है, धनियो की बेंदी में हीरा भी जड़ा (दो० ७०७) रहता है, ग्रामीण सन की (दो० २४८) बेंदी लगाती है। बिहारी ने एक दोहे में चिबुक पर (दो० २७०) गुदे हुए लीला का वर्णन किया है। पान खाना उस युग का प्रिय विलास था, पान की पीक (दो० ६६, ११३, २६७, ४४० तथा ४६८) खंडिता का प्रथम लक्षण था, प्रिया (दो० ६२७) और प्रियतम (दो० ६३२) एक-दूसरे को अपने हाथ से पान का बीड़ा खिलाकर प्रेम की अभिव्यक्ति किया करते थे। स्त्री के सौन्दर्य को कुदृष्टि से बचाने के लिए काजल आदि का जो एक विशेष टीका लगाया जाता था उसे दिठौना

(दो० २८ तथा ४३) कहते थे।

गले में नायिका माला पहिनती थी जो फूल (दो० १२२) मुक्ताफल (दो० ३६२) या घुंघची (दो० ६०) की होती थी, पुष्पों में मौलसिरी (दो० २०४ तथा ५१३) और चम्पक (दो० ६६५) इस काम के लिए अधिक पसन्द किये जाते थे। गले का दूसरा प्रिय अलकार हार है, नागरी का हार मुक्ताफल (दो० ३७६) का और ग्रामीणा का पहुला (दो० २४८) का होता था, अज्ञात यौवना बालिका सीप (दो० २५२) का हार भी पहिनती थी। एक दोहे में नायिका के गुंजा (दो० २३७) धारण करने का वर्णन है। गले का गुलूबद (दो० ४४०) माणिक्य का भी बना होता था। बिहारी ने उरवसी (दो० २५ तथा ३३६) नामक आभूषण का वर्णन किया है, यह माणिक्य-जटित होता था और गुलूबन्द के समान चिपटा हुआ नहीं प्रत्युत हार के समान ढीला होता था। वस्तुत माला, हार, उरवशी और गुंजा-माल स्तनों के अलकार हैं, गुलूबन्द गले का। बिहारी की नायिका इनमें से केवल एक को एक समय धारण करती है।

आरसी (दो० ३३४ तथा ५१२) किशोरी का प्रिय अलकार है, इसके शीशे में अपना मुख देखकर मुग्धा और मध्या दोनो ही 'दर्पण' का व्युत्पत्त्यर्थ सत्य सिद्ध करती हैं—अपने रूप पर स्वय मुग्ध होकर मन में अभिमान से भर जाती है। विदग्धा नायिका आरसी में, गुरुजन को चकमा देकर, (दो० ३४) प्रिय को देख सकती है या प्रिय के जाने बिना भी (दो० ६११) उसका प्रतिबिम्ब निधडक निहारती है, एक भावमुग्धा तो (दो० ५८३) प्रिय के ध्यान में अपना रूप देखकर स्वय पर ही रीझती रही। अँगुली में पहिनने का दूसरा आभूषण छला (दो० १२३) है जो प्राय कनिष्ठिका में (दो० १३६ तथा ३३८) धारण किया जाता था, आजकल की अँगूठी के समान इसका उपयोग प्रेम सम्बन्ध की दृढता (दो० ३७६) के लिए भी होता था। कमर में किंकिणी (दो० १२६) तथा पैरों में पाइल (दो० २१२ तथा ४४१) पहिने जाते थे। पैर की अँगुलियों में अनवट (दो० २०६), बिछुआ (दो० ४१८) तथा मजीर (दो० १२६) धारण किये जाते थे। बिहारी की नायिका आभूषणों में अधिक रुचि[1] नहीं रखती परन्तु जो भी पहिनती है वे मृदु, मधुर तथा दिखाई पडनेवाले होते हैं; अलकार कुसुम, धातु तथा रत्नों से निर्मित हैं, उनमें विलास तथा सम्पन्नता दोनों की ही झलक मिलती है।

बिहारी ने दैनिक जीवन का वर्णन किया है। हिन्दू जनता उस समय 'निगम-मग' (दो० ८७) पर चलने में अधिक गौरव का अनुभव न करती थी, क्योंकि श्रुति-सेवन' (दो० २६) की अपेक्षा रसिकों की सगति को बडा लाभ समझा जाता था; वेदोक्त मार्ग पर चलकर जो मुक्ति काम्य है, वह 'चमक, तमक, हाँसी, ससक, मसक, झपट, लपटानि' (दो० ७६) में सहज ही मिल जाती है, और उसका साधन 'सज्जन' (दो० ७५) है, 'जप, माला, छापा, तिलक' (दो० १४१) आदि नहीं। स्त्रियों के

---

१ तन भूषन, अंजन दृगन, पगन महावर-रंग।
नहि सोभा कौं साजियतु, कहिबे ही कौं अग ॥२३६॥

मुख्य त्यौहार तीज (दो० ३१५), चतुर्थी (दो० २६८) और द्वितीया (दो० ३८५) थे, चतुर्थी के व्रत में चन्द्र को अर्घ्य देकर भोजन किया जाता था (दो० २६६)। नारियाँ रात्रिभर जागरण करके रतिजगा (दो० ५११) मनाती थी, और इसी व्याज से अपने प्रेमियों के घर भी रात बिता दिया करती थी। मृतकों के लिए दो सप्ताह तक श्राद्ध किया जाता था, जिसमें वायस को सादर (दो० ४३४ तथा ४३०) भोजन मिलता था। संक्रान्ति को सब लोग पुण्य-पर्व (दो० २७४) समझते थे। होम (दो० ५४) तथा मलय (दो० २३०) दोनों का ही अप्रस्तुत रूप से बिहारी ने वर्णन किया है। अद्वैत (दो० १३), सुरसरि (दो० १०६ तथा ५७६) आदि सम्बन्धित सम्प्रदायों तथा सीता (दो० ७४), दुर्योधन (दो० १५) आदि पात्रों की उस समय चर्चा चल जाती थी, कवि ने उन सबके लिए शृंगार-परक प्रस्तुतों की योजना की है। ज्योतिष में लोगों का विश्वास था (दो० ५ तथा ५७५), जादू-टोना (दो० ४७) मन्त्र-तन्त्र (दो० ७७) तथा नजर-गुजर (दो० ६३६) भी ग्रहित कर सकते थे। सतसई में भूत-प्रेत का कोई प्रसंग नहीं है, परन्तु चुड़ैल (दो० १२५) का वर्णन किया गया है।

बिहारी का युग विनोद और विलास का युग था, उसमें जीवन की सफलता 'तन्त्री-नाद, कवित्त-रस, सरस-राग, रति-रंग' (दो० ६४) के 'अनेक संवादों' (दो० ७१३) में मानी जाती थी, नेत्र किसोरी को देखकर ही (दो० ५३) कृतकार्य होते थे; किसी की भी अलकों में उलझकर मन पथ को भूलकर (दो० ६५) प्रणय को लक्ष्य बना लेता था और किसी के जूड़े में बँधकर (दो० ६८७) तड़पता रहता था। दिन-रात्रि का मुख्य व्यवसाय अभिसार (दो० ७ तथा २७१) था, काम्य कर्म रति (दो० २३, १८३ तथा ४६३) में तथा परोपकार दूती-कर्म (दो० ३१३ तथा ३१६) में निहित था। राजा उस समय भी थे परन्तु प्रजा-पालन के लिए नहीं, भोग के लिए (दो० १); इजाफा उस समय भी होता था परन्तु लगान का नहीं स्तन, मन, नैन और नितम्ब का (दो० २), विजय होती थी परन्तु नागरी के तन की (दो० २२०), देश की नहीं; रण प्रिय विषय था परन्तु विपरीत रति का (दो० १२६), युद्ध भूमि का नहीं, कामिनी के नेत्र ही तलवार (दो० २४७) थे जो सुभट के समान (दो० १७७) समाज-सेना (दो० १६८) को पराजित करके लक्ष्य तक वे रोकटोक चले जाते थे। गढ़-रचना (दो० ३१६) का रहस्य जानने वाले अपनी कमनैती (दो० ३५६) के कारण नाविक के तीर (दो० ५७०) चलाकर मतगों (दो० ६७) और मुँहजोर (दो० ६१०) एवं लूट करने वाले (दो० ५४२) रौहालों (दो० १४५) की सहायता से गढ़ को जीतने और उस पर अपना ध्वज (दो० १०३) फहराकर अधिकार जताते थे। कभी-कभी सुरंग लगाकर (दो० ३०६) जय सम्भव थी। तब विजयी चौगान (दो० १७८) या गेंद (दो० ४६१) का खेल खेलता था, और पराजित के हृदय में नटसाल (दो० ६, ३७५ तथा ६०६) चुभती रहती थी। विजयी का न्याय बड़ा अद्भुत था उसमें कज्जाकी (दो० ६७०) और खूनी (दो० ३२५) सुखहाल रहते थे, और बाँध लिए जाते थे नाहक (दो० ४०७) दूसरे ही। बिहारी ने यह समस्त वर्णन स्नेह-पुर (दो० ४०७) का किया है, जहाँ का शासक स्मर है, और जहाँ नेत्र ही आक्रमण करते हैं।

उस राज्य में कुच-गिरि (दो० २६) पर नेत्र-बटोही (दो० १७) चढ़ते थे और रूप-ठग उनको लूटकर (दो० १७४) मार डालता था। अहेरी (दो० ५०) और मीना (दो० ८७) जातियाँ इसी प्रकार पहाड़ों पर लूटमार किया करतीं थी।

नागर जनों का सामान्य जीवन वन-विहार (दो० १६२ तथा ४०३), जलकेलि (दो० १५२ तथा १५३) या कुञ्जभवन (दो० ८४ तथा १२७) में बीतता था—कभी स्नानपरा (दो० ६४५, ६६६, ६६३, ६६७ तथा ७००) किशोरी को देखकर मन की साध पूरी करते हुए, कभी पुरानी प्रेम-कथा के स्मरण में (दो० ६८१)। दर्पण-धाम (दो० १६७) धनियों ने विलास के लिए बनवा लिये थे। सामान्य जनता नट (दो० १६३ तथा १६४) की चतुराई पर मुग्ध होती थी। किशोरियाँ हिंडोले (दो० ९६ तथा ३१७) में झूलकर उल्लसित होतीं थीं, जो विनोद का सरल साधन (दो० ५५४ तथा ६८६) था। किशोर प्राय पतंग (दो० ५७, ३७३ तथा ४२८) उड़ाते थे या कबूतर (दो० ३७४) पालते थे; अवस्था में कुछ कम बालक-बालिका चोर-मिहीचनी (दो० ५३०) के व्याज से अज्ञात-यौवन का आलिंगन-जन्य सुख खोजा करते थे, अँधेरी गली (दो० २५३) में मिलकर किसी अपरिचित नागरी का आलिंगन-लाभ पूर्व सत्कर्मों का ही फल था। होली ही उस समाज का मुख्य उत्सव था, इस अवसर पर दोनों के नेत्र प्रेम-रंग (दो० ५१४) से एक-दूसरे को सराबोर कर देते थे, आँखों में जो गुलाल (दो० २८०) भर जाता था वह प्रेम की प्रथम स्वीकृति थी, होली खेलने पर नारी पुरुष से फगुवा (दो० ३५३) माँगती थी और जब तक प्राप्त न कर लेती थी तब तक उसको छोड़ती न थी, पुरुष गुलाल की मुट्ठी भर कर नारी को छकाया करते थे (दो० ५०३)।

बिहारी की सतसई में पक्षियों का वर्णन अधिक परन्तु पशुओं का कम है। पशुओं में गाय (दो० ११, १२८ तथा ५२१), घोड़ा (दो० १४५, ३१६, ५४२, ६१० तथा ६८४) और हाथी (दो० ६७, ३८८ तथा ४३६) अवन्य हैं, बाघ (दो० ४८६) और मृग (दो० ४५, ५०, ४८६, ६२८ तथा ६७१) वन्य। अश्व का इतना अधिक वर्णन सामयिक प्रभाव का द्योतक है, इसके तुरग (दो० ३१६ तथा ६८४) और रौहाल (दो० १४५) दोनों ही नाम हैं, दो गुणों पर विशेष ध्यान दिया गया है—खूँद करना (दो० ५४२) और मुँहजोर होना (दो० ६१०)। घोड़े की विशेषता और ऊँट का नितान्त अभाव इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि इस्लामी शासन में भारतीय कला पर जितना ईरानी-फ़ारसी प्रभाव पड़ा, उतना अरबी का नहीं। इन दोहों में बिल्ली (दो० ८५), चूहा (दो० १३१), सर्प (दो० १६६ तथा ४८६), मछली (दो० ५५, २७७, ५७६ तथा ६२८), बीछी (दो० ६१५) और बीरबहूटी (दो० २४३ तथा ४०४) आदि जीव अप्रस्तुत रूप से आ गये हैं। कीटों में मधुप (दो० १४, १२७, १४३, २५५, २७०, २८२, ३६६, ३८८, ४५६ तथा ४६६) भृंगी (दो० ५८६) और जुगनू (दो० ५६६) हैं। सतसई में चकवा-चकवी का वर्णन तो, भारती परम्परा पर है, परन्तु जुराफा नामक पशु भी उसी आदर्श प्रेम के लिए अप्रस्तुत बनकर आया है (दो० ४६७)।

पक्षियों में हंस (दो० १२४), मयूर (दो० ४६६ तथा ४८६), चकोर (दो०

२५८, ३४२ तथा ५४७), खंजन (दो० ४६, ४८७ तथा ६२८), पिक (दो० ४७५) चक्रवाक (दो० ४८४ तथा ४९२) और शुक (दो० ८५, ४३५ तथा ५३७) तो भारतीय परम्परा से आये हैं। परन्तु बाज (दो० १२४ तथा ३५५), कबूतर (दो० ३७४ तथा ६१९), चील (दो० ६५४), कुलिंग (दो० २५७), चटक (दो० ११५), गीध (दो० ३१), श्यामा (दो० ७१०) और काग (दो० ४३४, ४३५ तथा ४४७) पर सामयिक प्रभाव ही अधिक है। बाज के अनेक नाम हैं—श्येन, शाहीं, फतहबाज (दो० ७१०), सचान (दो० १२४) आदि। उस युग में बाज और कबूतर का जितना महत्त्व था उतना हंस और चकोर का नहीं। चातक, बक और सारस की नितान्त उपेक्षा तो बिहारी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व के विषय में कुछ कल्पनाओं को जन्म देती है।

यदि वनस्पति-जगत् की ओर ध्यान दें तो सबसे अधिक वर्णन कमल और गुलाब का है। कमल (दो० ३४, ४६, ५३, ५५, १६९, ३३१ तथा ४८७), भारतीय परम्परा में, मुख (दो० ५३ तथा ४८७) नेत्र (दो० ४६, ५५ तथा १६९) और चरण (दो० ३४) सबके लिए अप्रस्तुत है, बिहारी ने मन (दो० ३३१) के लिए भी इसका उपयोग किया है। गुलाब मुगलकालीन संस्कृति का प्रधान कुसुम था, इसकी विशेषताएँ रूप, रंग तथा सुगंध के अतिरिक्त कोमलता और शीतलता भी हैं, बिहारी गुलाब की पँखुड़ी (दो० २५५,२५६, तथा ६९४) से अनेकश आकृष्ट हुए हैं और उसके प्रसून (दो० २७०, ४३१, ४३७ तथा ४३८) से नायिका के शरीर (दो० ३५४) की उन्होंने तुलना की है, कोमलांगिनी नायिका के चरणों की सफाई भी गुलाब के ही झँवा (दो० ४८३) से होती है, प्रातःकाल फूलते हुए गुलाब की कली ने (दो० ८४) जो चट-चट शब्द किया वह भी कवि की कुंजवासिनी परकीया ने सुन लिया। शीतलता के लिए गुलाब-जल आजकल अमोघ माना जाता है, नायिका का विरह-जन्य ताप या तो पनकपड़ा (दो० ६६७) लपेटने से कम हो सकता है या गुलाब-जल की शीशी (दो० २१७) औंधाने से—जो नायिका इस उपचार से भी स्वस्थ न हो वही सच्ची विरहिणी है (दो० ४८ तथा ३०८), गुलाब-जल में कपूर (दो० ५२९), भी मिला दिया जाता था। चम्पक (दो० १४३, ४९९, ५४४ तथा ६९५), सोनजुही (दो० ८ १९०, ३२० तथा ६१३), मालती (दो० ८ तथा १२७), चमेली (दो० १३३), नवमल्लिका (दो० १७५) और मौलसिरी (दो० २०४ तथा ५१३) से सतसई सजी हुई है। कहीं सुरतरु (दो० १६) है, कहीं चन्दन (दो० १८०), कहीं केसर (दो० १०२, १५२ १९९, ३५९) है, कहीं कपूर (दो० ५९, ८९, ९०, २२८ तथा ५२९)। अर्क (दो० १४), इन्द्रायन (दो० ४४), तमाल (दो० १२७), सन (दो० १३५ तथा २४८), बन (दो० १३५, १३८ तथा ३३०), ईख (दो० १३५ तथा ५०४), अरहर (दो० १३५), केला (दो० २१०), मगूर (दो० १९७), कदम्ब (दो० ४७० तथा ६७२), पलाश (दो० ५९७), निबौरी (दो० १९७), दाड़िम (दो० ५४६), गुड़हर (दो० २८२ तथा ५६५), जवासा (दो० ३२९), सौंठ (दो० ३६०), मतीर (दो० ३६६ तथा ३६७), जौ (दो० ३२९), रसाल, (दो० ४९६), सेंहुड़ (दो० ७४५ बन्धुजीव (दो० ४९०), गुल्लाला (दो० ४९९), पान (दो० २६७ तथा

४४०) आदि का प्रासंगिक संकेत है। ये प्रासंगिक अप्रस्तुत तत्कालीन जीवन से लिये गये हैं और इनका उपयोग सादृश्य के लिए नहीं किया गया प्रस्तुत उक्तियों के संदर्भ में कर लिया गया है। मतीर की चर्चा मरुभूमि के सहारे आ गई है तो कदम्ब की ब्रजभूमि के कारण, अंगूर पर विदेशी प्रभाव है तो सन, बन और अरहर में ग्रामीणता, वनस्पति जगत् के ये प्रासंगिक अप्रस्तुत कवि के समन्तात् वातावरण का भीना-सा संकेत देते हैं।

इधर द्रव्यों में स्वर्ण (दो० १०२, १६१, १६२, ३३३, ३३५, ३५१ तथा ४७०), मोती (दो० १५६, १७३, ३०६, २६२, ३७६ तथा ३८०), वारुणी (दो० ३६८, ५३६, तथा ६५०) और गुलाल (दो० २८०, ५०३, तथा ६३३) अधिक हैं। स्वर्ण और मोती वैभव के लिए और वारुणी तथा गुलाल विलास के लिए सामान्यत प्रयुक्त समझने चाहिएँ। कुशा (दो० २४६), उशीर (दो० २४४), मरकत (दो० १८६), चूना (दो० १७३), गोरोचन (दो० १५३), मणि (दो० ११३, तथा ३६२), मधु (दो० ३८, तथा ५०४), सीप (दो० २२५) अभ्रक (दो० ४४१), सोरा (दो० ५६) पारद (दो० ४७६) आदि नगर के जीवन की दैनिक सामग्री है तो घुंघुची (दो० ६०, २३७ तथा ३१२), कौड़ी (दो० २३०), पहुला (दो० २४८), हींग (दो० २२८), नवनीत (दो० ४१६), गुड़ (दो० ७७), सूरन (दो० ३६६ तथा ३६७) आदि ग्रामीण जीवन की—हींग आदि का उपयोग काव्य-साहित्य में कम ही होता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से सतसई में जिन व्यवसायियों की चर्चा है उनमें से मुख्य हैं शासक (दो० २, ५ तथा २२०), वैद्य (दो० ११६, ४८६ तथा ५५७), ज्योतिषी (दो० ५७५), मिश्र (दो० २६४), गान्धी (दो०६२४), नट (दो० १६३ तथा १६४), धोबी (दो०४३६), बढ़ई (दो० ४४४) आदि। स्त्री का मुख्य व्यवसाय जगत् को 'रसयुत' करना है, यह ऊपर कहा जा चुका है, परन्तु बिहारी ने नायिका-पद केवल नागरी को दिया है ग्रामीणा को नहीं। ग्रामीणा या तो लम्पट युवकों की कामुक चर्चा का विषय बनी है या नागरी के सेवा-कार्यों में व्यस्त दिखाई गई है। प्रथम वर्ग में खेत रखनेवाली, कातनेवाली और बिलोनेवाली गृहणियाँ हैं। दूसरे वर्ग से नापित-स्त्री कवि को अधिक पसन्द है, वह भोली जब नायिका के पैरों में महावर लगाने बैठी तो स्वाभाविक लाली के कारण (दो० ४४) एड़ी को ही महावरी समझ बैठी और उसी को रंग के लिए मीड़ने लगी (दो० ३५)। स्त्री के लिए दो व्यवसाय और थे नर्तकी-कर्म और दूती-कर्म। नर्तकी को 'पातुर' (दो० २८४) कहा जाता था, वह अपनी अंग-भंगियों के द्वारा रसिकों का मनोरंजन किया करती थी। दूती तो शृंगार काव्य का प्राण है, प्रायः वह नापिता, रजकी आदि होती है, क्योंकि अपने व्यवसाय के लिए उसका प्रवेश कुल-कामिनियों के अन्तःपुर तक हो जाया करता है, ऐसी दूती वयस्का होनी चाहिए, अन्यथा मुग्धा कुलकामिनी पर उसका जाल सफल नहीं हो सकता। विद्यापति ने इसी दूती का प्रायः साहाय्य लिया है। परन्तु बिहारी की दूती नायिका की सखी है, वही भी उसको समाजिक स्तर पर नीचा नहीं

दिखाया गया। कारण यह जान पड़ता है कि विद्यापति के युग में इन्द्रियजन्य भोग का उद्दाम लास्य समाज में हेय समझा जाता था, केवल वेश्या और कुलटा ही इसको पसन्द करती थी नागरियाँ नहीं, अतः इसकी अप्रच्छन्न चर्चा सम्भव न थी, इसीलिए राजकी आदि बनकर ही प्रौढ़ा कुलटा इस छूत को समाज के अभिजात वर्ग में प्रविष्ट करा सकती थी। बिहारी के युग में समाज के अधिकारी वासना-पंकिल हो चुके थे, न युवकों की लम्पटता में संकोच था, न युवतियों की कामुकता में लज्जा, शील नामक गुण केवल उस वर्ग में संचित था जिसने अपने को बाह्य जीवन से खींचकर घर में घुट-घुट कर जीना स्वीकार कर लिया था। विदेशियों का यह विष-वेध इतना सफल हुआ कि स्फूर्ति और उत्साह वासना से रंग गये, पवित्रता और सद्-गुण एक कोने में सड़कर क्षीण होने लगे। उच्छृंखल वासना का ऐसा प्रवाह आ गया था कि समाज का प्रत्येक अधिकारी इसमें मग्न होकर अपने को सुखी सम-झने लगा। बिहारी-सतसई में वेश्या का वर्णन नहीं है, इसका कारण यह नहीं कि उस युग में वेश्यागमन कुकर्म समझा जाता था, प्रत्युत यह कि नागर जनों को रूप-यौवन के क्रय की आवश्यकता उतनी न थी—जब सद्भाव ही इस भोग को सुलभ कर सकते थे तो धन का व्यय करने पर नायिका को नागरीपद से च्युत करके पण्यस्त्री बनाते हुए यौवन-रस का प्रबल आस्वाद क्यों किया जाता ?

बिहारी की नायिका इन्द्रिय-सुख के संचय में व्यस्त रहती है। उसके अनेक रूप हैं और नायिका-भेद के अनुसार उसको भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु उस नागरी की मुख्य विशेषता असंयम है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कुलटा और कुलकामिनी में अन्तर लज्जा का ही है, जिस क्षण कुलकामिनी ने लज्जा का आवरण समेट लिया उसी दिन वह यौवन के रंग-मंच पर कुलटा बनकर प्रकट हो सकेगी यव—सर और सुविधाएँ तो उस युग में सर्वसुलभ थी ही। विलास-वश में स्वकीया वर्णन तो नायिका की नहीं, प्रत्युत कवि की निर्लज्जता का द्योतक है, परन्तु गली-गली के कामोद्दीप्त अभिनयों में नायिका की मनोदशा हो प्रकट हुई है, सखियाँ परस्पर में जो परिहास करती हैं उससे उनके कुल-शील का पतन द्योतित हो जाता है। ऐसी नायिकाओं को सिद्ध कुलटा मत कहिए, परन्तु कुल-कानि का उल्ल-घन करके बाहर निकलने को उद्यत तो मानना ही पड़ेगा। बिहारी की मुग्धाएँ प्राय. इसी प्रकार की हैं, या तो वे अविवाहिता हैं भावी पति की प्रतीक्षा में कल्पना-प्रसूत अभिनय करनेवाली, या वे अनास्वादितरसा हैं प्रणय-रस को अधरों में लगानी हुई सकोचशीला। सखी का वाग्जाल उनको उकसाने के लिए—उद्दीप्त करने के लिए ही है। एक सखी ने उसके कटीले नेत्रों की सराहना की (दो० ४५), दूसरी ने और भी स्पष्ट कह दिया कि आज किसके भाग्य जग गये हैं आज किस पर कामदेव की कृपा होना चाहती है (दो० ५८), तो तीसरी ने नायिका के कजरारे नेत्रों को 'कजाकी' करते पाया (दो० ६७०)—नेत्रों में कामुकता का उल्लास जब सखी पर प्रकट हो गया तो उम्मीदवारों पर क्यों छिपा रहा होगा ? सखियों के ये लक्ष्य-विपक्ष प्रश्न साधारण रसी मात्र भी माने जा सकते हैं परन्तु इनमें

लोक-लज्जा का त्याग भी प्रतिबिम्बित है जो कुलटा का प्रथम चिह्न है। दो दोहे इस मत के समर्थन में प्रस्तुत देखिए—

रहो अचल सी ह्वै, मनौ लिखी चित्र की आहि।
तजें लाज, डरु लोक कौ, कहौ, बिलोकति काहि ॥५३३॥
पलन चलें, जकि सी रही, थकि सी रही उसास।
अबही तनु रितयौ, कहौ, मन पठयौ किहि पास ॥५३४॥

मज्जागत लज्जा और लोक का भय नारी के सामान्य गुण हैं इसलिए पति को देखने वाली दृष्टि भी इन्हीं झरोखों में से झाँकती है, परन्तु लोकलज्जा का भय अवैध सम्बन्ध में ही अधिक सम्भव है, इसलिए इस नायिका को कुलकामिनी मानना उतना सगत नहीं। वस्तुत सखी का नायिका से प्रिय-विषयक, प्रश्न—'काहि', 'किहि पास', 'कौन पर', 'कौनु', 'कित' आदि—या तो विशेष-ध्वनिगर्भित है या उसके भावी कुलटात्व का अनिष्ट-केतु है।

बिहारी के युग में नायिकाएँ तो गुण-कर्म-स्वभाव से भाँति-भाँति की थीं परन्तु उन सबका सेव्य (भोक्ता) नायक नन्दकिशोर (दो० ५८१) एकरस ही है। वह *कामुक भी उतना नहीं जितना कि लम्पट। अपना बोल सुनाकर दूसरों का* राग बिगाड़ना (दो० ५५२) मानो उसका व्यसन है, किसी के 'बियुरे-सुधरे' केशों में फँसकर उसका मन (दो० ६५) प्राय पथ को भूलकर अपथ पर चला जाता है। कभी रास्ता चलती हुई सलोनी नायिका उसको नागिनी के समान (दो० १६६) डस गई, कभी उसकी पायल की ध्वनि पर मुग्ध (दो० २१२) होकर वह ललचाने लगा, कभी नायिका की भोली चितवनि (दो० ३०५) ही उसके चित्त में खटकने लगी, और कभी उसकी श्याम चुनरी (दो० ३२६) पहिने देखकर नायक के मन पर स्नेह ने अपना अधिकार कर लिया। यदि अवगुण्ठनवती नायिका जिज्ञासावश वस्त्र को हटाकर देखने लगे तो नायक समझेगा कि वह उससे प्रेम करती है (दो० ३५०), और फिर सखी मुख से *प्रार्थना करेगा कि मुख पर से वस्त्र हटाया जाय जिससे नेत्र* सफल हो सकें (दो० ५३), यदि नायिका का मुख अनावृत्त है, तो उसकी द्युति नायक के हृदय को छेद देगी (दो० ४४३)। यदि नायिका हड़बड़ी में बाहर देखती हुई अपने घर घुमी तो नायक ने समझा कि वह अनेक शृंगारिक चेष्टाएँ करके (दो० २४२) अपने प्रेम का प्रमाण दे गई, उसका दृढ विश्वास है कि नारी से समाज को अन्य कोई लाभ हो या न हो उसका एकान्त उपयोग शिशिर के शीत से मोक्ष (दो० ३४३) अवश्य है। एक दिन किसी कार्यवश नायक नायिका के घर गया और भला आदमी समझकर नायिका शिष्टाचार-स्वरूप उसको पान देने लगी तो नायक उस पर रीझ गया (दो० २६५), उस दिन से उसने नायिका के पडौस में मकान ले लिया और उसकी एक झलक पाने के लिए (दो० २६३) झरोखे के पास आसन जमाकर बैठ गया। यह साधना सफल उस दिन हुई जब अवसर देखकर एक दिन नायक सूने घर में जान-पहिचान के कारण घुस गया और लज्जाशीला अबला का उसने बलपूर्वक हाथ पकड़ लिया (दो० ५८२)। इसी प्रकार के राहुओं से भयभीत होकर इन्दुकलाएँ अपने मंगल-ग्रह

के भीतर जा छिपी थीं (दो० ६६०)। बिहारी का काव्य तत्कालीन जीवन की वास्तविक स्थिति का यथार्थ संकेत देता है। विदेशी शासन के उस विलासी वसंत में मर्यादा का परित्याग किये बिना कोई भी व्यक्ति राजप्रसाद रूपी दल, फल-फूल का अधिकारी न बन सकता था (दो० ४७४)। पतन की यह कहानी सुन्दर रंगों से चित्रित होकर भी विचारशील नेत्रों के सम्मुख घृणास्पद चित्र ही उपस्थित कर सकती है।

सतसई में सामयिक प्रभाव के कारण कुछ नवीन अप्रस्तुतों का प्रयोग हुआ है। मुख्य है, 'कबिलनवी', (दो० ३०), चश्मा (दो० १४० तथा १५१), हम्माम (दो० २८१), कालबूत (दो० ३९९), पायन्दाज (दो० ४१३), फानूस (दो० ६०३) तथा नटसाल (दो० ६०६)। 'कबिलनवी' शब्द का अर्थ 'मन्त्र की कटोरी' हो या 'दिक् प्रदर्शक यन्त्र', इसमें सन्देह नहीं कि यह कवि के सूक्ष्म निरीक्षण का द्योतक है, नायिका की दृष्टि सब पुरुषों के सामने जाती है परन्तु ठहरती है केवल एक ही नायक की ओर पहुँचकर, यन्त्र के समान उसकी यह गति गुप्त शक्ति से परिचालित परन्तु निश्चित है। नेत्र पर चश्मा देने (बिहारी ने चश्मा 'दिया' है, 'लगाया' नहीं) से लघु भी बड़ा दिखाई पड़ता है, याचक-लोग छोटे-छोटे लोगों के सामने हाथ फैलाने लगते हैं उनको बड़ा समझकर मानो उनकी आँखों पर चश्मा लगा हो लोभ का (दो० १५१), इस दोहे में नीति की गम्भीरता है। एक दिन विरहिणी को लेने के लिए मृत्यु आगई और क्षीण नायिका की खोज करने लगी, उसने जेब से चश्मा निकाला और आँखों पर लगा लिया, फिर भी विरहकृशा नायिका उसके दृष्टिपथ में न आई (दो० १४०), विरह की अत्युक्ति इस दोहे को गंभीर नहीं रहने देती परन्तु सूझ निश्चय ही प्रशंसनीय है। अतिथि के स्वागत के लिए हम लोग अर्घ्य मधुपर्क आदि जुटाकर उसकी शारीरिक और मानसिक विश्रान्ति का प्रबन्ध करते हैं, अरबी लोग सुलतान को सबसे बड़ा आतिथ्य मानते हैं हम्माम या कृत्रिम स्नानागार में, भक्त का हृदय भौतिक, दैविक और आत्मिक तापों से तपकर हम्माम ही बन गया जहाँ करुणेश को क्षण भर सुखावास मिल सकता है—भगवान् सतप्त हृदय में जितनी तुष्टि प्राप्त करते हैं उसकी अल्पांश भी सुखोपचित मानस में नहीं (दो० २८१)। फारसी शब्द 'कालबूद' का अर्थ है 'ढाँचा', या 'फरमा', जूते और टोपी बनाने वाले एक सामान्य कालबुद पर चढ़ाकर जूते या टोपी की रचना करते हैं वही उस माप के लिए आदर्श है, यदि जूता कहीं से दबाता हो तो उसी कालबुद पर चढ़ाने से ठीक हो जाता है। मकान की मेहराब, छत या दरवाजा बनाने के लिए भी लकड़ी के एक ढाँचे की आवश्यकता होती है, जब तक ईंट का यह काम गीला है तब तक कालबुद उसमें लगा रहता है, जब वह पक्का (मजबूत) हो जाता है तब कालबुद को हटा दिया जाता है—उसको हटाये बिना इमारत में सौन्दर्य नहीं आता। प्रेम-भवन का निर्माण भी इन्हीं सिद्धान्तों पर होता है, नायिका की सखी-दूती नायक के अनुनय से तुष्ट होकर सूची के समान उन दोनों के हृदयों को प्रेम के धागे से जोड़ती है और जब जुड़कर पक्के हो गये तो वह बिलकुल अलग हो जाती है। बिहारी ने दूती के लिए कालबुद अप्रस्तुत का प्रयोग किया है (दो० ३९९), जिसमें ध्यान दो बातों पर है—कच्ची हालत में सहारा देना और

पक्का होते ही बहिष्कृत हो जाना। *यहाँ प्रेम की गति सरल नहीं है, समाज का भय* और परस्परकी आशकाएँ उसकी दृढता को सुखसाध्य नही रहने देतीं, इसीलिए काल-बुद की अत्यधिक आवश्यकता है। और जब प्रेम दृढ हो गया तो दूती व्यर्थ ही नही, बाधक भी है, प्राय दूतियाँ दूसरे की वकालत करते-करते अपनी अर्जी भी पेश कर दिया करती थी, इसलिए दूती को हटा देना चाहिए—जैसे ही नायिका का काम चलने लगे वह सबसे पहिले उस सखी को अलग करदे जिसने उसको खास सहारा दिया था। 'पायदाज' फारसी में उस जूट आदि के टुकड़े को कहते हैं जो पैर पोंछने *के लिए कालीन के पास बिछा रहता है, नायिका के आभूषण अलग-अलग अगो के पास* बिछे हुए पायदाज ही हैं (दो० ४१३), दृष्टि अपने पैर साफ करके ही उन अगो पर पहुँच सकती है—मुगलकालीन सस्कृति की एक झलक के अतिरिक्त इस दोहे में पायदाज को अप्रस्तुत बनाकर भूषणो की अतिसामान्यता तथा अगो की भव्यता का भी सफल सकेत है। फानूस शब्द भी फारसी का है, दीपक या मोमबत्ती को काँच के घेरे में रखने से उसकी ज्योति और भी आकर्षक हो जाती है, नायिका जब सुन्दरियो के घेरे में (दो० ६०३) बैठती है तो उसकी आभा अधिक द्योतित होती है और वह *ज्योति-केन्द्र भी दिखाई पड़ती है—अन्य सुन्दरियाँ काँच के समान सामान्य हैं* परन्तु नायिका दीपक-ज्योति के समान द्युतिमती। 'नटसाल' का प्रयोग बिहारी ने उस टीस की व्यजना के लिए किया है (दोहा ६०६) जिसको प्रेम का प्राण कहना चाहिए। कटव (दो० ३११ तथा ४०६) की नोक उतनी तेज नही होती जितनी नटसाल की, क्योंकि नटसाल में लोहे का फल होता है, काँटा तो पैर में गड़ता है परन्तु शल्य प्राय हृदय में, शल्य और सूची की भी कोई तुलना नही। बिहारी में नलनीर (दो० ३२१ तथा ३४१) अप्रस्तुत बन कर आया है। ताफता (दो० ७०), छाहगीर(दो० २३१), रकम (दो० २२०), सरताज (दो० ४), कबूल (दो० ५१), बदराह (दो० ६३), तथा घरी (दो० ३०७) शब्दो के प्रयोग से भी उस युग की सस्कृति का कुछ सकेत मिलता है। तम्बाकू पीने का वर्णन (दो० ६१४) शायद बिहारी के अतिरिक्त किसी दूसरे बड़े कवि ने नही किया, बिहारी के युग में यह भी विलास का एक रूप समझा जाता था और उस क्रिया में ओष्ठ, दृग तथा भ्रू का कुचन, निरीक्षण तथा वर्णन का विषय बनने लगे थे।

बिहारी सतसई एक मुक्तक काव्य है, उसका प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र एव स्वत-पूर्ण है, प्रत्येक दोहे की पृष्ठभूमि में तत्कालीन समाज की एक झाँकी छिपी हुई है। यदि अप्रस्तुत सामग्री का ही विश्लेषण किया जाय तो उसके अनेक वर्ग देखने में आते हैं। कवि का व्यक्तित्व जिन भीने सूत्रो से बुना हुआ है उनके कुछ चिन्ह इन दोहो में अप्रस्तुत सामग्री के रूप में उपलब्ध हो जाते हैं। देशी और विदेशी, शास्त्रीय और *मौलिक, चिरन्तन और तात्कालिक द्रव्य, गुण और कर्म बिहारी के काव्य में अप्रस्तुत* बनकर आये हैं। कृष्ण ने दावानल पिया था, यह पुराण-गाथा है भारतीय जीवन की, कवि ने इसी घटना को अप्रस्तुत बना दिया (दो० ३१२)। दूसरी ओर यह तो प्रसिद्ध है कि काम शिव का शत्रु है [illegible] शशिशेखर हैं, परन्तु इन कथाओं से काम को

शत-चन्द्र-शेखर बना देने में कवि की मौलिक एवं हृद्य सभावना है (दो० ४११), इस सौन्दर्य की विशेषता यह है कि प्रथम तो नन्दनन्दन को कामदेव मानने में ही सभावना थी, फिर कामदेव को भी शत-चन्द्र-शेखर कल्पित करना इस उपेक्षा में दो गुना सौन्दर्य समाविष्ट कर देता है। विद्यापति की कल्पना प्रसगों के निर्माण में सिद्ध है, तो बिहारी की सकेतों के प्रदान में। सभी लोगों ने नायक के कुण्डल मकराकृति वाले बताये हैं, और पुराणों के अनुसार रतिपति मीनकेतन है, परन्तु बिहारी की सखी ने गोपाल के मकराकृत कुण्डलों को जय का ध्वज कल्पित किया तो (दो० १०३) वह नायिका को यह भी बता देना चाहती है कि 'यदि नायक ने तुमको नहीं देखा तो भी कोई बात नहीं, तेरे गुणों को तो उसने हजार कानों से सुना है, और वह तुम पर रीझ गया है तू विश्वास कर कि वह तुम्हे प्यार करता है—उसके हृदय में प्रेम का देवता तेरे गुणों के ही कारण बस चुका है, अब तेरी बारी है, देखूं तू बदले में क्या करती है।' ज्योतिष और गणित, वैद्यक और रसायन से सम्बन्ध रखने वाले अप्रस्तुत कवि के समन्तात् वातावरण से उद्भूत हैं, व्यक्तिगत प्रयास से नहीं (दो० ६९०, ३२७, ४२ १२०, तथा ४५७ आदि)। बिहारी को खिलवाड़ का शौक जरूर था, परन्तु उनकी कला किसी सूक्ष्म व्यजना के बिना तृप्त नहीं होती।

ऊपर कहा जा चुका है कि बिहारी पर विदेशी साहित्य और सस्कृति का अज्ञात प्रभाव था, कुछ बातें तत्कालीन वातावरण से आ गई थी और कुछ सहयोगी कलाकारों की सगति से। जिस सामग्री का प्रवेश विदेशी प्रभाव के कारण है उसका यथास्थान सकेत कर दिया गया है। यहाँ कवि की शैली पर विदेशी छाप देखना अभीष्ट है। प्रेम नाम से जिस वस्तु का कवि ने वर्णन किया है वह भारतीय नहीं है। प्रेम रूप से उत्पन्न होता है, हृदयों की सघनता का नाम नहीं है, अतः प्रेम का अर्थ हुआ वासनात्मक मोह। प्रेमी को बेसुध बनाकर निर्दय प्रेम-पात्र उसको तरसाता है। उसका रूप ठग (दो० १७) है, नेत्र लुटेरे (दो० १७४) है, और प्रेम का आड़तिया कामदेव साक्षात् वधिक (दो० १०४) है। प्रेम-पात्र ऐसा खूनी है जो दूसरे को मारकर खुशहाल (दो० ३२५) रहता है, यह निर्दयता (दो० ३७०) की चरम सीमा है। मन में उत्पन्न होनेवाली आत्माभिव्यक्ति की सामान्य इच्छा ही काम है, वस्तु-विषयोन्मुख काम का नाम रति है, ससार के समस्त विषयों में से नारी और पुरुष सर्वोत्तम है, इसलिए इनका पारस्परिक काम ही प्रायः रति नाम से वर्णित किया गया है। यह आवश्यक नहीं कि रति उभयपक्ष में समान हो, परन्तु जब तक दूसरे का व्यक्तित्व हृदय के सामने न होगा तब तक रति की सभावना नहीं। कवियों ने इसी व्यक्तित्व के साक्षात्कार को मिलन, मैत्री या घनिष्ठता मान लिया और दुहाई देकर प्रेमपात्र को कोसने लगे। बिहारी ने रति को 'चाह' कहा है (दो० १२५) और उसे घुड़ैल के समान प्राणहिरणी अपदेवता माना है, साथ ही प्रेमपात्र को सदा मिलकर दगा करने वाला (दो० ३७०) सिद्ध किया है। इन कथनों में व्यक्तिगत खीझ नहीं, प्रत्युत विदेशी प्रभाव है, फारसी काव्यों में स्नेहपूर की अनीति का वर्णन बड़ी चतुराई से किया जाता था। प्रेम-पात्र पर खीझता हुआ प्रेमी अपने पर और समस्त

ससार पर भी खीझ उठता है, उसमें रोष नही, झुंझलाहट है। बिहारी की नायिका ने प्रेमपात्र पर खीझ करके उसे 'बैरी' (दो० ५५२) कहा है, जिसका अभिधेय अर्थ तो 'शत्रु' है, परन्तु लोक में स्त्री अपने निकट सम्बन्धी पति-पुत्र आदि पर जब खीझती है तो उसे 'बैरी' विशेषण से ही सम्मानित करती है—तात्पर्य होता है उस व्यक्ति से जो ऐसा दीर्घ दुख दे गया जिसे हम भूलना नही चाहते। अपने पर खीझकर नायिका ने अपने नेत्रों को 'निगोड़े' (दो० ५६८) कहा, जिसका वाचक अर्थ कुछ भी हो व्रज और पजाब प्रदेश में इसका प्रयोग 'अभागे'—उपेक्षणीय तथा दयनीय—के अर्थ में होता है। समस्त ससार पर खीझ 'बदराह' (दो० ६३) आदि विशेषणो के प्रयोग में स्पष्ट झलकती है।

विदेशी प्रभाव बिहारी की अभिव्यक्ति पर भी पडा है। उर्दू के समान इनकी व्रजभाषा में भी मुहावरो की सुन्दर छटा पाई जाती है। एक ही शब्द को लेकर उसके अलग-अलग रोचक प्रयोग काव्य को लाक्षणिकता में मधुर बना देते है। क्रिया है 'लगना', इसका शरीर के ४ अगो के साथ, ४ भिन्न-भिन्न प्रकार से, प्रयोग देखने योग्य है—

मोहूँ सौं बातनु लगैं, लगी जीभ जिहि नाइ।
सोई लै उर लाइयै, लाल, लागियतु पाइ ॥५६६॥

(मैं आपके पैरों लगती हूँ, मुझसे भी बातों में लगने पर आपकी जीभ जिसके नाम से लगी हुई है, उसी को लेकर छाती से लगाइए।)

इसी प्रकार जूडा बाँधने वाली मन को बाँध लेती है (दो० ६८७), नेत्रो के मिलने पर मन मिलते हैं और गायें मिलाली जाती है (दो० १२८), या तो नजर किसी से लगती है या किसी को लगती है (दो० ६३६), दृष्टि लगने से दृष्टि किरकिरी हो जाती है (दो० ६४), किसी से पल भर आँख लग जाय फिर पल भर भी आँख नही लगती (दो० ३६८), इस इच्छा से आँख नही लगती कि आँख से आँख लगी रहे (दो० ६२)। इन तथा इस प्रकार के अन्य प्रयोगो में चमत्कार लक्षणा शब्द शक्ति का ही है, कुछ स्थलो पर शब्द का एक प्रयोग अभिधा का है तो दूसरा लक्षणा का, परन्तु कुछ स्थलो पर सारे प्रयोग लक्षणा पर ही आश्रित हैं। बिहारी के इन प्रयोगो में उर्दू के मुहावरो से अधिक चमत्कार है—ये खिलवाड मात्र न होकर भाव-व्यञ्जना में भी सफल है। इसे सब जानते हैं कि प्रेम की बातें मुख से नही कही जाती, प्राय नेत्रों से व्यञ्जित की जाती हैं। परन्तु क्यो ? व्यञ्जना में जो सौन्दर्य है वह वार्ता में नही—इसीलिए कुछ आचार्य (भामह आदि) वक्रोक्ति को ही काव्य मानते हैं स्वभावोक्ति को नही। बिहारी ने इस नेत्र-व्यापार की ग्राह्यता का एक मनोरम कारण दिया है। आपके पेट में बहुत सुन्दर-सुन्दर व्यञ्जन है, परन्तु उनको मुख के मार्ग से निकालिए, क्या वे सग्रह के योग्य बने रहे ? कदापि नही, वे तो घृण्य और त्याज्य हैं—भक्त लोगो ने इसीलिए माया की तुलना इस वमन से की है जिसको सन्तो ने उगल दिया है परन्तु अज्ञानी लोग जिसे कुत्ते के समान चाटते रहते है। मुख से बाहर उगले हुए वचन भी इसी हेत [illegible] घृण्य, अत स[illegible] के अयोग्य हैं और इसी

हेतु प्रेम के वचन नेत्रों से कहे जाते हैं—ये चाक्षुष वचन कर्ण और भारतेन्दु के समान पवित्र एवं निष्कलंक हैं —

भूठे जानि न संग्रहे, मन मुँह-निक्से बैन।
याही तें मानों किये, बातन को विधि नैन ॥२४१॥

संग्रह शब्द का श्लिष्ट प्रयोग चमत्कार को और भी मनोज्ञता प्रदान कर देता है।

सतसई में कुछ अप्रस्तुत मौलिक तथा दैनिक व्यवहार के हैं। इनसे कवि की निरीक्षण-शक्ति का कुछ अनुमान लग सकता है। अल्हड़ देवर रूपसी भौजाई पर मुग्ध था और अनेक कुचेष्टाएँ करके उसे अपने पाप में भागी बनाना चाहता था, नायिका को अपने मन पर पूरा विश्वास है कि वह डिग नहीं सकता परन्तु, प्रश्न है देवर की कुप्रवृत्तियों को रोकने का। यदि वह पति को इस दिशा का कोई संकेत भी दे तो भाइयों के सिर फूट जायँगे और समाज के लोग अनेक कल्पनाओं का आधार लेकर देवर-भाभी के इस प्रसंग की निन्द्य चर्चा करने लगेंगे। बेचारी सुलक्षणी देवर की कुप्रवृत्ति और गृह-कलह के बीच पिसकर दिन-दिन सूखती ही चली जाती है। कवि ने उसकी तुलना उस शुक से की है जो पञ्जर में सुरक्षित हो परन्तु बाहर एकटक दृष्टि गाड़े हुए बैठनेवाली बिल्ली से सदा आशंकित रहे (दो० ८५) 'कुल-कानि' की पञ्जर से तुलना यह संकेत भी देती है कि यह नियन्त्रण सभी प्रकार से अस्वाभाविक तथा असह्य होते हुए भी चारित्र्य का एकमात्र रक्षक है। प्रियमिलन के लिए व्याकुल विरहिणी का तन और मन ताप से जल उठा, अब दूसरे उपचार तो व्यर्थ हैं केवल प्रिय ही तपन को दूर कर सकता है नायिका के शरीर से पनक्पड़े के समान लिपटकर (दो० ६६७), यद्यपि वस्त्र और प्रिय का लिपटना एक-सा ही नहीं है फिर भी उपचार की दृष्टि से वे समान हैं। जामाता दूसरे घर से आने वाला कुटुम्बी है इसलिए उसे सदा आतिथ्य और सत्कार मिलता है, परन्तु जामाता घर का ही एक सदस्य बन जावे तो आतिथ्य का प्रश्न कहाँ रहा, इसीलिए 'घर-जमाई' सदा अपमान का अनुभव करता रहता है। बिहारी ने 'मान' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करके (दो०१७१) इस स्थिति को सुन्दर अप्रस्तुत का रूप दिया है। रमणी का मन नवनीत के समान मृदु होता है परन्तु जिस प्रकार ऋतु के गुण से माघ मास का शीत बढ़ने पर नवनीत कठिन हो जाता है उसी प्रकार पति के अवगुण से मान बढ़ने पर रमणी का मन भी कठोर हो जाता है, बिहारी की साम्य-वैषम्य-गर्भ की तुलना कितनी रोचक है—

पति-रितु अवगुन-गुन बढ़त, मान-माह-को-सीत।
जात कठिन ह्वै, अति मृदौ, रमनी मन-नवनीत ॥ ४१६॥

बिहारी के युग में छेड़छाड़ सजीवता का एक लक्षण मानी जाती थी, प्रायः सखी नायिका के मनोगत भावों को पढ़कर उससे विनोद के लिए परिहास किया करती थी। उस वातावरण ने सुन्दर उक्तियों को जन्म दिया और समाज का जीवन हास-विलास से भर दिया। नायिका के नेत्रों में प्रेम की उमंग देखकर सखी ने पूछा था कि आज किसके भाग्य जगना चाहते हैं (दो० २८)। देवर

(ग) वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥ (दो० ५५८)
(घ) छुटे पौन, औरैं उठी, लाली अधर अनूप॥ (दो० ६६)
(ङ) नाउँ सुनत ही ह्वै गयो, तन औरैं, मन और॥ (दो० ५६६)

सतसई के सात सौ दोहों में कवि ने तत्कालीन समाज की झलक तो उपस्थित की है, ऐसे संकेत भी दिये हैं जिनसे उसके व्यक्तित्व का कुछ अनुमान लग सकता है। केशव के समान जाति एवं कुल का अभिमान तो बिहारी में नहीं पाया जाता और न प्रतिष्ठा एवं पाण्डित्य का ही गर्व है, वे एक बार (दो० ८५) 'कुलनिध' की प्रशंसा करते हैं तो दो बार उसका मजाक भी बना लेते हैं (दो० ६५२ तथा ७०६)। उनका शैशव व्यवस्थित रूप से एक स्थान पर नहीं बीता, यह प्रसिद्ध[1] है, और कैशोर में वे श्वसुरालय[2] आ गये परन्तु उनको अनुदिन सम्मान का अभाव खटकने लगा, जिसका संकेत एक दोहे (दो० १७१) में है। जयपुर आने से पूर्व उनको कतिपय स्थानों पर आश्रय खोजना पड़ा होगा परन्तु इनके गुण-ग्राहक उदार नहीं थे, बहुत प्रशस्तियाँ लिखने पर भी (दो० ७१) इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया, और जब ध्यान दिया तो वे कवि पर रीझ (दो० ६८) न सके, कवि को अपनी मन्दमति पर खेद हुआ— ये तो सब धोबी-कुम्हार हैं, ये हाथ का व्यापार क्या करेंगे (दो० ४३६), अरे मूर्ख गन्धी तू इन गँवारों को इत्र दिखाकर इनसे खरीदने की दुराशा रखता है? इस गामड़े में गुलाब का ग्राहक कोई नहीं है (दो० ६२४), रे गुलाब, तेरा फूलना भी अनफूलने के समान (दो० ४३८) ही रहा। ये लोग गरीब थे, ऐसी बात नहीं, वे कृपण थे जो खाते-खरचते नहीं जोड़कर रखते हैं (दो० ४८१), और जितना संचय करते हैं उतना ही उनका लोभ बढ़ता जाता (दो० १११) है, वे गुणवान् की उपेक्षा इसलिए करते थे (दो० ५४५) कि रीझकर कहीं धन न देना पड़े। अन्योक्तिमूलक अनेक दोहे इसी काल की प्रसूति हैं, उनमें बिहारी की कला विलासिनी नहीं प्रत्युत क्षुब्धा है, उसको अपने राग रंग का होश नहीं है अपनी अनिश्चित परिस्थिति में उलझी हुई बेचारी! यह अव्यवस्था कितने दिन रही, इसका अनुमान कठिन है, परन्तु पूरा तारुण्य मथुरा में बसकर बिताने से ऐसा लगता है कि जयपुर आने पर बिहारीलाल प्रौढ़ थे—वय की दृष्टि से भी और अनुभव की दृष्टि से भी। जो कविता-नागरी ग्रामीणों के उप-हास का भाजन (दो० २७६ तथा ५०६) बन रही थी, उसे अपनी चितवनि से सुजानों को वश में करने का अवसर मिला और कृपण गुण ग्राहकों के बदले प्रत्येक दोहे पर अशरफी देने वाला आश्रयदाता मिल गया, यही अन्तर है अर्क-तरु तथा अर्क (दो० ३५१) में, यह धतूरा नहीं, वास्तविक कनक था जिसमें विरह के साथ-साथ गहना गढ़ाने (दो० १९१) की शक्ति भी थी। फिर तो बिहारी का जीवन ही बदल गया, सारा दिन हास-विलास में बिताकर अनुभव संचय करते और 'रसिक', 'नागर', 'गुनी', 'रंगीले' आदि की संगति को काव्यबद्ध कर देते। बाणकवि के समान किशोरावस्था तथा तारुण्य अव्यवस्था में बिताने से बिहारी अनुभव-धनी हो गये और भटकने के बाद गुणी

(१) जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।
(२) तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल॥

आश्रयदाता मिल जाने से, देवकवि के विपरीत, उनका मन निराशा के वमन से बचा रहा।

ग्वालियर, बुन्देलखण्ड और मथुरा के अनिश्चित जीवन ने बिहारी की कला को दो विशेष गुण प्रदान कर दिये—निरीक्षण-सम्पत्ति तथा मर्मस्पर्शिता। यदि कवि में धैर्य का अभाव होता तो वह उखड़ जाता और उसका काव्य निन्दा एवं स्तुति का सामान्य क्रीड़ा-क्षेत्र मात्र बना रहता, परन्तु वह प्रतिभा एवं आत्मविश्वास (दो० ५६) की गोद में पला था, कोई अज्ञात आशा उसके दृष्टिकोण को सन्तुलन से दुलराती रही, और कालान्तर में उसका काव्य 'अल्पत्वपूर्वम्' सिद्ध हुआ। जयपुर आते ही उसने एक अन्योक्ति लिखी जो उसकी प्रथम रचना नहीं मानी जा सकती, सम्भव है इसकी अग्रजाएँ आज अपने भौतिक अस्तित्व में पाठकों के दृष्टिपथ से ओझल हो चुकी हों, परन्तु यह असम्भव नहीं कि पुराने कलेवर के नाश पर उनके संचित संस्कार जयपुर के नवीन जीवन में अन्योक्तियों का रूप धारण कर प्रकट हुए हों। अस्तु, बिहारीलाल नागर वातावरण में आकर निश्चिन्त जीवन बिताने लगे। पुरानी स्मृतियाँ जब हृदय के किसी कोने में पुनर्जीवित हो जाती तो गँवारों, अरसिकों, कृपणों और गुणवेत्ताओं से इतर व्यक्तियों पर व्यंग्य की पिचकारी से कुछ रंगीन छींटे फेंक जाती। समस्त प्रौढ़ वयस कवि ने 'विविध विलास' (दो० ५०६) और 'अनेक सवादों' (दो० ७१३) में व्यतीत कर दी, उनके स्वप्न पूरे हुए, जयपुर राज्य सभा के वे अमूल्य रत्न माने जाते थे। अब कवि के ध्यान (दो० ४१) में मन का मतवाला हाथी (दो० २१) आया जो सबको कुचलता हुआ स्वच्छन्द गति से बढ़ता चला आता है, उसने नरहरि के गुण गाये और त्रयताप से सतप्त मानस (दो० २८१) में विश्रान्ति निमित्त ठहरने के लिए श्याम को निमन्त्रित किया। भक्ति (दो० ३६१) और कतिपय नीति के दोहे इसी काल में रचे गये हैं। इस प्रकार सतसई के दोहों में कवि का व्यक्तित्व तीन भिन्न-भिन्न परन्तु अविरोधी रूपों में झलकता हुआ लक्षित होता है।

हिन्दी के शृंगार-काव्य में बिहारी का स्थान सर्वोपरि है, वे नैसर्गिक शक्ति को लेकर जन्मे, जीवन की विषम-सम परिस्थिति ने उनकी प्रतिभा को परिपुष्ट किया। यदि तुलना आवश्यक ही हो तो यह कहा जायगा कि संस्कृत-साहित्य में जो स्थान [illegible] को मिलना चाहिए। दोनों प्रतिभा- [illegible] -क-संग्रह उनका उद्देश्य नहीं, परन्तु [illegible] सौन्दर्य को छिपाये हुए है। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि बिहारी बाण के बराबर थे, प्रत्युत यह कि दोनों का व्यक्तित्व एक ही प्रकार का है, उनकी उत्तुंगता तथा सामयिक स्थिति में तो अन्तर रहेगा ही। बिहारी ने अपने दोहों में प्रकृति, गुण-दोष तथा गुणग्राहकता पर प्रासंगिक रूप से विचार किया है। गुण की स्थिति गुणी और गुणवेत्ता के मध्य में है, और क्योंकि ये दोनों ही मनोयुक्त जीव हैं, इसलिए गुण-विषयक कोई भी निर्णय इन दोनों के व्यक्तित्वों से नितान्त स्वतन्त्र नहीं हो सकता, यह कहना भी अनुचित न होगा कि गुण का अस्तित्व इन दो मनों के पारस्परिक सम्पर्क पर ही निर्भर है। अस्तु, यदि सामान्य रूप

से कहा जाय तो संसार में न कुछ सुन्दर है और न कुछ असुन्दर, मन को रुचि हुई तो एक वस्तु सुन्दर लग गई और मन की रुचि न हुई तो दूसरे समय वही वस्तु सुन्दर न लगी (दो० ४३२)। सौन्दर्य की सम्भावना के लिए दो स्थानों पर नैसर्गिक गुण (प्रतिभा) आवश्यक है—रूप रिझानेवाला हो और नेत्र रीझनेवाले हों (दो० ६८२) यह रूप-गुण प्राकृतिक है, इसमें परिवर्तन सम्भव नहीं, अर्थात् यह उत्पाद्य नहीं है, जिसमें प्रतिभा नहीं है उसमें कोटि प्रयत्नों से भी उत्पन्न नहीं हो सकती—आप आँखें फाड़-फाड़कर देखिए फिर भी आपके लोचन दीर्घ और विशाल नहीं हो सकते (दो० ५६०), और जहाँ प्रतिभा है वहाँ उसका छिपा रहना सम्भव नहीं—अनिन्द्य सुन्दरी को दूसरी स्त्रियों के बीच में छिपा दीजिए फिर भी अलग फानूस में स्थित दीपक के समान प्रकट हो जायगी (दो० ६०३), बिहारी भी चिरकाल तक गँवारों में छिपे रहे परन्तु अन्त में चमके और अपूर्व आभा के साथ चमके। यद्यपि यह कहा गया है कि प्रकृति में अन्तर नहीं आता (दो० ३४१) जो नीच है वह नीच ही रहेगा, परन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि गुण उत्पाद्य नहीं है, उसका ह्रास तो सम्भव है, कुसंगति से उसकी प्रकृति पर प्रभाव न पड़े परन्तु बाह्य कलंक तो लग ही जाता है (दो० ३०३), हींग को कपूर में मिलाकर रख दीजिए वह कपूर की सुगन्धि ग्रहण न करेगी (दो० २२८) और कपूर को भी दूषित नहीं कर सकती, फिर भी लोक को कपूर की अमिश्रित सुगन्ध मिलने में तो बाधा हो ही जायगी। गुण-उत्पादन के लिए लोग बाहरी सज्जा अलंकार आदि का अवलम्ब किया करते हैं, परन्तु आभूषण या तो प्रभाव को आवृत करते हैं या आभा को चमकाते हैं—आभा की उत्पत्ति या वृद्धि नहीं करते; इसलिए सुन्दर अंग पर अंगराग वैसा ही है जैसा आरसी पर वाष्प (दो० ३३४), सब आभूषण भी दर्पण पर लगी हुई काई (दो० ३३५) के समान ही लगते हैं। अस्तु, शृंगार का फल है शरीर की शोभा परन्तु गुणवेत्ता सुजान के मन पर तो (दो० ६४०) किसी और ही स्वाभाविक गुण का असर पड़ता है। बिहारी ने इसीलिए कहा है कि जिसमें स्वाभाविक शोभा है उसके लिए आभूषण तो भार (दो० ३२२) ही है। वस्तुतः रूप-गुण की विशेषता यही है कि सुजान के मन में रुचि उत्पन्न कर दे, वही रूप उज्ज्वल है जिसको देखकर आँखें भी उज्ज्वल हो जायँ (दो० ५१२), फिर भी दर्शक जितनी रुचि से देखेगा उतना ही रूप उसे दिखाई पड़ेगा—दीपक में जितना स्नेह भरेंगे उतना ही उससे प्रकाश (दो० ६२८) पा सकेंगे, जब तक बिहारी को सुजान गुणवेत्ता न मिला उनकी प्रतिभा एक कोने में पड़ी रही, परन्तु पात्र को पाकर इतनी चमकी कि विलासी वातावरण से लाञ्छित होकर भी वह मनोज्ञ एवं हृद्य है।

घनानन्द

हिन्दी-साहित्य में जिस प्रकार 'साँवरि' शब्द से विद्यापति, 'ऊधो' से सूरदास और 'रघुवंश-मणि' से तुलसीदास के साहित्य का बोध होता है, उसी प्रकार घनानन्द की कविता 'सुजान' और 'बिसासी' शब्दों से अंकित है। घनानन्द विद्यापति, चन्द-बरदाई, कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा और बिहारी की कोटि के नहीं हैं फिर भी

साहित्यिकों के मन में उनके लिए एक विशेष स्थान है। उनके नाम और उनके साहित्य की पहचान के विषय में आलोचक एकमत नहीं हैं, परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि घनानन्द के काव्य का एक विशेष अंश मर्मस्पर्शी है साथ ही कुछ अंश अत्यन्त सामान्य भी हैं—कवित्त-सवैये जितने हृदयस्पर्शी हैं, पद उतने ही सामान्य कोटि के। घनानन्द के काव्य में उनके जीवन के एक से अधिक रूप प्रतिबिम्बित मिलते हैं।

यदि घनानन्द के ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर विचार न किया जाय तो उनके साहित्य में उनके जीवन के दो रूप हैं, और क्योंकि उनमें कालक्रम का सम्बन्ध है इसलिए उनको पूर्वांश तथा उत्तरांश कहा जा सकता है। साहित्यिक जीवन के पूर्वांश में कवि किसी सांसारिक प्रेम में असफल होकर उसकी टीस से तड़पता बिलबिलाता हुआ करुण क्रन्दन कर रहा था, साहित्यिकों की दृष्टि में प्रेम की पीड़ा का यही काव्य घनानन्द को शृंगारी फुटकल कवियों का मुकुट-मणि सिद्ध कर देता है। 'सुजानहित' के ५७० छन्द इसी अन्तर्मुखी व्याकुलता के संतप्त उद्‌गार हैं। उत्तरांश में कवि दार्शनिक बन गया, उसने सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली, और विरह की कटुता को गले से नीचे उतारकर उसे सार्वभौम रूप में देखने लगा, 'कृपाकन्द' 'वियोग-बेलि', 'इश्कलता', 'प्रेमपत्रिका', 'व्रजप्रसाद' आदि की रचना इसी जीवन में हुई, फुटकल पद भी इसी परिस्थिति में रचे गये होंगे। यह कहना कठिन है कि यदि घनानन्द केवल उत्तरांश की ही कविता लिखते तो साहित्य में उनको वह स्थान मिलता या नहीं जो पूर्वांश की कविता से सहज ही मिल गया है।

विरह के दारुण आघात से जर्जर कलेजे को थामे हुए घनानन्द जब जीवन से मार्ग खड़े हुए तो इनके मन में अतीत स्मृतियों का संचित तनिक-सा पाथेय मात्र ही अवशिष्ट था। वे प्रेमपात्र की क्रूरता पर आँसू बहाते, गर्म साँसें लेते और किसी निष्फल आशा के सहारे उसे पिघलाने का प्रयत्न करते। अन्त में एक ओर उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया और वे प्रेम को नादानी समझने लगे, दूसरी ओर गुरु का उपदेश मिला कि वास्तविक प्रेम तो उस श्याम-सलोने से होना चाहिए जिसके रूप पर अनेक गोपियाँ ही नहीं प्रत्युत कोटि कामदेव भी निछावर हैं और जिसमें रूप के साथ रिझानेवाले गुण भी हैं। यही घनानन्द के व्यक्तित्व में भारतीय और अभारतीय तत्वों का मिश्रण हो गया है। भारतीय साधक, यह तो सम्भव है कि, संसार से अतृप्ति के कारण उस अनन्त राशि के निकट जाय, परन्तु जब उधर चला गया फिर उसके मन में संसार की वासनात्मक गन्ध नहीं रह सकती, वह तो उस चकाचौंध में अपना नया जन्म देखकर स्वयं को भी भूल जाता है। इसके विपरीत सूफ़ी साधक जब मजाज़ी से निराश होकर हक़ीक़ी प्रेम की चर्चा करने लगता है तब भी उसके मन से मजाज़ी रूप लुप्त नहीं हो जाता—उसे प्रतिक्षण हक़ीक़ी के लिए मजाज़ी का ही आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु, घनानन्द के उत्तर जीवन में भी 'दिलपसन्द दिलदार यार' कायम ही रहा, यद्यपि उसका एकीकरण 'इलधर के वीर' या 'महबूब नन्द दे' के साथ हो गया लगता है। वस्तुतः जब कवि "दिलपसन्द दिलदार यार तू मुजनूं की तरसान्दा है" कहता है तो साथ ही "मैंनूँ ध्यान आन नहिं जानी तू घन-कुंज बिहारी है" भी लिख देता है, या

पेड़े मुख, १. 'नेल प्रवे प्रति खून करन्दा' कहकर उसे 'चन्दा गोविन्द सुनंद दे घन आनंद-कन्दे' लिखने की जरूरत महसूस होने लगती है। उत्तर जीवन की ये कवितायें कवि को शुद्ध भारतीय परम्परा में नहीं बैठने देतीं।

घनानन्द के पूर्व काव्य को, सुविधा के लिए, प्रेम-काव्य और उत्तर-काव्य को दीक्षा-काव्य कहा जा सकता है। साहित्य की दृष्टि से प्रेम-काव्य का मूल्य इतना अधिक है कि उत्तर-दीक्षा-काव्य अनिवार्यतः आलोचक का ध्यान आकृष्ट नहीं करता। इस प्रेम-काव्य की मुख्य विशेषता एकांगिता है, जिसके दो रूप उपलब्ध हैं। एक तो गीत-गोविन्दकार जयदेव के समान घनानन्द का प्रेम निभृत है, उसमें संसार या समाज न बाधक है और न साधक, प्रेमी और प्रेमपात्र दो से ही दुनिया आबाद है, न परिजन-पुरजन है, न दूती-सखी, इसलिए न बचाव है और न सहायता। जयदेव ने संभोग शृंगार का भी वर्णन किया था और प्रेम का प्रारम्भ भी दिखाया था, इसलिये उनको सहचरी की पार्टटाइम सहायता लेनी पड़ी, परन्तु घनानन्द की कविता वियोग से ही जन्मती है, अतः उस निर्दय एकान्त तड़पन में किसी सदय उपचारकर्ता की आवश्यकता नहीं। घनानन्द का यह काव्य शुद्ध वेदना का ही उद्गार है, तीसरे की अनुपस्थिति ने चीत्कार को अनावृत कर दिया और मुख से शिकायत के स्थान पर भी कराह निकलने लगी। एकांगिता का दूसरा रूप इस काव्य की सूर-काव्य से तुलना करने पर स्पष्ट हो सकेगा। सूर अपने 'संसारी' जीवन से विरक्त होकर जब भगवद्भजन में आ गये तब भी उनकी वाणी में पिछले जीवन की छाप लगी रही (इसका संकेत यथास्थान किया जा चुका है) और मुगल शासन की शब्दावली में वे अपने उद्गारों को प्रकट करते रहे। घनानन्द का शासन के साथ सूर की अपेक्षा अधिक एवं निश्चित सम्बन्ध था, फिर भी उनके काव्य में उसकी अधिक छाप नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि विरहविह्वल घनानन्द अपने पिछले जीवन को बिल्कुल भूल गये, और उनके शरीर में विरह के प्रबल आघात से नये व्यक्तित्व का उदय हो गया। शारीरिक या मानसिक आघातों से व्यक्तित्व में विकार या इस प्रकार का आमूल परिवर्तन सम्भव है। एकांगिता, प्रेम की तरंगों में बहनेवाले कवियों का स्वाभाविक गुण है, घनानन्द का काव्य इस गुण के कारण महार्घ बन गया है—विरह का वह आघात बड़ा सशक्त रहा होगा जिसने घनानन्द जैसे सांसारिक जन के व्यक्तित्व में ऐसा विकारस्पर्शी परिवर्तन कर दिया।

यह काव्य जिस प्रेम से ओत-प्रोत है उसका वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दावली में किया है—

> रूप-चमूप सज्यो दल देखि, भज्यो तजि देसहि धीर-मवासी।
> नैन मिले उर के पुर पैठत, लाज लुटी न छुटी तिनका सी।
> प्रेम-दुहाई फिरी घनआनंद, बाँधि लिये कुल-नेम गुढ़ासी।
> रीझ-सुजान सची पटरानी, बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी॥
>
> (सुजान-हित, ४८)

पहिले मन पर धैर्य का शासन था परन्तु जब महावीर नायक रूप ने अपने

दल-बल को सजाकर गढ़ पर आक्रमण किया तो शासक धैर्य भयभीत होकर भाग गया, फिर नायक ने विजयोल्लास से हृदय रूपी नगर में प्रवेश किया और आक्रान्ता नेत्र नागरिक नेत्रों से मिले, तब उच्छृंखल भाव से लज्जा की लूट मची, तदुपरान्त नगर में प्रेम का राज्य घोषित कर दिया गया, उपद्रवी कुल-नियमों को बन्दी बनाया गया, रीझ महारानी बनी और बुद्धि को दासी बनाकर जीवित रहने दिया गया। घनानन्द ने प्रेम का प्रारंभ रूप-दर्शन¹ से माना है, और वह रूप प्राकृतिक न होकर प्रसाधित है—वह अपने दल-बल सहित ही आक्रमण करता है। रूप की चमू का क्वचित् संकेत है—

'सहज बनी है घन आनंद नवेली नाक, अनबनी नथ सौं सुहाग की मरोरलै'
(सुजान-हित, ३०)

'मुकर्यौ न उतर्यो बनाव सखि भूरे कौ' (सुजान-हित, १८६),

और कहीं सामान्य वर्णन है—

पानिप-पूरी खरी निखरी, रस-रासि-निकाई की नीबैंहि रोपें।
लाज लडी बडी सील-गसीली सुभाय हँसीली चितै चित लोपें।
अजन-अजित-श्री घन-आनद मजु महा उपमानि हूँ ओपें।
तेरी सौं एरी सुजान तो आँखिन देखि ये आँखि न आवति मोपें॥
(सुजान-हित, १८५)

जब सुसज्जित रूप को देखकर धैर्य का लोप हो गया तब नेत्र उसके नेत्रों से मिले और यह आश्चर्य की बात है कि उन भोले नेत्रों ने स्वागत ही किया प्रतिरोध नहीं, फिर क्या था प्रेमी के हृदय से लज्जा भी खो गई—घनानन्द की यही स्थिति है। पीछे की घटनाएँ परवशता में हुईं, क्योंकि इसी समय मन पागल हो गया था या शराबी के समान किसी नशे में छका हुआ था, उसने सुधि-बुधि खोकर प्रेम का तिलक मस्तक पर लगा लिया।

ध्यान देने से जान पड़ेगा कि इस तूफ़ानी प्रेम में दो ही तो कदम हैं—रूप-दर्शन और नेत्र-मिलन रूप-दर्शन बिल्कुल एकपक्षीय है, उसमें दर्शक ही सचेष्ट है दर्शनीय

---

१ रूप-निधान सुजान सखी जब तें इन नैननि नेकु निहारे। (सुजान-हित, १)
रूप-छकी, नित ही विवकी, अब ऐसी अनेरी पत्याति न नेरी। (वही, २)
दौठि कौं और कहूँ नहि ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही। (वही, ७)
निरखि सुजान प्यारे, रावरो रुचिर रूप । (वही, २५)
रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियें। (वही ४१)
प्रान-पखेरू परे तरफै लखि रूप-चुगो जु फँदे गुन-गायन। (वही, ४६)
देखें रूप रावरो, भयौ है जीव बावरो ·· (वही, ७१)
जोबन-रूप-अनूप-मरोर सों अगहि अंग लसं गुन-ऐंठी। (वही, ११४)
वह रूप की रीति सखी जबतें सखी आँखिन कै हटतार भई। (वही, १४३)
रूप-गुन-आगरि नवेली नेह-नागरि तू ······ । (वही, १६२)

नहीं। इसलिए दर्शनीय पर उस दर्शन के फलाफल का कोई उत्तरदायित्व नहीं आता। नेत्र-मिलन भी उभय-पक्ष में सफल नहीं, परन्तु प्रिय का वर्णन यहीं से प्रारम्भ होता है। किसी के रूप को देखकर हम रीझ जायँ—यह स्वाभाविक है, परन्तु यह रीझ मौग्ध्य कहलायेगी प्रेम नहीं—भक्त कवियों ने इसी को मन की मूढ़ता कहा है, मुग्धता हो या मूढ़ता, है यह बहक ही, क्योंकि रूप पर रीझना तो सामान्य बात है, परन्तु उससे आगे की चरितावली विडम्बक है। यदि रीझ तक ही बात समाप्त हो जाती तो कुशल थी, परन्तु तदुपरान्त नेत्र भी मिले। रीझनेवाला दर्शक तो रूप पर सव्यवधान दृष्टिपात करता ही रहता है, यदि दर्शनीय के नेत्र भी अकस्मात् एक बार उधर आगये तो दर्शक ने अपने को कृतार्थ समझा। अब दर्शनीय के मन में, आकर्षण, घृणा, या कोप से, यह कुतूहल उत्पन्न हुआ कि यह दर्शक पुन पुन देख रहा है क्या, इसलिए उसने तीन-चार बार आँख उठाकर उसको नहीं प्रत्युत उसकी चेष्टा को देखा। दर्शक ने समझा कि उसके नेत्र बार-बार आगे बढ़कर मेरे नेत्रों का स्वागत कर रहे हैं। यही गलतफहमी तथाकथित प्रेम को जन्म देती है, और आश्चर्य तो यह है कि घृणा और कोप से विकम्पित दृष्टि को वह अनुराग-लोल समझने लगता है। दर्शनीय की यह प्रतिक्रिया किसी भी अर्थ में अनुराग का अर्थ नहीं है। अत यह नेत्र-मिलन भी उतना ही एकपक्षीय है जितना कि रूप-दर्शन। रूप-दर्शन और नेत्र-मिलन की ये समवेत घटनाएँ जीवन में न जाने कितनी बार आती होंगी, फिर भी मन कुछ खास लोगों के पीछे ही क्यों पड़ जाता है—? इसका कारण नेत्र-मिलन में दर्शनीय की प्रतिक्रिया भी है। यदि रूपसी यह जानती कि वह लुटेरों से घिरी हुई है, उसे सख्ती से काम लेना होगा, तो वह अपनी चितवन से भोलेपन के स्थान पर कठोरता बरसाती, परन्तु उसने अपने वातावरण को ठीक नहीं समझा, इसलिए बैठे-बैठाये ही अशान्ति मोल ले ली। लम्पट मन तो क्षुधित श्वान के समान सर्वत्र मुँह मारने की कोशिश करता है, मुख घुमाते ही यदि उस पर डंडा न पड़ा तो वह बिगड़ता ही चला जायगा, और कहीं भी शुद्धता-पवित्रता न रह सकेगी।

बिहारी से तुलना करने पर घनानन्द के प्रेम की कुछ विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। बिहारी का काव्य व्यक्तिगत उद्गार न होकर वर्णन-मात्र है, इसलिये उसमें शृंगार की अनेक मनोरम भूमियाँ हैं, परन्तु घनानन्द का काव्य व्यक्तिगत अनुभव से उत्पन्न है, इसलिये उसमें शृंगार की एक ही परिस्थिति और उसका एक ही रूप मिलता है। बिहारी ने जिस प्रेम का अधिकांश वर्णन किया है वह नेत्र-मिलन से आरब्ध और रूप-सौन्दर्य से उद्दीप्त होकर मन के मिलने तक आगे बढ़ता है, वह प्राय एकपक्षीय नहीं, तुल्योन्माद है, परन्तु घनानन्द में रूप प्रथम हेतु या मूल कारण है, नेत्र-मिलन वास्तविक नहीं प्रत्युत काल्पनिक है, और एकपक्षीय होने के कारण इसमें मन की साध कभी पूरी नहीं होती। इसलिए बिहारी के विपरीत घनानन्द का प्रेम सर्वत्र विरहोन्माद है, उसमें सयोग की घड़ी लिखी ही नहीं। चण्डीदास का प्रेम भी विरहोत्तर था, परन्तु वह उभयपक्ष में था इसलिए उसमें सयोग अवश्य है, यद्यपि सभोग का अभाव है, घनानन्द में सयोग नहीं है—उसकी तनिक भी सभावना नहीं है—फिर भी सभोग की भूरि कल्पना की गई है—

इनका विस्तार 'रस-आरस' (सुजान-हित, १७), 'सौति' (वही, १६), 'उत्कण्ठा' (वही, २३), 'प्रतीक्षा' (वही, २७), 'हँसनि-लसनि' (वही, २८), 'रति-रंग' (वही, २६), 'रस की तरंग' (वही, ३२), 'आलिंगन' (वही, २६), 'बैन की निकाई' (वही, ५६), 'रूप-मद' (वही, ८१), 'चारु चुरीति' (वही, ११५), 'नवल सनेह' (वही, १५८) आदि अनेक रूपों तक किया है। शायद इन अभिलाषाओं[1] में आशा के बीज झलकते हों क्योंकि कई बार 'आगम-उमाह-चाह' (७७) से उनका मन कुछ उल्लसित-सा लगता है और वे ऐसा सोचते हैं कि अपनी रीति को निबाहने के लिए मिलन जरूर होगा—

के विपरीति मिलौ घनआनन्द या विधि आपनि रीति निबाहौ।

(सुजान-हित, ८६)

आनन्द के घन प्रीति-सारी न बिगारियै। (वही, १२४)

वस्तुतः यह आशा दैन्य और अनुनय का ही प्रासंगिक परिणाम है। शायद ही किसी दूसरे प्रेमी ने इतना दीन बनकर अपने प्रेमपात्र को मनाया हो; चाहे उसके प्रेम में कचाई थी, चाहे वह बिल्कुल निराश हो चुका था। 'आपको न चाहै, ताके बाप को चाहिये' कहने वालों को छोड़ दीजिये, हिन्दी का दूसरा ऐसा कौनसा कवि है जिसने हा-हा खाकर अपना मुख सुखा दिया या पैरों पड़कर माथा घिस दिया हो, परन्तु घनानंद ऐसा प्राय करते हैं जो उनकी दीनदशा का फल है और उनके प्रेम का मापक भी है—

लै लै प्रान वारौं इक टक धारौं यौ बिचारौं,

हा-हा घनआनन्द तिहारो दीन को दसं।

(सुजान-हित, ६०)

हित-चायनि च्वै चित चाहत नै नित पायनि ऊपर सीस धरौं।

(वही, ११०)

जिस गौरव से भक्त कवि भगवान् के सामने अपने को दीन बताकर अपने दैन्य का वर्णन करते हैं वही विरही घनानन्द में है, लोक-लाज का वास्तविक त्याग तो यहीं हुआ था, अन्य प्रेमी तो, लगता है, झूँठ बोला करते थे। यह दैन्य लोक-संग्रह की दृष्टि से अवाञ्छित हो परन्तु घोर वेदना का सूचक है। भगवान् के सम्मुख दीन बनने से आत्मा निस्तेज नहीं होती परन्तु किसी व्यक्ति के समक्ष इस सीढ़ी तक उतर आने से ज्योति बुझ सी जाती है। अतः नितान्त असह्य वेदना के बिना सिर पटकने के समान इस दैन्य की दशा सम्भव नहीं, इससे स्वाभिमान चूर-चूर हो जाता है और पीड़ा शान्त नहीं होती। घनानन्द के काव्य में भाव पक्ष का आकर्षण यहीं पीड़ा है जो असामान्य मनोदशा से उद्भूत होने के कारण पाठक को ग्रहण कर लेती है।

और हुआ भी वही घनानन्द ने अपने हृदय को टूक टूक[2] कर दिया, परन्तु

---

१ भरि भक निसंक ह्वै भेदन कौं अभिलाष-अनेक-भरी छतिया। ४२८।

२ ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूक कियौ परि बाँचि न देख्यौ॥

(सुजान-हित, २८२)

उनके प्रेम-पात्र ने उसको पढ़ने की कभी परवाह नहीं की, वे उजड़[1] गये, परन्तु भावते[2] कहीं और ही बने रहे, इनके हृदय में आग[3] लग गई, होली[4] जलने लगी, वे खुश हैं। स्वाभाविक भी है। जब घनानन्द नितान्त एकपक्षीय आकर्षण को ही प्रेम समझने लगे तो उसका और क्या परिपाक हो सकता था। सुन्दर व्यक्ति पर प्राण देने वाले तो अनेकों व्यक्ति हो सकते हैं, वह बेचारा किस-किस पर दया करके उनके मन को शान्त करेगा ? इसलिए एकपक्षीय आकर्षण सर्वथा लम्पटता है, प्रेम नहीं, प्रेम हृदय का वह आकर्षण है जो उभय पक्ष में सम हो—अनुराग मात्रा में तुल्य नहीं हो सकता, परन्तु दोनों पक्षों में अवश्य तुल्य होना चाहिये। घनानन्द को अब मालूम हुआ कि उनका प्रेम-पात्र तो निष्ठुर और निर्मोही है, उस जैसा विश्वासघाती कोई दूसरा नहीं हो सकता—

एक बिसास की टेक गहाय कहा बस जो उर और ही ठानी।६।
रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों विष घोरियै जू।३८।
अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है ।२४४।
परतीति दै कीनी अतीति महा विष दीनी दिखाय मिठास-डरी।
इत काहू सों मेल रह्यो न कछू, उत खेल-सी-ह्वै सब बात टरी।२४६।
तुम्हें पाय अजू हम खोयो सबै हमैं खोय कहौ तुम पायो कहा।३२२।

इस एकपक्षीय आकर्षण का अवसान ससार के प्रति अश्रद्धा में हुआ। प्रेम कभी नहीं करना चाहिए, इसमें आनन्द कम और विपत्ति अधिक है, जो भाग्य में लिखा होता है वही मिलता है, उसने दुःख दिया और सुख पाया परन्तु हमने अपना चित्त सौंप दिया फिर भी चिन्ता पल्ले पड़ी, हमारा जीवन व्यर्थ है, ईश्वर मनुष्य को चाहे जो कष्ट दे परन्तु किसी निर्मोही से उसका प्रेम न करावे। इस प्रकार के उद्गार प्रेम की अवसिति में व्यक्त किये गये हैं—

(१) देह दहै न रहै सुधि गेह की, भूलि हू नेह को नाँव न लीजै।३७।
(२) गुन बँधै, कुल छूटै, आयो दै उदेग लूटै,
उत जुरै, इत टूटै, आनन्द विपत्ति है ॥५१॥
(३) कौन कौन बात को परेखौ उर आनियै हो,
जान प्यारे कँ सें बिधि-अक टारियत है ॥१२६॥
(४) दुख दै सुख पावत हो तुम तौ, चित के अरपे हम चित लह्यो ॥१३१॥
(५) है घन आनन्द सोच महा मरिबो अनमीच बिना जिय जीबो ॥१४८॥
(६) दिनन को फेर मोहि, तुम मन फेरि डारयो ॥२२४॥
(७) प्रान मरेंगे, भरेंगे बिथा, पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ ॥२८४॥

---

१ रावरो बसाय तो बसाय न उजारियै। (वही, २१८)
२ उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखो,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हो। (वही, २१७)
३ उर आँच लागै। (वही, २०६)
४ होरी-सी हमारे हियें लागियै रहति है। (वही, २१६)

निराशा के ये वाक्य हृदय की जर्जरता के द्योतक हैं। झूठी आशा, निराधार विश्वास, यथासम्भव प्रयत्न और दयनीय दैन्य के अनन्तर असफलता से पुरस्कृत होने पर हृदय में खीझ, अश्रद्धा और भाग्यवाद के इन भावों का आ जाना स्वाभाविक ही है। घनानन्द में इनकी संख्या अपार है और इनका आकर्षण भी निर्विवाद है—

जरो बिरहागिनि मैं करों हौं पुकार कासों
दई गयो तू हू निरदई और दरि रे।२६५।
हाय दई यह कौन भई गति प्रीति मिटें हू मिटै न परेखो।३०४।
कब आय हौ औसर जानि सुजान बहोर लौं बैस तो जाति लदी।३४१।
तुम ही तिहि साखि सुनौ घनआनन्द प्यार निगोड़े की घोर बुरो।३८४।
यह तो सुधि भूलि गयो बिछुरें कबहूँ सुधि भूलि न भीत लई।४१२।
एक बास बसे सदा बालम बिसासी, पै न
भई क्यो चिन्हारि कहूँ हमें तुम्हें हाय हाय।४१८।

इस हाय-हाय में जो करुणा है वह खीझ का परिहास करने वालों को भी पिघला सकती है। यदि निष्ठुर प्रेम-पात्र भी इसको सुन लेता तो वह भी दयार्द्र हो जाता। परन्तु भाग्यवादी होते-होते घनानन्द व्यक्तिगत असफलता को दैव की इच्छा समझने लगे, यहीं से उनकी सम्प्रदाय में दीक्षा प्रारम्भ होती है—

दौरि दौरि थाक्यो पै थकै न जड़ दौरनि तें,
गति भूलें मन को न बुरी कछू तोतें रे।
तातें ठौर बौझें याहि, सुधि लीजें मोदघन,
बूझियें न बिडरयो अनाथ तोहि होतें रे॥
हाय हाय रे अमोही हारि के कहत हा हा,
आय बनी अब ह्वैहै वही रची जो तैं रे।
आस-बिसवास दें असाधन हू साधि लैं न,
साधन कृपा है और कहा सधैं मोतें रे॥
(कृपाकन्द, ६२)

इस दीक्षा से पूर्व घनानन्द के प्रेम पर कुछ और विचार कर लेना चाहिये। यह कहा जा चुका है कि वे प्रेम को कोसते हुए अपनी खीझ प्रकट कर रहे थे। प्रेम बुरा होता है, इसमें न्याय नहीं है, इसमें निर्दयी जीत जाता है, दीन मारा जाता है आदि उद्गार शृंगार काल की अपनी विशेषता और तत्कालीन जीवन की असारता के द्योतक हैं। इनका उद्गम प्रेमपात्र को निष्ठुर, बधिक आदि विशेषणों से सम्बोधित करने में है। परन्तु पीछे घनानन्द को पता लगा कि प्रेम तो वास्तविक और सत्य है, जो निष्ठुर है वह प्रेम के स्पर्श से शून्य होने के कारण, प्रेम को उसके कारण बुरा नहीं कहा जा सकता, वह बुरा है क्योंकि वह प्रेम के मर्म को नहीं जानता। प्रेम का निर्वाह सामान्य व्यक्ति का काम भी नहीं है, इसके लिए तो हृदय अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, सरल एवं निष्कपट होना चाहिए, हमने यह भूल की कि अयोग्य व्यक्ति को ऐसी अमूल्य वस्तु का अधिकारी समझते रहे। घनानन्द के ये विचार उद्वेगजनित नहीं हैं, इनमें प्रेम से

भागने की प्रवृत्ति नहीं प्रत्युत समको आत्मसात् कर लेने का भाव है—

(क) अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाक नहीं ।
तहाँ साँचे चलें तजि आपुनपौ झझकें कपटी जे निसाक नहीं ।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आँक नहीं ।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाक नहीं ।।२६७।।

(ख) प्रेम-नेम हित-चतुरई, जे न बिचारत नेकु मन ।
सपनेहूँ न बिलंबियै, छिन तिन ढिग आनन्दघन ।।२८५।।

क्योंकि यह प्रेम एक सामान्य भाव नहीं रहा, प्रत्युत 'प्रेम पन्थ' बन गया है, यह *अन्तर्यामी 'जानराय' का प्रेम है, जिसको 'रँगीली प्रीति'*[1] *कहा जाता है।* इसमें वियोग और संयोग[2] दोनों ही एकरस हैं, चण्डीदास की साधना के समान ही। उदाहरण देखिये—

(क) जल-थल-व्यापी सदा अंतरजामी उदार,
जगत में नाँवें जानराय रह्यौ परि रे ।।२६५।।

(ख) ज्ञान हू तें आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामें भोगी भोग जात ग्वै ।
जान घनआनन्द अनोखो यह प्रेम-पन्थ,
भूले ते चलत, रहै सुधि के थकित ह्वै ।।२९६।।

आलोचकों ने माना है कि घनानन्द की कविता 'जग की कविताई'[3] से बहुत ऊँची है, *इसको वही समझ सकता है जिसके हृदय नेत्र में स्नेह रंजित*[4] *हो।* कदाचित् इसलिए कवि ने यह घोषणा की थी कि दूसरे लोग लगकर सायास[5] कविता करते है, परन्तु मेरी कविता नैसर्गिक है और इसीलिए मुझे उच्च स्थान प्रदान कर देती है। इस कविता की मधुरता पर रसिक और साहित्यिक दोनों रीझ चुके हैं। हमने ऊपर बताया था कि इस रीझ का मुख्य आधार तो उस काव्य की वैयक्तिकता है, यह इतना एकांगी है कि अनुभव-जन्य यथार्थ वेदना को सहज शक्ति से अभिव्यक्त करके ही पाठक को वशीभूत कर लेता है, रीतिबद्ध कवि बिहारी आदि की अपेक्षा व्यक्तिगत वेदना को स्वतन्त्र रूप से शब्दबद्ध करने वाले सभी कवि अधिक हृदयस्पर्शी लगते हैं। घनानन्द के सौन्दर्य में इस अनावृत करुणा को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। दूसरा स्थान शैली गत चमत्कार का है। घनानन्द को ससार का कुछ अनुभव प्राप्त था, यद्यपि उन्होंने उस समस्त का उपयोग नहीं किया, परन्तु उसमें से किंचिदंश को अप्रस्तुत सामग्री के रूप में स्थान दिया है। यह दुहराना आवश्यक है कि घनानन्द में इतनी कम अप्रस्तुत सामग्री का उपयोग है कि उसके आधार पर निकाले गये निष्कर्ष

---

१ नीरस रचनि बचाय रँगीली प्रीति सुरस पागोगे। (कृपाकन्द)
२ चाह के रंग में भीज्यौ हियो बिछुरे मिलें प्रीतम सान्ति न मानें ।।
३ जग की कविताई के धोखे रहें, ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी। (प्रशस्ति)
४ समझै कविता घनआनन्द की हियें-आँखिन नेह की पीर तकी । (वही)
५ लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत ।।२२८।। (सुजान-हित)

निर्भ्रान्त नहीं रह सकते, इस सीमा पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। अस्तु, यह यत्किञ्चित् सामग्री उस जीवन से आई है जो पाठक का सुपरिचित, परन्तु साहित्य में सुप्रचलित नहीं, है। फिर भी इस सामग्री की तुलना कबीर की सामग्री से नहीं हो सकती। कबीर का समाज उन पिछड़े हुए लोगों का था जो चाकी-चूल्हे या शिश्नोदर की चर्चा में ही मशगूल रहते हैं इसलिए उनके गुरु कबीरदास अपने उपदेशों में उसी अप्रस्तुत सामग्री को रख सके। इनके विपरीत घनानन्द का समाज बुद्धि-वैभव में प्रौढ़ था और उसका प्रसार बहुमुखी था, अतः कवि ने अनेक क्षेत्रों से उस सामग्री का सहज चयन किया है, यह परम्पराप्राप्त नहीं मौलिक है, आयास नहीं सहज है। घना-नन्द की यही विशेषता है कि कम-से-कम सामग्री से अधिक से-अधिक लाभ उन्होंने उठाया है, उनका चुनाव अत्यन्त मार्मिक तथा उपयुक्त है। ऐसा लगता है कि यह सामग्री भी उतनी सहज है जितनी कि अनुभूत वेदना की अभिव्यक्ति। उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) विरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह-
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुडी लौं उड्यौ रहै।४६।

(ख) घेर्यौ घट आय अन्तराय-पटनि-अट पैं,
ता मधि उजारे प्यारे फानुस के दीप है।६४।

(ग) भीर जो सवार घनआनन्द बिचारै कौन,
विरह-विषम जुर जीबो कटुवो लगै।१२८।

(घ) उन अन्तर-पांयनि लगी निहूँदी मुरहा लगि धीरज हाथ रहै।१४०।

(ङ) देखिये दशा असाध अँखियाँ निपेटिनि की,
भसमी बिथा पै निति लंघन करति है।१७६।

(च) गए उडि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
परयौ आय औचक वियोग बैरी डेरा सो।१६४।

(छ) ईई हियें रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की,
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै।२८६।

(ज) कब आयहौ औसर जानि सुजानि बहीर लौं बैस तौ जानि लदी।३४६।

यह सिद्धान्त है कि भीगने पर वस्तु भारी हो जाती है अतः उड नहीं सकती, परन्तु जीव ज्यों-ज्यों प्रेम में भीगकर भारी होता है त्यों-त्यों वह पतंग के समान उड़ता रहता है—यह अजीब विरोधाभास है जिसका अनुभव सबको होता है। प्रियतम उस दीपक के समान है जो कांच के पात्र से ढँका हो, इस वर्तन पर आप जितने पर्दे डालेंगे उतनी ही ज्योति एकत्रीभूत हो जायगी, अतः दीपक अधिक चमकेगा, विघ्नों के परिवृत्त शरीर में प्रियतम भी इसी प्रकार ज्योतिर्मान् रहते हैं। विषम ज्वर में मुख का स्वाद विकृत हो जाता है, यहाँ तक कि पानी (जीवन) भी कड़ुवा लगने लगता है, विरह-ज्वर में भी जीवन कड़ुवा लगता है—'जीवन' शब्द पर श्लेष से उक्ति में दोहरा चमत्कार आ गया है। जिसके पैरों में मेंहदी लगी हो वह चलने-फिरने क्यों लगा, प्रेमपात्र का उत्तर भी प्रेमी तक चलकर नहीं आ सकता, शायद उसने भी मेंहदी

लगा ली है—मेंहदी सौन्दर्य और विलास दोनों का समवेत सकेत देती है और मध्यकाल का एक सामान्य प्रसाधन भी थी। घोर कष्ट में यदि व्यक्ति लघन करे तो उसके शरीर को खुराक कहाँ से पहुँचेगी ? नेत्रों की भी ऐसी ही असाध्य दशा है। यदि खेत में आप एक ढेला फेंक दें तो जितने पक्षी होंगे वे भयभीत होकर उड जावेंगे, वियोग ऐसा ही उपल है जिसके गिरते ही सुख रूपी पक्षी तुरन्त उड जाते हैं। अंग्रेजी में 'हीयर' और 'लिसिन' दो शब्द हैं परन्तु हिन्दी में 'सुनना' और 'ध्यान से सुनना' होता है, एक व्यक्ति सुनता है फिर भी नहीं सुनता, तब कहा जाता है कि क्या आपके कान में रुई लगी है, प्राय टालमटूल करनेवाला व्यक्ति सुनकर भी अनसुनी कर देता है—इसी को 'बहराना' कहते हैं, घनानन्द ने बहराने को ही कान की रुई माना है। प्रतीक्षाकुल विरही को एक ही अफसोस है कि आयु सीमित परन्तु प्रतीक्षा निरवधि है, न जाने कब बनिजारा अपना टाँड लाद करके चल देगा और तब मन की एकमात्र अतृप्त अभिलाषा मन में ही रह जायगी, सूर की गोपी ने अन्त में प्रियतम के पास एक ही सन्देश भेजा था - 'ना जानें कब छूट जायगो प्रान, रहै जिय साधौ' घनानन्द भी अपने प्रेमपात्र को छीजती हुई वयस का ध्यान दिलाते हैं।

√/इस अप्रस्तुत योजना के उदाहरण असख्य नहीं हैं, परन्तु क्षेत्र अनेक हैं, जिनके आधार पर कोई भी कवि के जीवन और उन-उन क्षेत्रों के नैकट्य की सभावना नहीं की जा सकती। परन्तु ध्यान देना होगा कि इस योजना में रूपाकार का कोई सादृश्य नहीं दृष्टिगत होता, केवल गुण-साम्य है वह भी विद्यमान गुण के आधार पर नहीं, प्रत्युत क्रियावसिति या फल को ध्यान में रखकर। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक मूर्त है तो दूसरा प्राय अमूर्त, कहीं मानवीकरण है, तो कहीं श्लेष का आधार। जीव और पतग, अन्तराय और पट, पक्षी और सुख, वियोग और पत्थर, कपास और बहिराना, तथा बहीर और वयस के अप्रस्तुत-प्रस्तुत-भाव अनेक प्रगतिशील कवियों के अनुकरणीय हैं। जब आँखें लघन करती हैं, या हडताल कर देती हैं तो उनके ये व्यापार उस समय के समाज का कुछ सकेत देने के साथ-साथ नेत्रों को व्यक्तित्व भी तो प्रदान करते हैं। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से पूर्व उत्तर को एक व्यक्ति बनना पडेगा, तरुण या तरुणी। अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ये उच्छृ खल प्रयोग न होकर धर्म-विशेष की व्यजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जीव को पतग मानते ही बिहारी का वह दोहा याद आ जाता है जिसमें 'उडी जाति कितऊ गुडी, तऊ उडायक हाथ' कहा गया है—पतग का नाच तो उस पर निर्भर है जिसके हाथ में उसकी रस्सी है। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से उत्तर के आश्रय निठुर प्रिय के अग-अग पर अगराग लग गया, जो उसको सुन्दर एव सुकुमार के साथ-साथ मानवान् भी सिद्ध कर देता है—ऐसी है अदा उनकी। वियोग और डेल में कितना साम्य है, दोनों झूरनेवाले, शोषक तथा असेवनीय हैं। कान में रुई देना अपने आप में स्वय भिकाना या बहिराना है—हम सुनकर भी नहीं सुनते, यह सूक्ष्म प्रयत्न है, और कान में रुई लगा लेते हैं, यह स्थूल प्रयत्न है। घनानन्द की यह अप्रस्तुत-योजना वस्तुत सहज अति सराहनीय है।

घनानन्द की अप्रस्तुत योजना श्लेष और विरोध के कंधों पर हाथ रखकर उचक रही है, इसलिए वह जितनी है उससे अधिक ऊँची दिखाई पड़ती है। ऊपर जिन उदाहरणों का विश्लेषण किया गया था उनमें से एक उदाहरण विरह रूपी विषम-ज्वर के कारण जीवन का स्वाद कटु बता रहा था, विषम-ज्वर में पानी कड़वा लगता है, यह अनुभव-सिद्ध है, और विरह से जीवन में कटुता आ जाती है, इसे भुक्तभोगी जानते हैं, कवि ने श्लिष्ट शब्द के प्रयोग से जो रूपक बनाया है वह अमूल्य है। पानी से सब भीग जाते हैं और स्नेह में भी सिंचन की सामर्थ्य है, 'भीज्यौ' का एक अर्थ अभिधा से और दूसरा लक्षणा से लिया जायगा। 'कान खोलना' एक मुहावरा है, और रुई हट जाने पर स्वयं ही कान खुल जाते हैं, एक अर्थ लक्षणा शक्ति से आया है और दूसरा अभिधा से।

प्रेम एक विषम दशा है, यह सबसे बुरी भी है और सबसे अच्छी भी, जो मिटना चाहता है उसके लिए प्रेम के समान कोई दूसरी वेदी नहीं, और जो लाभ-हानि का हिसाब-किताब रखता है, उसे इस मार्ग पर भूलकर भी कदम न रखना चाहिए। इसीलिए प्रेमी मरकर अमर होता है, सर्वस्व खोकर जीवन का फल प्राप्त करता है। प्रेमियों ने इन विरोधी भावों को बड़ी चमत्कारिणी उक्तियों द्वारा अभिव्यक्त किया है। घनानन्द इस क्षेत्र में भी सजातीयों से आगे हैं, विषमता की उनकी विरोधगर्भिणी उक्तियाँ बड़ी रमणीय हैं—

(क) अचरज खानि उघरे हू लाज सों ढके ॥२६॥

(ख) तब हार पहार से लागत हे, अब आनि कै बीच पहार परे ॥३६॥

(ग) नेह-नीर भीज्यौ जीव, तऊ गुड़ी लौं उड्यौ रहै ॥४६॥

(घ) गुन बँधं, कुल छूटं, प्रानी दं उदेग लूटं,
उत जुरं, इत टूटं, अनेद बिपति है ॥५१॥

(ङ) बदरा बरसं रितु मं घिरि कं, नित ही अँखियाँ उघरी बरसं ॥७८॥

(च) मोहि तो वियोग हू मं दीसत समीप हौ ॥९४॥

(छ) ढीलो दसा ही सों मेरी मति लीनी कसि है ॥१०६॥

(ज) दुख दं सुख पावत हौ तुम तो, चित के अरपें हम चिंत लही ॥१३१॥

(झ) तुम कौन धौं पाटी पढ़ें हौ लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ॥२६७॥

इन विरोधों में शब्द-चमत्कार कम परन्तु उक्ति-चमत्कार अधिक है। संयोग में हार का फासिला भी पहाड़ का-सा व्यवधान लगता था, परन्तु अब वस्तुतः हमारे तुम्हारे बीच में पहाड़ आ गये हैं। बादल ऋतु-विशेष में ही घिरकर बरसते हैं, परन्तु नेत्र नित्य ही तथा उघरकर बरसते हैं—इस उक्ति में 'निसिदिन बरसत नैन हमारे' का भाव अधिक चमत्कार से वर्णित है। यद्यपि वियोग है फिर भी तुम हर समय मुझको अपने समीप ही लगते हो—इसमें 'राधा भेंति मधाई रे' का गहरा भाव नहीं है, फिर भी चमत्कार है। वे कुछ ढीले दिखाई पड़े और इसीलिए मेरे मन को कसकर ले चले—चमत्कार मुहाविरे का है। विनिमय की विषमता दुःख देकर सुख पाने तथा चित देकर चिन्ता के आदान-प्रदान में है। मन लेकर छटांक भी न लौटाना बेईमानी है, परन्तु

'मन' का श्लिष्टार्थ तथा 'छटा' का छटा+क अर्थ निकलने से पाठक चमत्कृत हो उठता है। यद्यपि इस प्रकार के कतिपय चमत्कार सहज नहीं माने जा सकते, फिर भी उनके सौन्दर्य को श्रम-साध्य भी नहीं घोषित किया जा सकता। ये चमत्कार घनानन्द की 'कविताई' का प्राण है।

पूर्वांश के जीवन में घनानन्द ने जो रचना की उसमें वेदना के साथ-साथ चमत्कार भी पर्याप्त है, परन्तु समस्त प्रयत्न सहज-सा ही लगता है—कम-से-कम वह मौलिक अवश्य है। कवि की टीस ने उसकी वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर दिया। और जहाँ-जहाँ उसकी दृष्टि पड़ी वहीं गहराई तक पहुँची। 'सुजान-हित' इसी प्रकार की कविता का संग्रह है। इसमें कहीं कोरी खीझ है तो कहीं मन बहलाने का प्रयत्न। ऐसा लगता है कि घनानन्द एकान्त में बैठे हुए अपनी विषम परिस्थिति पर सोचते रहते थे, संसार से आँख छिपाकर उन्होंने वियोग-सागर में गोते पर गोते खाये और अन्त में अमूल्य उक्ति-रत्न निकालकर वे किनारे से लगे। उनके इस जीवन में जो अनिवार्य साधना हो गई वह सरस्वती की वीणा को झंकृत करती रही। जीवन की विषमता के समान ही उनके इस काव्य में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की भी विषमता है, जो उसको चित्र-विचित्र सौन्दर्य प्रदान करती है।

अपने साहित्यिक जीवन के उत्तरार्द्ध में घनानन्द ने जो कविता लिखी उसका स्वर बदल गया और इसीलिए उसका स्वरूप भी भिन्न कोटि का है। कवि ने चिरकाल पर्यन्त सन्तप्त मन से क्रन्दन करके अब भगवान् की शरण ले ली और अपने दुःख को विस्तार देकर उसके निवारण की प्रार्थना भगवान् से करने लगा। उसका विश्वास है कि संसार में भटकने से कोई लाभ नहीं, जो कुछ मिला वह भगवान् का विशेष दान था, इसलिए उसकी कृपा का अवलम्ब ही विकल मन को शान्ति दे सकता है—

दौरि-दौरि थाक्यौ पै थके न जड़ दौरनि तें
गति भूलें मन को न दुरी कछू तोतें रे।
तातें ठौर दीजै याहि, सुधि लीजै मोदघन,
बूझियै न बिडरयौ अनाथ तोहि होतें रे।
हाय हाय रे अमोही हारि कै कहत हा-हा,
आय बनी अब हूँ है वही रचो जो तें रे।
आस-बिसवास दै असाधन हूँ साधि लै न,
साधन कृपा है और कहा सबै मोतें रे।
(कृपाकन्द, ६२)

जब कृपा पर इतना विश्वास जम गया तब संसार की समस्त वस्तुएँ व्यर्थ दिखाई पड़ने लगीं, जिसको अमूल्य पदार्थ मिल सकता है वह साधारण वस्तुओं का योग क्यों करेगा—

फीके सवाद परे सब ही अब ऐसो कछू रसपान कृपा को।
नीरस मानि कहै न लहै गति मोहि मिल्यौ सनमान कृपा को।

रीझनि सें भिजयो हियरा घनआनँद स्याम-सुजान-कृपा को।
मोल लियो बिन मोल, अमोल है प्रेम-पदारथ-दान कृपा को।
(कृपाकन्द, ८)

जिसकी कृपा से असम्भव वस्तुएँ भी सम्भव हो जाती हैं, उससे कुछ भी याचना की जा सकती है, परन्तु यदि माँगना है तो सामान्य वस्तुएँ क्यों, फिर कृपा-मात्र की ही याचना करनी चाहिए। इसलिए घनानन्द ने उद्वेग के स्थान पर शान्ति, व्याकुलता के स्थान पर विश्वास और हाय-हाय के स्थान पर प्रार्थना को अपने मन में स्थान दिया, सामान्य रूप के स्थान पर वे अनन्त रूपराशि पर रीझे और प्रेमी के रूप में आनन्द-घन के लिए तृषित चातक बन गये। यही उनका तीसरा जन्म मानो हो गया।

विचारधारा में ऐसा सर्वांगीण परिवर्तन आ जाने से घनानन्द बिल्कुल बदल गये; अब वे प्रेमी नहीं भक्त थे, वे साहित्यिक न रहे, साधक बन गये, उन्होंने परिस्थितियों से समझौता कर लिया और दुर्भाग्य को सौभाग्य समझने लगे। अब घनानन्द का समय और शक्ति क्रन्दन के स्थान पर गुण-कीर्तन या लीला-गान में उपयुक्त होने लगे। कविता अब भी होती थी परन्तु सहज वेदना के स्थान पर आरोपित विरह की, उपालम्भ अब भी दिये जाते थे परन्तु प्रेम-पात्र को नहीं 'सलोने स्याम' को, प्यास अब भी थी परन्तु भौतिक प्रेम की नहीं इष्टदेव की कृपा की, अभिलाषाएँ अब भी उद्दीप्त रहती थीं परन्तु रति-केलि की नहीं, रास-लीला की। घनानन्द का यह काव्य अपेक्षाकृत हीन कोटि का है; इसमें फलक विस्तृत हो गया है, अतः गहराई में कमी का अनुभव होता है, इसके उद्गार सहज नहीं साम्प्रदायिक हैं। कला की दृष्टि से इसमें वैविध्य तो मिलता है परन्तु उत्कर्ष नहीं, घनानन्द में उत्तुंगता के स्थान पर विस्तार आ गया है, उनकी उन्नति ऊर्ध्वमुखी नहीं पश्चोन्मुखी है।

इस परिवर्तन का सबसे स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण रूप तो विचारधारा में झलक रहा है—प्रेम के स्थान पर लीला-गान, मजाजी के बदले हकीकी। परन्तु कला में भी इसके संकेत स्पष्टतर हैं, यहाँ तक कि दोनों कविताएँ एक ही घनानन्द की हैं—इसमें सन्देह होने लगता है। कवित्त और सवैयों के स्थान पर कहीं पद, कहीं राग, कहीं चौपाइयाँ आ गई हैं। ब्रजभाषा छूट-सी गई और पंजाबी, खड़ी बोली और उर्दू सुलभ माध्यम दिखाई देने लगते हैं। इस वैविध्य में तारल्य है गाम्भीर्य नहीं। ऐसा लगता है कि कवि स्वानुभूति के स्थान पर प्रचार को उद्देश्य मानकर चला है। साहित्यिक उत्कर्ष के स्थान पर लोकोपयोगी नीरस आवृत्तियाँ मन को खिन्न कर देती हैं। स्तुतिपरक रचनाएँ उद्धार भले ही कर दें, पाठक को आनन्दित नहीं कर पातीं। चिराचरित सामग्री का परम्परायुक्त उपयोग प्रतिभा को कुण्ठित कर देता है, घनानन्द की इस उत्तरकालीन कविता से ऐसे ही निष्कर्ष निकलने लगते हैं। गुणोपेत काव्य के स्थान पर ये नीरस आवृत्तियाँ ऐसी ही समझिये जैसे कबीर के काव्य में साखियों के बदले पद-रमैनी आदि की साम्प्रदायिक रचनाएँ।

'कृपाकन्द' में परिवर्तन का प्रारम्भ है, 'रँगीली प्रीति'[1] का एकान्त आश्रय लेकर

---

1. 'नीरस रचनि बचाव रँगीली प्रीति सुरस पागौं। (५०)'

पुरानी बातों को भुला देना। कवि का मत है कि भगवान् के कृपा-रूपी अमोघ दान के लिए बुद्धि का वस्त्र[1] बड़ा जीर्ण-सा लगता है, उसको हृदय ही संकेल सकता है। 'वियोगवेलि' के गीत बगाली राग में रचे गये हैं, भाषा और भाव सरल एवं सामान्य हैं—

न न्यारो है, न न्यारी है, न न्यारी।
भई है प्रानप्यारे-प्रानप्यारी ॥७६॥

'इश्कलता' में पंजाबी और उर्दू का बहुत अधिक प्रभाव है। इसकी रचना तब हुई थी जब कवि का 'लगा इश्क ब्रजचंद सूँ'। इसकी भावशैली पर फारसी का भी पर्याप्त प्रभाव है, वही तड़पन, मारकाट और रक्तपात। एक सामान्य उदाहरण देखिए—

ब्रजमोहन घनआनंद जानी जद चस्मों विच आया है।
इस्क शराबी कीया मुजनूँ गहरा नसा पिलाया है।
तन मन और जिहान माल दी सुधि बुधि सबै बिसारी है।
महर-लहर ब्रजचंद यार दी जिंद असाडी ज्यारी है ॥४०॥

'यमुनायश' और 'प्रीतिपावस' में चौपाइयों में यश-वर्णन है। 'प्रेमपत्रिका' में लीलाओं का जो वर्णन है, वह 'विनयपत्रिका' की शैली पर है, कान्ह को पत्र लिखकर अपने प्रेम की सूचना दी गई है—यद्यपि मुख्यतः ब्रज-केलि की बार-बार चर्चा है, तुलसी ने 'विनयपत्रिका' दास्य भाव से लिखी थी, घनानन्द की 'प्रेमपत्रिका' में प्रीति का शासन है। 'प्रेम-सरोवर' ८ दोहों की पुस्तक है। 'ब्रजविलास' में 'श्री ब्रजमोहन-माधुरी' का वर्णन है। 'सरस वसन्त' में होली का सुन्दर वर्णन है, होली ब्रज का एक विशेष उत्सव रहा है, ब्रज साहित्य में इसीलिए इसका सर्वत्र समावेश है, घनानन्द में फाग के प्रति विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है। 'अनुभव-चन्द्रिका', 'रगबधाई', 'प्रेमपद्धति', 'वृषभानु पुर सुषमा वर्णन', 'गोकुलगीत' आदि सामान्य कोटि की रचनाएँ हैं, 'प्रेम-पद्धति' में रसखान की 'प्रेमवाटिका' के समान प्रेम वर्णन है। 'नाम माधुरी' जप-पुस्तक है, 'विचार-सार' सैद्धान्तिक रचना है। इसी प्रकार अन्य छोटी-छोटी रचनाओं में या तो लीला के क्षेत्रों, कालों या पात्रों का वर्णन है, या सिद्धान्त-प्रतिपादन है। घनानन्द जी के पद अलग से सग्रहीत हुए हैं। इस प्रकार उत्तरकालीन समस्त रचनाएँ इतनी सामान्य हैं कि घनानन्द की कला में उनसे अपकर्ष आता है, विकास दिखाई नहीं पड़ता, फिर भी इनका महत्त्व घनानन्द के कायाकल्प को ठीक-ठीक जानने के लिए निर्विवाद है।

घनानन्द के उभय प्रकार के काव्य पर विचार करते हुए आलोचक के मन में यह प्रश्न प्रायः उठता है कि क्या काव्य-कला का उत्कर्ष शान्ति की अपेक्षा उद्वेग में अधिक है और क्या साम्प्रदायिक प्रवाह में पड़कर मौलिक उद्भावनाएँ सूख जाती हैं। सामान्यतः जब मनोवेगों में ज्वार आता है तब व्यक्ति की स्थिति मनोमय कोष की उत्तुंग भूमि पर रहती है, सकल्प-विकल्पों का जन्म होता है, कल्पना के पार खुल

१. त्यों रतनाकर-दान-समै बुद्धि-जीरन-चीर कहा लै पसारौं। (१७)

जाते हैं, भावनाएँ नृत्य करने लगती हैं, इन्द्रियों के समस्त द्वार मनोराज के अधिकार में आ जाते हैं, जो रचना होगी वह मनोरम, मन के यन्त्र जितने तीक्ष्ण होते जायेंगे, उतनी ही प्रभावशालिनी मूर्तियाँ रच सकेंगे। परन्तु जब मन के स्थान पर ज्ञान का शासन आ जाता है तब कल्पना के स्थान पर चिन्तन, भावना के स्थान पर विवेक, और मनोहर के स्थान पर विवेकपूर्ण कृतियाँ जन्मने लगती हैं—यह दर्शन का क्षेत्र है, काव्य का नहीं। यही कारण है कि यौवन की उमग में रचित साहित्य भावराशि के उद्दाम लास्य से लाञ्छित रहता है, परन्तु धीरे धीरे अनुभव की पाठशाला में दीक्षित होकर जब प्रौढ़ता आ जाती है तो सर्वप्रथम उसका प्रहार उस वेदना और कसक पर होता है, घोर शृंगारी कवि भी जरा की गोद में खेलते हुए विवेकपूर्ण रचनाएँ करने लगते हैं, शरीर यौवन-लौह की अवगुण्ठना से निश्चल, और दृढ बना हो तो उसके भीतर रहनेवाला मन चचल, भीरु और कोमल रहता है, परन्तु काल के कोप से जर्जर एव कम्पित कलेवर में निवास करनेवाला मन दृढ, शान्त तथा गम्भीर हो जाता है। तन और मन की विपरीत दशा का संयोग बड़ा विचित्र है, मन की उछल-कूद उस खुराक पर निर्भर है जो उसे तन से मिलती है। तुलसी आदि के काव्य में मन की वह क्रीडा अन्त तक बनी रही, इसका कारण उनका आलम्बन है, सासारिक आलम्बन जितना अस्थिर है उतनी ही अस्थिर उसके प्रति हमारी भावना होगी, इसीलिए भक्त कवि अनन्त, अपार के प्रति अपने मन को अनुरक्त किया करते हैं।

घनानन्द का काव्य हिन्दी-जगत् में एक विशेष महत्त्व का अधिकारी है, परन्तु दीक्षा से पूर्व का काव्य ही, उत्तरकालीन नहीं। इस काव्य की सहजानुभूति तथा मार्मिक अभिव्यक्ति घनानन्द को अपने क्षेत्र में उच्चतम स्थान दिला सकती है। स्वकीय उद्वेग का तथैव प्रकाशन करनेवाले कलाकारों में वे मुकुटमणि हैं। हिन्दी के प्राचीन काव्य में व्यक्तिगत रचनाएँ कतिपय ही हैं, और जो उस प्रकार की लगती भी हैं उनमें भक्त कवि समाज का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है, क्योंकि उसका आलम्बन सबका आलम्बन हो सकता है, शृंगार काल के कवियों ने जो व्यक्तिगत हृदय-सम्बन्ध की रचनाएँ की हैं, वे घनानन्द की रचना के समक्ष नीरस लगती हैं, क्योंकि घनानन्द के प्रेम में एक तूफान की शक्ति है, उससे समस्त विश्व आच्छादित एव प्रकम्पित हो जाता है। वस्तुत: वह एकपक्षीय अत: असफल प्रेम भी धन्य है जो समर्पणमूला शान्ति की कामना न करके विद्रोहात्मक उद्वेग में उबलता रहा और जिसकी बाष्प ने काव्य को वे उच्छ्वास प्रदान किये जिनका स्पर्श आज भी हृत्तल को कम्पित कर सकता है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

विवेच्य ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रस्तुत रचना में जिन पुस्तकों से सहायता ली गई है उनकी सूची उपयोग-क्रमानुसार नीचे दी जाती है, विवेच्य ग्रन्थ यथास्थान देखने चाहिएँ।

(क) संस्कृत

१. सिद्धान्त कौमुदी
२ काव्यालंकार (भामह)
३ काव्य प्रकाश
४. विक्रमोर्वशीयम्
५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्
६ कादम्बरी
७. रघुवंशम्
८ साहित्यदर्पण
९. उपमिति-भवप्रपञ्च कथा
१० पञ्चतन्त्र
११ अमरकोश
१२. नीतिशतकम्
१३. बृहदारण्यक उपनिषद्
१४ मुण्डकोपनिषद्
१५ श्वेताश्वतरोपनिषद्
१६ कठोपनिषद्
१७. गीतगोविन्दम्
१८ कुमारसम्भवम्
१९. वासवदत्ता
२० नलचम्पू
२१ नैषधम्
२२ प्रसन्नराघवम्
२३. हनुमन्नाटकम्
२४. रामायणम्

२५. नाट्यशास्त्रम्
२६. श्रीकृष्णकर्णामृतम् (लीला शुक)

(ख) हिन्दी

१ सतसई (बिहारी)
२ रसराज (मतिराम)
३. प्रवासी के गीत (नरेन्द्र शर्मा)
४. यामा (महादेवी वर्मा)
५ हिन्दी-अलंकार-साहित्य (ओम्प्रकाश)
६ चिन्तामणि, २ भाग (रामचन्द्र शुक्ल)
७ कविप्रिया (केशवदास)
८. आलोचना की ओर (ओम्प्रकाश)
९. भ्रमर-गीत-सार (रामचन्द्र शुक्ल)
१० कबीर-वचनावली
११ रसखान और घनानन्द
१२ हिन्दी काव्यधारा (राहुल सांकृत्यायन)
१३. मध्यकालीन धर्मसाधना (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
१४ चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रसाद)
१५ द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ
१६ सुजान-चरित (सूदन)
१७ अपभ्रंश-साहित्य (हरिवंश कोछड़)
१८ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (रामकुमार वर्मा)
१९ प्राचीन भारत की कहानियाँ (जगदीशचन्द्र जैन)
२० अर्द्धकथा (बनारसीदास जैन)
२१ उर्दू साहित्य का इतिहास (ब्रजरत्नदास)
२२ भाषाभूषण (जसवन्तसिंह)
२३ आखिरी कलाम (जायसी)
२४. नाथ-सम्प्रदाय (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
२५. पुरातत्व-निबन्धावली (राहुल सांकृत्यायन)
२६. सूफी-काव्य-संग्रह (परशुराम चतुर्वेदी)
२७. हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय (पीताम्बरदास बर्थ्वाल)
२८ विचार और वितर्क (हजारीप्रसाद द्विवेदी)
२९. सन्त तुकाराम (हरि रामचन्द्र दिवेकर)
३०. भावना और समीक्षा (ओम्प्रकाश)

३१. कबीर (हजारीप्रसाद द्विवेदी)।
३२. प्रेमवाटिका (रसखान)
३३ तुलसी-ग्रन्थावली
३४. मानसरहस्य (सरदार कवि)
३५. तुलसी-भूषण (रसरूप)
३६. केशव-पञ्च-रत्न (भगवानदीन)
३७ रसिकप्रिया (केशवदास)
३८ कवित्त रत्नाकर (सेनापति)
३६ मीरां-माधुरी (स० ब्रजरत्नदास)
४० बिहारी-रत्नाकर

(ग) अंग्रेजी

१ एन इन्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ लिटरेचर (हडसन)
२ पोइटिक्स (अरिस्टोटल)
३ स्टडीज ऑन सम कन्सेप्टस आफ दि अलंकारशास्त्र (राघवन)
४ हिस्ट्री आफ इण्डिया (ईश्वरीप्रसाद)
५ इन्फ्लुएन्स ऑफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर (ताराचन्द)
६ हिस्ट्री ऑफ मेडिवियल इण्डिया (ईश्वरीप्रसाद)
७ दि फाउण्डेशन आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया (हबीबुल्लाह)
८ धनबरूनीज इण्डिया (सं० एडवर्ड सी० साचू)
६. सद्धम्म संगह (अनु० बी० सी० लौ)
१० मिस्टिक टेल्स आफ लामा तारानाथ (भूपेन्द्रनाथ दत्त)
११ हिन्दू कालोनीज इन दि फार ईस्ट (आर० सी० मजूमदार)
१२ ग्राइन्ड लैंग्वेजिज एण्ड देयर कन्ट्रीब्यूशन टु इण्डियन कल्चर (एस० एम० कात्रे)
१३ एन इन्ट्रोडक्शन टु पंजाबी लिटरेचर (मोहनसिंह)
१४ ओरेबियन नाइट्स
१५ लेक्चर्स आन दि एनशिएन्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया (डी० आर० भण्डारकर)
१६ ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म (बी० सी० लौ)
१७ बुद्धिज्म एण्ड अशोक (बी० जी० गोखले)
१८ ग्रेटर इण्डिया (आर० सी० मजूमदार)
१६ साउथ इण्डियन इन्फ्ल्यूएन्सेज इन दि फार ईस्ट (के० ए० नीलकंठ शास्त्री)
२० स्टडीज इन मेडीवल रिलीजन एण्ड लिटरेचर आफ उड़ीसा (चित्तरंजनदास)

(घ) बगाली

१. बगभाषा भो साहित्य (दीनेशचन्द्र सेन)
२ रामायण (कृत्तिवास)
३ जातक (ईशानचन्द्र घोष)
४ बग साहित्य परिचय (दीनेशचन्द्र सेन)
५ बाग्ला साहित्येर कथा (सुकुमार सेन)
६ सरल बाग्ला साहित्य (दीनेशचन्द्र सेन)
७ प्राचीन बाग्ला साहित्येर कथा (तमोनाशचन्द्र दास गुप्त)
८ प्राचीन बग साहित्य (कालिदास राय)
९ विद्यापति चण्डीदास ओ अन्यान्य वैष्णव महाजन गीतिका (चारुचन्द्र वन्द्योपाध्याय)
१० वैष्णव साहित्य (सुशीलकुमार चक्रवर्ती)
११ बाग्ला साहित्येर भूमिका (नन्दगोपाल सेनगुप्त)

(ङ) अन्य

१. अपभ्रंश रामायण (स्वयम्भू)
२ महापुराण (पुष्पदन्त)
३ थूलिभद्दफागु (जिनपद्मसूरि)
४. सन्देशरासक (अब्दुर रहमान)
५ तिरुक्कुराल (तिरुवल्लुवर)
६. महावंश (अनु० भ० आ० कौसल्यायन)
७ सरस्वती (मासिक पत्रिका)
८ हिन्दी अनुशीलन (त्रैमासिक पत्र)
९ साहित्य-सन्देश (मासिक पत्र)

हृदय को फँसाने का पाश काम में आता है केश-पाश, यह यौवन का प्राकृत शृंगार है, शृंगारी कवियों के मन प्रायः युवती के कटाक्ष से मर्माहत होकर, उसके केश-पाश में जकड़े हुए, उन्नत स्तनों की चोटी से पटके जाकर, अनन्त काल तक नाभि-कूप में पड़े-पड़े यातनाएँ सहते रहे हैं। यदि युवती की केश शिखा दीपशिखा है तो अजन उस दाहक की कालिमा है] तुलसी ने इन दोनों कालिमामय वस्तुओं को नेत्रों का सबसे बड़ा दाहक माना है, सन्यासी-स्त्रियाँ सर्वप्रथम नेत्रों से अजन तथा सिर से केश का ही त्याग करती थीं। आनन पर दिव्य आभा भी हो सकती है, नेत्रों में सात्विक दया तथा करुणा आदि भी विद्यमान रह सकते हैं, परन्तु नागराज के वशज केश तो केवल मोह उत्पन्न करते हैं। 'कान्ता-कटाक्ष-विशिख'[1] का अद्भुत प्रभाव अनेक नीतिकारों का वर्ण्य विषय रहा है। ध्यान रखना होगा कि सन्यासी तुलसी ने युवती या उसके किसी अग की समानता जब किसी घातक या दाहक वस्तु या पदार्थ से बतलाई है तो उनके सामने सामान्य युवती का चित्र है, युवती-विशेष का नहीं, अर्थात् उनकी कल्पना कौशल्या जैसी माता तथा सीता जैसी पत्नी की सृष्टि करती है और उनके प्रति अमित श्रद्धा और सम्मान उँडेल देती है, परन्तु फुटकल स्त्रियों—अप्सराओं, निशाचरियों आदि—के गुणगान वे न कर सकते थे, विदेशी शासन के उस विलासी वातावरण को वाममार्गियों की सास्कृतिक परम्परा प्राप्त हुई और सरस्वती, लक्ष्मी तथा दुर्गा रूप के नितान्त अभाव में नारी का केवल कामिनी रूप ही अवशेष रह गया, अतः यह आवश्यक हो गया कि जब तक नारी अपने उच्च पद को पुनः प्राप्त न कर ले तब तक उसके विकृत नारीत्व से राष्ट्र को बचाया जाय, तुलसी आदि ने कामिनी के मायक रूप से इसी हेतु घृणा की है और नारी के दुष्ट स्वरूप का चित्रण किया है, अनुभव से सिद्ध है कि पतनोन्मुख राष्ट्र का सबसे प्रबल अभिशाप नारी ही है, नारी स्वस्थ को अधिक शक्तिमान् परन्तु निर्बल को नितान्त बलहीन बना देती है। वस्तुतः उसका व्यक्तित्व राष्ट्र की सामयिक विशेषता पर निर्भर है—राष्ट्रविशेष प्राप्य भवति योग्या अयोग्या च।

अस्तु, 'विनयपत्रिका' के काव्य-सौन्दर्य में पाठक का ध्यान उन दृष्टान्तों पर भी जाना है जिनका मूल उद्गम दर्शन-शास्त्र है, कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

(क) जग-नभवाटिका रही है फलि फूलि, रे।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे ॥६६॥

(ख) धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की।
नहि तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार-बस छति बिसारि आनन की ॥६०॥

---

१ कान्ता-कटाक्ष-विशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्त न निर्दहत कोप-कृशानु-ताप ।
कर्षन्ति भूरि विषयाश्च न लोभपाशै
लोकत्रय जयति कृत्स्नमिद स धीरः॥ (भर्तृहरि)

(ग) अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यौं भरि मुख पकरयौ।
तिज तालुगत रुधिर पानि करि मन सन्तोष धरयौ ॥९२॥

(घ) घृत पूरन कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिंब दिखावे।
ईंधन अनल लगाइ कलप सत औटत नास न पावे।
तरु-कोटर महँ बस विहँग, तरु काटे मरे न जैसे।
साधन करिय विचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥११५॥

(ङ) वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भवपार न पावे कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई ॥१२३॥

इन दृष्टान्तों की प्रथम विशेषता यह है कि इनका उपयोग 'विनयपत्रिका' के उस भाग में हुआ है जहाँ, स्तुति का अवसान हो जाता है और फलत उपरिकथित रूपक सौन्दर्य की आवश्यकता नहीं रहती। दूसरी विशेषता इनका दार्शनिक स्वरूप है, कवि को ये काव्य-परम्परा से नहीं दार्शनिक वातावरण से प्राप्त हुए हैं। किसी-न-किसी प्रकार से माया या अज्ञान ही इनके प्रस्तुत विषय हैं, और 'पत्रिका' में इनकी आवृत्ति नहीं हुई। जिस भाषा में ये व्यक्त हुए हैं वह इस बात का प्रमाण है कि कवि ने मननपूर्वक इनको स्वयमागत तथा अनिवार्य रूप में ग्रहण किया है, ये भार-स्वरूप या बौद्धिक मात्र नहीं प्रतीत होते। इसमें सन्देह नहीं कि इन दृष्टान्तों का आदि उद्गम लोक-जीवन से ही हुआ था परन्तु शनै शनै दार्शनिकों ने अपनाकर इनको उच्च स्तर प्रदान कर दिया, तब से ये विशेष समाज में आदरास्पद बन गये। तुलसी में लोक-जीवन के सामान्य मौलिक दृष्टान्त कम ही हैं—

(क) करम वचन हिये कहौं न कपट किये,
ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परे सन की ॥७५॥

(ख) जो श्रीपति-महिमा बिचारि उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार-द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए ॥१६८॥

चमत्कारी आलोचक 'पत्रिका' में साहित्यिक-मात्र सौन्दर्य की प्रशंसा किये बिना न रहेगा, तुलसी जैसे महान् साहित्यसेवी के लिए यह सम्भव न था कि शुद्ध परमार्थिक काव्य में वे आलंकारिक आभा की नितान्त अवहेलना कर देते। "बावरो रावरो नाह, भवानी", "जो निज मन परिहरै बिकार", "अब लौं नसानी, अब न नसैहौं", "केशव, कहि न जाइ का कहिए" आदि पदों का चमत्कार निश्चय ही अपूर्व है। ध्यान देने पर स्तुत-परक अंश में शब्दों के बड़े मनोहर चमत्कार मिलते हैं, प्राय एक ही वर्णन का सविनय आग्रह किसी प्रच्छन्न योजना का सूचक है, इस दृष्टि से पद संख्या ५६ को देखा जा सकता है, 'द', 'म', 'व', 'स', 'नि' 'म', 'क, आदि के पर्त्त रोचक तो हैं ही, इनके मूल में कोई सैद्धान्तिक गहराई भी अवश्य खोजी जा सकती है, सम्भव है इस चमत्कार पर तान्त्रिक प्रभाव हो या मान्त्रिक रुचि व्यक्त हो गई हो, तुलसी ने उन सभी का मनन तो किया ही था।

'विनयपत्रिका' तुलसी की सबसे उत्कृष्ट रचना है, व्यक्तित्व के आन्तरिक तथा बाह्य पक्षों का जितना अधिक सौन्दर्य इस रचना में है उतना किसी दूसरी में नहीं।